प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में कारणता के सिद्धान्त का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन

(A comparative and analytical study of the theory of causality in the history of eastern and western philosophy)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशिका
डा० मृदुला आर० प्रकाश
अध्यक्ष, दर्शनविभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्ता
अनन्त कुमार यादव
प्रवक्ता - दर्शनशास्त्र
इन्स्टीट्यूट आफ ओरियन्टल फिलोसोफी
वृन्दावन, मथुरा

forwarded 5/8/03

जुलाई - २००३

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **अनन्त कुमार यादव** मेरे निर्देशन मे **"प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में कारणता के सिद्धान्त का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन"** विषय पर शोध कार्य किये है। साथ ही यह भी प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध इनकी मौलिक कृति है। मै इनके गरिमामय एव सुनहरे भविष्य की कामना करती हूँ।

निर्देशिका

Mridula R Prakash

डा0 मृदुला आर0 प्रकाश
अध्यक्ष, दर्शनविभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

आमुख

जिज्ञासा मानव की ऐसी सहज प्रवृत्ति है, जो उसे निरन्तर अपने **चतुर्दिक दृश्यमान** जगत को जानने तथा समझने के लिये प्रेरित करती रहती है। मनुष्य न केवल अपने सम्मुख प्रस्तुत वाह्य जगत को समझने का प्रयास करता है, अपितु उसकी जिज्ञासा जगत मे होने वाले सूक्ष्म–परिवर्तनो एव व्याप्त साम्य–वैषम्य के रहस्य को जानने के लिये भी उसे निरन्तर प्रयत्नशील बनाये रखती है। वस्तुत **कभी तो** यह परिवर्तन स्वत उत्पन्न प्रतीत होता है, जैसे हिम का पिघलकर नदियो के जल के रूप मे प्रवाहित होना, सूर्य का चमकना तथा प्रकाश को बिखेरते हुये ठण्डक व तिमिर का निराकरण करना, वनस्पतियो का उगना और माधुर्य युक्त कलियो का खिलना आदि, **तो कभी** यह परिवर्तन किसी सक्रिय अभिकर्ता के द्वारा उत्पन्न किया गया प्रतीत होता है, जैसे जुलाहे द्वारा तन्तुओ को ताना–बाना इत्यादि की सहायता से वस्तु मे परिवर्तित करना, कुम्भकार द्वारा चाक की सहायता से मिट्टी के घडे मे परिवर्तित करना और तरूणी द्वारा पुष्प–कलियों को गूँथकर हार बनाना आदि। साथ ही यह परिवर्तन कभी तो इतनी तीव्रगति से होता है कि हम उसे घटित होते हुये देखते व अनुभव करते है और कभी इतनी मन्दगति से होता है कि उसे हम घटते हुये अनुभव नही करते एवं कालान्तर मे ही उसके सम्पूर्ण होने का अनुमान लगाते है।

ध्यातव्य है कि एक सामान्य व्यक्ति इन परिवर्तनो के विषय में उतना सचेष्ट नही रहता और बिना विशेष विचार किये ही इन्हे ज्यो का त्यो स्वीकार कर लेता है। फिर भी यदि उससे पूछा जाय कि यह परिवर्तन क्यो होता है तो उसका सम्भावित उत्तर यही होगा कि – "यह कुछ कारणों से होता है"। यानि किसी सक्रिय अभिकर्त्ता की निष्क्रिय वस्तुओ पर क्रिया के फलस्वरूप यह परिवर्तन होता है, जिसके कारण ये वस्तुयें आकारगत हो जाती है। किन्तु

साधारण मनुष्य के इन विचारों पर जब सूक्ष्म चिन्तन एव अनुशीलन किया जाता है तो हमारे सामने **'कारणता की अवधारणा'** से सम्बन्धित गम्भीर समस्याएँ प्रस्तुत होती है। स्पष्टत ये समस्याएँ दर्शन की केन्द्रीय समस्या है तथा इसके आधार पर किसी भी दर्शन के 'मूलभूत अभ्युपगम' को जाना जा सकता है। चूँकि मै भी दर्शन का एक अध्येता हूँ, इसलिये इस पर सामान्य चिन्तन, सहज व स्वाभाविक ही था।

मेरे द्वारा कारणता सिद्धान्त को शोध का विषय बनाने के पीछे दो मूलभूत कारण थे – **पहला** दर्शन के सामान्य अध्ययन के दौरान मैने यह पाया कि कारणता जैसी महत्वपूर्ण समस्या पर कोई पूर्ण ग्रन्थ नही है। पूर्णग्रन्थ से मेरा तात्पर्य यह है कि "ऐसा ग्रन्थ जिसमे प्राच्य एव पाश्चात्य दोनों दर्शनो के कारणता विषयक मतो का तुलनात्मक व विश्लेषणात्मक विवेचन हो।" इसलिए इस विषय पर शोध करने से इस समस्या से सम्बन्धित समस्त **'प्रकीर्ण सामग्री'** को वैज्ञानिक व व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने का अवसर प्राप्त हुआ। **द्वितीय** : चूँकि मेरा मानना है कि **'कारणता का विचार'** प्रथम मानव चिन्तन से सम्बद्ध विचार है (परोक्ष या अपरोक्ष रूप से), इसलिये इस समस्या के प्रति गहन चिन्तन व शोध कार्य करना मेरे लिये स्वाभाविक ही था। वस्तुत इन्हीं दो कारणो से मै कारणता–सिद्धान्त पर शोध करना चाहा। अस्तु, कालान्तर मे जब शोध कार्य हेतु विषय निर्धारण का समय आया तो मैने – **"प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में कारणता के सिद्धान्त का तुलनात्मक-व विश्लेषणात्मक अध्ययन"** – विषय पर शोध कार्य करने का प्रस्ताव किया जिसे मेरी निर्देशिका महोदया ने खुशी–खुशी स्वीकृति प्रदान कर दी।

उल्लेखनीय है कि मेरा यह शोध ग्रन्थ तीन खण्ड और ग्यारह अध्याय मे विभाजित है। पहला अध्याय भूमिका है जिसके अन्तर्गत विषय का अर्थ, महत्व और विषय का विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद खण्ड (अ)

प्रारम्भ होता है, जिसके अन्तर्गत अध्याय दो, तीन, चार, पॉच और छ समाविष्ट है। अध्याय दो मे अकारणवाद को विवेचित करते हुये इसके तीन प्रकारो – (कालवाद, स्वभाववाद, आकस्मिकवाद) का सम्यक् निरूपण किया गया है। अध्याय तीन मे सत्कार्यवाद है, जिसको प्रकृतिपरिणामवाद, ब्रह्मपरिणामवाद और विवर्तवाद मे विभाजित कर विश्लेषित किया गया है। जबकि अध्याय चार मे असत्कार्यवाद, पॉच मे सदसत्कार्यवाद और छ में असत्कारणवाद (प्रतीत्यसमुत्पाद) का विस्तृत विवेचन व पर्यवेक्षण किया गया है। तत्पश्चात् खण्ड (ब) प्रारम्भ होता है, जिसके अन्तर्गत अध्याय – सात, आठ और नौ समाविष्ट है। अध्याय – सात मे पाश्चात्य दृष्टि से कारणता का सामान्य विवेचन किया गया है। अध्याय – आठ **"प्राचीन व आधुनिक मत"** है जिसमे मुख्य रूप से अरस्तू, ह्यूम, मिल और काण्ट के मतो का विश्लेषण किया गया है। जबकि अध्याय नौ "समकालीन मत" है जिसके अन्तर्गत **ब्रेडले, ए.ई. टेलर, ए.सी. ईविंग, एल.एस. स्टेबिंग, एस. अलेक्जैन्डर, सी.डी. ब्राड और बर्ट्रेन्ड रसेल** के विचार उद्धृत है। किन्तु इस अध्याय मे विस्तृत विवेचन ब्रेडले , ए.सी. ईविग और बर्ट्रेण्ड रसेल का ही किया गया है क्योकि शोध ग्रन्थ की एक विस्तार सीमा होती है। तदुपरान्त खण्ड (स) प्रारम्भ होता है, जिसके अन्तर्गत अध्याय दस और ग्यारह समाविष्ट है। अध्याय दस "भारतीय व पाश्चात्य मतो का तुलनात्मक विवेचन" है। जबकि अध्याय ग्यारह 'उपसहार' है, जिसमें समस्त विवेचन व विश्लेषण का निचोड और कुछ अपने मौलिक मत को अभिव्यक्त किये है। ज्ञातव्य है कि खण्ड (अ) मे प्राच्य मत, खण्ड (ब) मे पाश्चात्य मत और खण्ड (स) में प्राच्य एव पाश्चात्य मतों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

और इस ग्रन्थ के परिचयात्मक विवेचन के बाद सर्वप्रथम अपने **पूज्यनीय पिता श्री भरथ प्रसाद यादव और ममतामयी माँ श्रीमति दुलारी यादव,**

जिनके स्नेहिल आशीर्वाद एव आशीष से ही मै इस ग्रन्थ के प्रणयन योग्य हो सका, को मेरा कोटि–कोटि चरणस्पर्श । साथ ही अग्रज श्री जयन्त कुमार यादव, जिनके प्रेरणादायी निर्देश से ही उच्च–अध्ययन की ओर उन्मुख हुआ और अनुज श्री अरविन्द कुमार यादव, जिनके साथ हुये साहित्यिक विमर्श की छाप इस ग्रन्थ पर देखी जा सकती है – का मै अति कृतज्ञ हूँ।

इसी क्रम मे, मै शोध–प्रबन्ध की निर्देशिका **महोदया डा0 मृदुला आर0 प्रकाश** (अध्यक्ष दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होने शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत करने मे सदैव ही कुशल मार्गदर्शन किया एव परिस्थितियो की विषमता के बावजूद अपने स्नेह व ज्ञान से अभिसिचित करते हुये निरन्तर अपनी सह उपस्थिति का अवबोध कराया है।

तदुपरान्त मै श्रद्धेय गुरूवर प्रोफेसर (स्व0) सगम लाल पाण्डेय, प्रोफेसर आर0 एल0 सिह एव प्रोफेसर डी0 एन0 द्विवेदी का आभार किन शब्दो मे व्यक्त करूँ समझ से परे लगता है, क्योकि आपकी ही छत्रछाया मे बैठकर दर्शन की कुछ महत्वपूर्ण गुत्थियो को समझने का मौका मिला। साथ ही मै डा0 जटाशकर त्रिपाठी (रीडर दर्शन विभाग) और डा0 हरिशंकर उपाध्याय (रीडर दर्शन विभाग) का ह्रदय से आभारी हूँ, क्योंकि आपका आशीर्वाद सिर्फ शोध–प्रबन्ध के प्रणयन में ही नही रहा बल्कि ऐसे प्रत्येक समय जब मुझे सहयोग व आशीर्वाद की जरूरत थी – पूरी सजीदगी से मिला। इसीप्रकार डा0 नरेन्द्र सिह, डा0 गौरी चट्टोपाध्याय, एव डा0 आशालाल का भी मै अत्यन्त आभारी हूँ। क्योकि आप सभी का आशीर्वाद किसी न किसी रूप मे सदैव मिलता रहा है। तत्पश्चात् मै, डा0 शिवभानु सिह (दर्शन विभाग, इविंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद) और डा0 ऋषिकान्त पाण्डेय (दर्शन विभाग, इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद) का आभार व्यक्त करता हूँ जिनका सहयोग एवं परामर्श हमेशा मिलता रहा है।

मै, डा0 उमाकान्त यादव (रीडर, सस्कृत विभाग) को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होने अपने मित्रवत् स्नेह से हमे कदम दर कदम आगे चलने की प्रेरणा दी। इसीक्रम मे मै डा0 जे0 आर0 यादव (अध्यक्ष, दर्शन विभाग इन्स्टीट्यूट आफ ओरियन्टल फिलोसोफी, वृन्दावन) का हृदय से आभारी हूँ जो इस शोध–प्रबन्ध को शीघ्र पूरा करने के लिये सदैव प्रेरित करते रहे। साथ ही डा0 एस0 एस0 यादव (अध्यक्ष, भूगोल विभाग के0आर0 कालेज, मथुरा) का मै हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होने इस ग्रन्थ के गठन से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये।

उन सभी पुस्तकालयो के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ, जिनके सहयोग से ही मुझे दुर्लभ पुस्तके यथासमय प्राप्त हो सकी। इस क्रम मे केन्द्रीय पुस्तकालय भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद लखनऊ, केन्द्रीय पुस्तकालय इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद, केन्द्रीय पुस्तकालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, केन्द्रीय पुस्तकालय इन्स्टीट्यूट आफ ओरियन्टल फिलोसोफी वृन्दावन और अखण्डानन्द पुस्तकालय वृन्दावन –– का मै विशेष आभारी हूँ। साथ ही मै उन समस्त विद्वानो व मनीषियो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी रचनाओ से जाने–अनजाने लाभ उठाया।

अन्त मे, मै अपनी "दीर्घ मित्रमण्डली" को कोटिश धन्यवाद देता हूँ, जिनके सहयोग के बिना न तो कोई ज्ञान सम्पादन हो सकता है और न ही, जीवन को रसात्मकता के साथ जिया जा सकता है। अन्तत मै उस ज्ञान परम्परा के प्रति नतमस्तक हूँ, जिसके द्वारा समस्त चिन्तन–मनन सम्भव हो पाता है।

प्रयाग
सोमवार
7 7 2003

अनन्त कुमार यादव
अनन्त कुमार यादव
प्रवक्ता दर्शनशास्त्र
इन्स्टीटूयट आफ ओरियन्टल फिलोसोफी,
वृन्दावन, मथुरा

विषयानुक्रम

अध्याय–१
भूमिका

कहा जाता है कि एक बार **न्यूटन** एक बाग मे बैठा था तभी सहसा एक फल टूटकर उसके सिर के ऊपर गिर पडा। तत्पश्चात् न्यूटन के मस्तिष्क मे यह प्रश्न उठा कि आखिर यह फल नीचे की ओर (मेरे सिर पर) ही क्यो गिरा ? क्यो नही ऊपर की ओर गया ? यह घटना सम्भवत न्यूटन के प्रारम्भिक जीवन की थी किन्तु आगे चलकर इन प्रश्नो का समाधान करते हुये वह गुरूत्वाकर्षण का नियम प्रस्तुत करता है। वस्तुत प्रस्तुत सन्दर्भ मे महत्वपूर्ण बात यह है कि न्यूटन के मस्तिष्क मे उठा यह प्रश्न कि – "फल नीचे की ओर क्यो गिरा ?" – कारणता से जुडा हुआ प्रश्न है। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त मानवीय चिन्तन, ज्ञान, व विज्ञान के मूल मे कारणता का विचार अवश्यम्भावी रूप से विद्यमान है।

यही नही, आदिम अवस्था मे मनुष्य ने जो पहला चिन्तन किया होगा वह अनिवार्य रूप से कारणता से सम्बन्धित रहा होगा। इस प्रकार मानवीय चिन्तन के इतिहास मे कारणता सिद्धान्त की भूमिका का अपना विशिष्ट महत्व है। वास्तव मे जगत मे व्याप्त साम्य वैषम्य एव विविधता को देखकर मानव की परिमित बुद्धि आश्चर्य चकित हो उठती है और उसमे स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यह अनन्त विराट जगत क्या है ? कैसे बना है ? इसमे दृष्टिगत परिवर्तन व विकास का मूल उद्गम क्या है ? यह जगत अनादिकाल से एक रूप अथवा परिवर्तनशील है ? इसकी उत्पत्ति किसी अद्भुत व्यक्तित्व प्राप्त चेतन सत्ता से हुयी है अथवा कोई ऐसा मूलतत्व है जो इस जगत मे स्वय को अभिव्यक्त करता है ? सृष्टि एव स्रष्टा का सम्बन्ध क्या है ? क्या जगत मे दृष्टिगत विविधता व विचित्रता की पृष्ठभूमि मे किसी शाश्वत् नियम की व्याख्या की जा सकती है ? वस्तुत इस प्रकार की

जिज्ञासाये मानव मस्तिष्क को प्रारम्भ से ही उद्वेलित करती रही है। प्राचीन काल मे मानव ने अपनी सहज बुद्धि की सहायता से इन जिज्ञासाओ की तुष्टि का प्रयास किया और इसके पीछे किसी 'रहस्यात्मक शक्ति' (दैवी शक्ति) के होने की सभावना व्यक्त की। किन्तु जैसे –2 मानव मे तर्क करने की क्षमता का विकास हुआ तथा साथ ही प्रकृति का परीक्षण व निरीक्षण करने मे सक्षम हुआ, वैसे–2 वह जगत मे व्याप्त परिवर्तन व साम्य–वैषम्य की व्याख्या तार्किक व वैज्ञानिक ढग से करने लगा। इस प्रकार प्राकृतिक घटनाओ के निरीक्षण से उसे यह ज्ञात हुआ कि प्रकृति मे सर्वत्र एक व्यवस्था एव एकरूपता है। यहॉ कोई भी घटना अकारण अस्तित्व मे नही आती और न ही कोई परिवर्तन अकारण होता है। अत प्रत्येक घटना के पीछे किसी न किसी कारण को स्वीकार करना विचारशील मनीषा की अनिवार्यता बन गयी। इसी अनिवार्यता को कारणता–नियम के नाम से जाना जाता है। उल्लेखनीय है कि ज्ञान के क्षेत्र मे कारणता की धारणा से ही जादू–टोना व तन्त्रमन्त्र समाप्त होता है और सुव्यवस्थित अन्वेषण का युग प्रारम्भ होता है।[1]

१.१ विषय का अर्थ :

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का विषय है – **"प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में कारणता के सिद्धान्त का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन"।** इस विषय में प्रयुक्त प्राच्य शब्द का अर्थ है – पूर्व (कभी–2 इसका एक अन्य अर्थ प्राचीन भी लिया जाता है) और **पाश्चात्य** शब्द का अर्थ पश्चिम है। इस प्रकार यह शोध विषय पूर्वी एव पश्चिमी–दोनो दार्शनिक क्षेत्र से सम्बद्ध है। इसीप्रकार **इतिहास** शब्द का प्रस्तुत सन्दर्भ मे मूल अर्थ यह है कि विवेचित समस्या की रूपरेखा का चित्रण – प्राचीन, आधुनिक एव समकालीन – तीनो काल परिदृश्यों मे समग्र रूप से होना चाहिये। जबकि शोध–विषय मे प्रयुक्त **तुलनात्मक** शब्द समस्या के बारे मे पूर्वी एव पश्चिमी मतो का साथ–साथ

---

1. मानविकी परिभाषा कोष (दर्शन खण्ड), पृष्ठ – 38

तुलना करते हुये विवेचित करने का निर्देश देता है। इसी प्रकार विश्लेषणात्मक शब्द इस बात को इगित करता है कि समस्या का स्वरूप सैद्धान्तिक व बौद्धिक है। साथ ही साथ यह शब्द इस बात को भी सूचित करता है कि समस्या को तोड करके अलग–अलग कोणो से देखा जाय, जिससे कि इसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो सके। जबकि **'अध्ययन'** शब्द का अर्थ शोध विषय से सम्बद्ध सम्पूर्ण विवेचना व चिन्तन को सुव्यवस्थित एव सम्पूर्णता प्रदान करना है जिससे यह ध्वनित हो सके कि समस्या का वास्तविक अर्थो मे निरूपण व स्पष्टीकरण हुआ है। ज्ञातव्य है ''**दर्शन**' शब्द का अर्थ है – 'सत्य का साक्षात्कार' जहॉ सत्य के अन्तर्गत व्यवहारिक व पारमार्थिक सत्य आता है, वही साक्षात्कार के अन्तर्गत ज्ञान प्राप्त करने के साधन (पचइन्द्रियॉ, बुद्धि व अपरोक्षानूभूति) आते है।

मेरे इस **'शोध विषय'** का केन्द्रीय शब्द है – **''कारणता सिद्धान्त''**। कारणता सिद्धान्त या कारणतावाद से तात्पर्य यह है कि – **''जगत की प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति किसी न किसी कारण से हुयी है और वह कारण भी किसी अन्य कारण का कार्य है''**। इसप्रकार कारणता प्रकृति का एक नियम है जिससे जगत की समस्त भौतिक वस्तुए सचालित होती है। अत इस सिद्धान्त के अनुसार ''प्रत्येक क्रिया, गति, अथवा घटना का कोई न कोई कारण अवश्य है''।[1] यानि दो घटनाओ व क्रियाओ मे ऐसा सम्बन्ध जिससे एक के घटने या होन पर, दूसरी का घटना या होना अनिवार्य हो, कारणता सिद्धान्त कहलाता है। इसप्रकार दृष्टिगत होता है कि कारणता, कारण व कार्य के बीच निहित **उपादानात्मक सम्बन्ध** या **निमित्त सम्बन्ध** या **तार्किक सम्बन्ध** का एक नाम है।

उल्लेखनीय है कि **'कारणता–सिद्धान्त'** शब्द की मीमासा मे दो

---

1 मानविकी परिभाषा कोष (दर्शन खण्ड), पृष्ठ – 38

शब्द **'कारण' और 'कार्य'** अवश्य वर्तमान रहते है अत इनका अर्थ समझना आवश्यक है। कारण का सामान्य अर्थ होता है "जो कार्य को उत्पन्न करे अथवा जिसमे कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति हो।" **व्याकरणशास्त्र** के अनुसार – "कारण" शब्द कृ धातु से णिच् तथा ल्युट् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। – क+णिच+ल्युट=कारण– जो करता है यह उस बात का वाचक है जिससे किसी फल (कार्य) का प्रादुर्भाव होता है और इसलिये इसका कार्य से पहले होना अनिवार्य एव अवश्यम्भावी है।"[1] कारण को परिभाषित करते हुये **शब्दार्थ दर्शन** मे कहा गया है कि – "अपने आप होने वाली जिस क्रिया, बनने वाली जिस परिस्थिति या उत्पन्न होने वाली जिस शक्ति के फलस्वरूप कोई कार्य या परिणाम होता है, वही क्रिया, परिस्थिति, या शक्ति उस कार्य का परिणाम का कारण कहलाती है। जैसे – सृष्टि का कारण ब्रह्म है और धूम का कारण अग्नि है।"[2] एक अन्य व्याख्या के अनुसार – **"येन बिना यन्न भवति तत्, तत्पर्याय हेतु बीजम्"[3]।** अर्थात जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति न हो सके वह कारण है तथा कारण का पर्यायवाची शब्द को हेतु तथा बीज कहा गया है। जबकि **मानविकी परिभाषा कोश** मे कारण को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि – "कारण वह सत्ता या शक्ति है, जिससे परिवर्तन गति या क्रिया सम्भव होती है, वह दशा, स्थिति, तथ्य या वस्तु जो किसी सत्ता के अस्तित्व की, किसी घटना की, या किसी प्रक्रिया की आधार हो या इनमे से किसी के पहले आवश्यक रूप से आती हो – कारण है। जबकि **न्यायदर्शन में कारण की सुस्पष्ट वैज्ञानिक परिभाषा** इस प्रकार है – "कारण उसे कहते है जो अन्यथा सिद्धि से रहित होकर नियत रूप से कार्य के पूर्व मे रहता हो"[4] अत इन अवधारणाओ के आधार पर कह सकते है

---

1 शब्दार्थ दर्शन (II) पृष्ठ 275

2 वही

3 शब्दार्थ परिचय (द्वितीय खण्ड) पृष्ठ 114

4 तर्कभाषा पृष्ठ – 29, भाषा परिच्छेद – 16

कि कारण, निश्चित रूप से कार्य का पूर्ववर्ती तथा कार्योत्पादकत्व से युक्त होता है।

जहाँ तक **'कार्य'** शब्द के अर्थ की बात है तो यह एक सापेक्ष शब्द है जो हमेशा कारण की अपेक्षा रखता है। वस्तुत कारण से उत्पन्न तत्व को ही कार्य की सज्ञा दी जाती है। कार्य को कारण का फल भी कहा जाता है। **तर्कभाषा** मे कार्य को कारण का नियत पश्चातवर्ती बताया गया है।[1] यानि कार्य सर्वदा अपने कारण का नियत–परवर्ती होता है। जैसे – घट कार्य है जो सदैव मृत्तिका रूप कारण का परवर्ती होता है।

इस प्रकार शोध–विषय का मूल अर्थ यह है कि "**पूर्वी (भारतीयमत) और पश्चिमी दोनों दर्शनों में किसी घटना से सम्बद्ध कारण व कार्य के बीच निहित बहुआयामी सम्बन्धों का तुलनात्मक व बहुकोणीय (विश्लेषणात्मक) अध्ययन करना तथा यह अध्ययन प्राचीन, आधुनिक एवं समकालीन – तीनों कालावधियों के चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में होना चाहियें**

१.२ विषय का महत्व

हम अपने सामान्य अनुभव मे देखते है कि "कारणतावाद" चिन्तन के हर क्षेत्र मे यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का एक अनिवार्य साधन होता है। विज्ञान तथा दर्शन–चिन्तन की ये दोनो विधाये सत्य का अन्वेषण करने के लिये सतत् प्रयत्नशील है और यह अन्वेषण कारणतावाद पर ही आधारित है। विज्ञान ने कार्यकारण सिद्धान्त को अपनाकर अनेक ऐसी घटनाओ को जिन्हे हम अज्ञेय या दैवी समझते थे, – के स्वरूप के विवेचन का प्रयास किया है। यह सिद्धान्त इतना उपयोगी और आवश्यक सिद्ध हुआ है कि वर्तमान विज्ञान अनेक घटनाओ व वस्तुओ के कारण की गवेषणा करना अपना मुख्य ध्येय मानता है।

---

1 अन्यथासिद्ध नियत पश्चादभावित्व कार्यत्वम् – तर्कभाषा पृष्ठ 21

उल्लेखनीय है कि कारणता सिद्धान्त का महत्त्व केवल दर्शन मे ही नही वरन् सामान्य मानवीय व्यवहार, और सभी प्रकार के विज्ञानो (चिकित्सा शास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायन शास्त्र आदि) के चिन्तन मे भी वर्तमान है, क्योकि इसको नकारने का मतलब अराजकतावाद को स्वीकार कर लेना होगा। यदि भारतीय दर्शन के व्यवहारवादी पक्ष के आइने से देखे तो यह स्पष्ट होता है कि बिना कारणता को स्वीकार किये न तो हमारे दुख की निवृत्ति ही सभव होगी और फलस्वरूप मोक्ष या ब्रह्म ज्ञान असम्भव हो जायेगा। अत हम कह सकते है कि दर्शन ही नही समस्त मानवीय चिन्तन और व्यवहार का आधार कारणता सिद्धान्त है और इसप्रकार ऐसे बिन्दु (विषय) पर शोध करना अत्यन्त महत्वपूर्ण एव उपादेय है।

१.३ वर्गीकरण –

जैसा कि हम जानते है प्राच्य एव पाश्चात्य – दोनो दर्शनो मे प्रारम्भ काल से ही इस विषय पर अनुशीलन होता आ रहा है। प्राच्य दर्शन के प्रारम्भिक रचना वेद व उपनिषद मे कारणता का विस्तृत विवेचन मिलता है, और बाद के दार्शनिक सम्प्रदायो (चार्वाक, बौद्ध, जैन, साख्य, योग, न्याय वैशेषिक, मीमासा, वैष्णव वेदान्त और अद्वैत वेदान्त मे) मे तो इस समस्या पर गम्भीर वैज्ञानिक अनुशीलन हुआ है। जबकि पाश्चात्य दर्शन मे माइलेशियन सम्प्रदाय से लेकर प्लेटो तक कारणतावाद का कोई व्यवस्थित चिन्तन देखने को नही मिलता। सर्वप्रथम पाश्चात्य दर्शन मे इस समस्या पर व्यवस्थित चिन्तन करने का श्रेय अरस्तू को जाता है। पुन अरस्तू से लेकर आधुनिक दर्शन के उन्मेष होने तक इस समस्या पर कोई गम्भीर चिन्तन नही हुआ। किन्तु आधुनिक दर्शन की अनुभववादी परम्परा मे आने वाले ह्यूम ने इस सिद्धान्त पर गम्भीर अनुशीलन कर एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि जिससे दर्शन व विज्ञान दोनो मे इस समस्या पर गम्भीर बहस प्रारम्भ हो गयी। ह्यूम के बाद

अनुभववादी मिल भी इस समस्या पर मौलिक चिन्तन रखा। लेकिन ह्यूम व मिल के आनुभविक दृष्टिकोण के विपरीत काण्ट ने एक प्रागनुभविक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जिसे चिन्तन जगत मे काफी स्वीकृति मिली। जबकि समकालीन पाश्चात्य दर्शन मे भाषा–विश्लेषण के दर्शन के केन्द्र मे आने के बावजूद इसपर बहुत सारे दार्शनिको ने चिन्तन किया, जैसे – **ब्रेडले, टेलर, ए.सी. ईविंग, बर्ट्रेन्ड रसेल, एल0एस0 स्टेबिंग, एस0 अलेक्जेन्डर, सी.डी. ब्राड, जेम्स वार्ड, आइन्स्टीन** आदि।

लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्राच्य एव पाश्चात्य दोनो दर्शनो मे इस समस्या के विवेचन के ढग मे भिन्नता दिखती है। जहॉ प्राच्य दर्शन (भारतीय दर्शन) मे कारणतवाद पर विचार इस प्रकार होता है कि – 'क्या कार्य अपने कारण मे उपादानात्मक रूप से सत् (उपस्थित) है अथवा नही' ? चार्वाक और बौद्धो को छोडकर लगभग सभी भारतीय दार्शनिक इस समस्या पर इसी ढग से विचार करते है। ज्ञातव्य है कि चार्वाक कारण व कार्य के बीच के अनिवार्य सम्बन्ध (व्याप्ति) का खण्डन करता है, और बौद्ध अपनी विवेचना मे यह दिखाने का प्रयास करते है कि 'कारण के होने पर कार्य होता है' (इसके होने पर यह होता है–प्रतीत्यसमुत्पाद) । यह और बात है कि बौद्धों के विभिन्न सम्प्रदाय इस बात की विवेचना अपने–अपने मतो के अनुकूल करने का प्रयास करते है।

जबकि पाश्चात्य दर्शन मे इस समस्या का केन्द्रीय स्वरूप यह है कि (अरस्तू को छोडकर) कारण व कार्य के बीच कैसा सम्बन्ध है ? क्या कारण और कार्य के बीच अनिवार्य सम्बन्ध है या सम्भाव्य ? आनुभविक दृष्टिकोण वाले सम्भाव्य मानते है और प्रागनुभविक दृष्टिकोण वाले अनिवार्य मानते है। समकालीन विज्ञान व दर्शन मे इस बात पर विवाद व चिन्तन जारी है। अब हम कारणता के सन्दर्भ मे प्राच्य व पाश्चात्य मतो की मीमासा करेगे, किन्तु इस

मीमासा से पूर्व प्राच्य एव पाश्चात्य दर्शनो मे कारणता विषयक मतो का ढॉचागत वर्गीकरण निम्न है –

★ इसके लिए देखे प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का उपसहार अध्याय
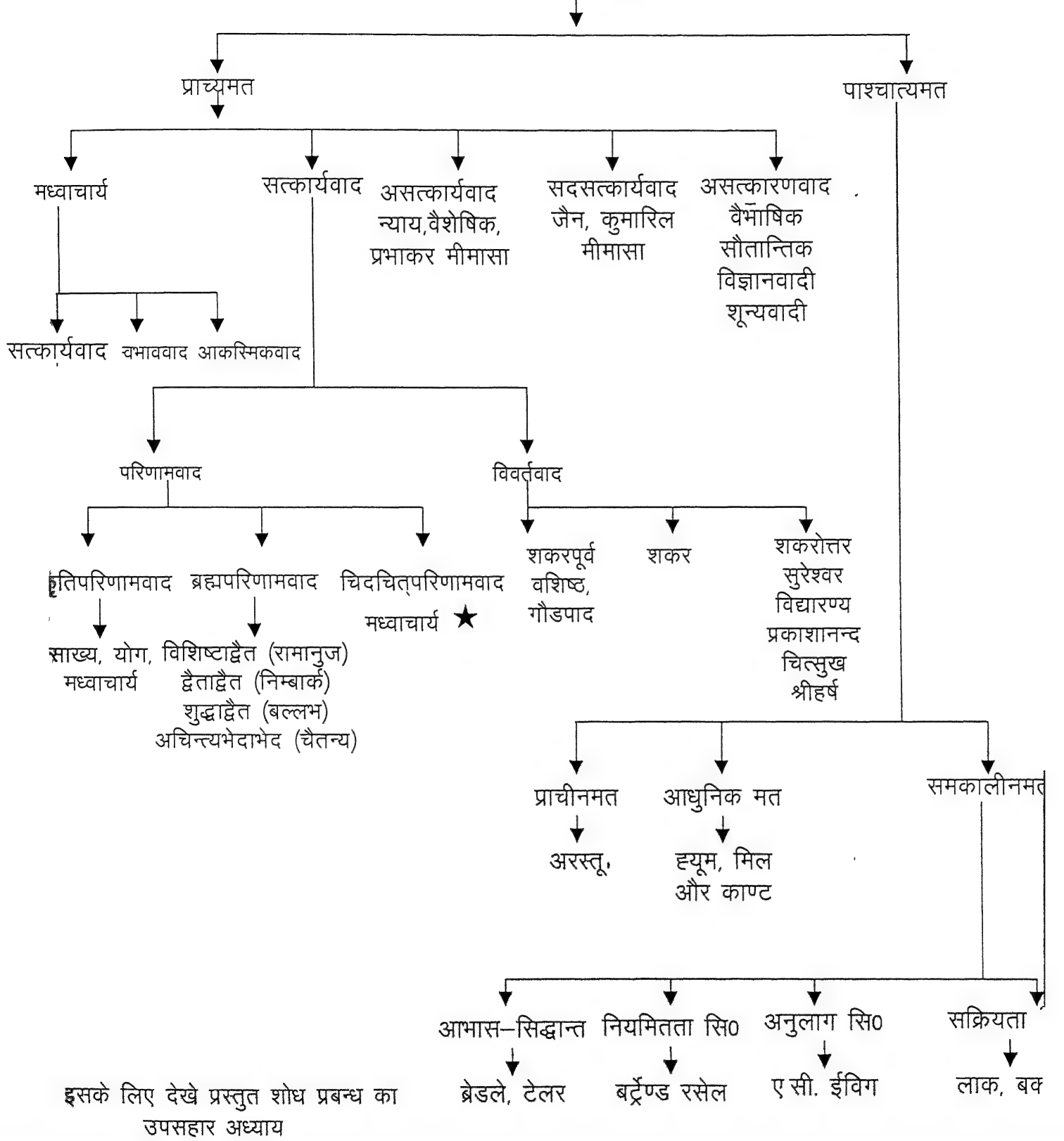
खण्ड (अ)

प्राच्यमत

अध्याय २

अकारणवाद

भारतीयचिन्तन धारा मे भौतिकवाद किसी न किसी रूप मे सदैव दृष्टिगत होता है किन्तु यहाँ भौतिकवाद का वास्तविक प्रतिनिधि चार्वाक को ही माना जाता है। यह अपनी ज्ञानमीमासा के अनुरूप ही तत्व मीमासा व आचार मीमासा का प्रतिपादन करता है। चूँकि यह अपनी ज्ञानमीमासा मे प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण स्वीकार करता है, इसीलिये तत्वमीमासा मे चार भूतो की सत्ता और आचारमीमासा मे सुखवाद को मानता है। ये केवल प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानते है[1] और अनुमान, शब्द आदि प्रमाणो का खण्डन करते है। चूँकि भारतीय दर्शन मे अनुमान का आधार व्याप्ति–सम्बन्ध माना जाता है, इसलिये चार्वाक अनुमान के खण्डन के लिए व्याप्ति सम्बन्ध पर प्रहार करते है। उल्लेखनीय है कि कारण–कार्य सम्बन्ध–व्याप्ति सम्बन्ध का ही एक प्रकार मात्र है[2]। अत इनके द्वारा व्याप्ति के खण्डन मे कारणता का खण्डन स्वत स्पष्ट है।

व्याप्ति का खण्डन करते हुये चार्वाकियो का कहना है कि केवल कुछ दृष्ट क और कुछ दृष्ट ख मे साहचर्य सम्बन्ध के ज्ञान से हम निष्कर्ष नही निकाल सकते कि 'सभी क' और 'सभी ख' मे नियत साहचर्य सम्बन्ध या व्याप्ति सम्बन्ध है। हम कई स्थलो पर धुआँ और आग को साथ–2 देख सकते है किन्तु वर्तमान काल के ही ऐसे सभी स्थलो को देखना सम्भव नही है। साथ ही भूत और भविष्य मे भी धुआँ व आग साथ–साथ होगे, इस बात का निरीक्षण तो पूरी तरह असम्भव है। अत· प्रत्यक्ष से व्याप्ति सिद्ध नही हो सकती है।

किन्तु इस विचार के विरोध मे नैयायिको का उत्तर हो सकता है कि यद्यपि सभी धूमवान एव बह्निमान पदार्थो को देखना हमारे लिये सम्भव नही है,

---

1 प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् – बृहस्पति सूत्र

2 भारतीय दार्शनिक समस्याएँ – डा0 नन्दकिशोर शर्मा, पृष्ठ 111

फिर भी हम उनके सामान्य वर्गो–धूमत्व व वह्नित्व को अवश्य ही देख सकते है। अत समस्त धूमवान् एव बह्निमान पदार्थो को देखन के बजाय, केवल एक ही स्थल पर धूमत्व व वर्हित्व के सम्बन्ध को देखकर व्याप्ति की स्थापना की जा राकती है। इसके विरोध मे चार्वाक कहते है कि वस्तुत प्रत्यक्ष के द्वारा धूमत्व व वहित्व का ज्ञान हो ही नही सकता है। इनका कहना है कि धूमत्व तो एक जाति या सामान्य है जो सभी धूमवान् पदार्थो मे विद्यमान रहता है। अत जब तक सभी धूमवान् पदार्थो का प्रत्यक्ष नही होगा तबतक उनके सामान्य का ज्ञान होना असम्भव है। चूँकि सभी धूमवान पदार्थो का प्रत्यक्ष एक ही स्थल पर सम्भव नही है, अत व्याप्ति की कल्पना निर्मूल है। जो जहॉ है वह वही है, अन्यत्र की वस्तु से उसका सम्बन्ध नही है। जो जिस समय है वह उसी समय है। अत दो भावो की व्यापित उनके विभिन्न देशकाल मे स्थित होने के कारण सम्भव नही है –

यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयो व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते।।[1]

इसीप्रकार चार्वाकियो का कहना है कि व्याप्ति को अनुमान के आधार पर भी सिद्ध नही किया जा सकता है, क्योकि अनुमान स्वय व्याप्ति पर ही निर्भर है। पुन शब्द से भी व्याप्ति सिद्ध नही हो सकती क्योकि शब्द स्वय मे कोई प्रमाण नही है। साथ ही यदि शब्द को प्रमाण मानकर यह कहा जाय कि अनुमान सदा शब्द प्रमाण पर निर्भर है तो फिर कोई भी व्यक्ति अपने आप से अनुमान कर ही नही सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुमान की प्रमाणिकता किसी भी प्रमाण के आधार पर युक्तिसगत नही कही जा सकती है। पुनश्च, यदि अनुमान से किसी विशेष वस्तु का ज्ञान होता है तो वह अनुमान नही है, क्योकि अनुमान का विषय सामान्य होता है। किन्तु यदि हम अनुमान का विषय सामान्य माने तो अनुमान मे, **सिद्धसाध्यता का दोष**[2], आ जाता है। इस प्रकार चार्वाक यह दिखाते है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि किसी भी प्रमाण से व्याप्ति सम्बन्ध को

---

1 भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – प्रो0 सगम लाल पाण्डेय, पृष्ठ–68

2 विशेषेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात्।
अनुमाभगपकेस्मिन निमग्ना वादिदन्तिन ।।
शालिकनाथ, प्रकरणपजिका मे उद्धृत,पृष्ट–71

सिद्ध नही किया जा सकता है और इस व्याप्ति के खण्डन से कारण कार्य सम्बन्ध
स्वत खण्डित हो जाता है।

तो प्रश्न उठता है कि ऐसे व्याप्ति सम्बन्ध जो नियत व साहचर्य युक्त होता है, की कल्पना हम क्यो कर लेते है ? इस सन्दर्भ मे चार्वाको का कहना है कि अनेको अवसरो पर दो घटनाओ का साहचर्य यह प्रत्याशा प्रकट करता है कि वे सदैव एक साथ घटित होगे।[1] भले ही यह साहचर्य हजारो विषयो में दिखायी दे किन्तु अन्य विषयो मे व्यभिचार की सम्भावना हो सकती है।[2] इसीप्रकार कारण–कार्य सम्बन्ध की विवेचना करते हुये ये कहते है कि – जब हम दो घटनाओ को साथ–2 घटते हुये देखते है तो इसका यह अर्थ नही है कि पहला दूसरे का कारण है, क्योकि उपाधि के रूप मे अदृष्ट भ्रम की सभावना सदैव बनी रहती है। जैसे अग्नि और धुएँ के विषय मे यह नही कहा जा सकता है कि यह केवल अग्नि ही है जो धुएँ का कारण है क्योकि आर्द्रता की उपस्थिति भी धुएँ के लिये आवश्यक है। वस्तुत इस प्रकार की उपाधियाँ सभी विषयो मे हो सकती है, जिनका प्रत्यक्ष नही हो सकता। अत प्रत्यक्ष के आधार पर हम गारन्टी नही दे सकते कि कारण व कार्य के बीच का सम्बन्ध पूर्णतया उपाधि–रहित है। फलत प्रत्यक्ष के आधार पर नियत व अनौपाधिक सम्बन्ध यानि कारण–कार्य सम्बन्ध को स्वीकार नही किया जा सकता है।

किन्तु व्याप्ति और कारण–कार्य सम्बन्ध का खण्डन करने के बावजूद भी **चार्वाकों को हेतुवादी** कहा जाता है। इसका कारण यह है कि चार्वाको ने हेतु की प्रत्यक्षमूलकता पर बल दिया है और प्रत्यक्षमूलक हेतुओ के अतिरिक्त, अन्य हेतुओ को नही मानते है। पाश्चात्य दर्शन की भाषा मे कहे तो ये अनुभववादी या प्रत्यक्षवादी है और इस आनुभविक ससार मे घटने वाली घटनाओ व परिवर्तन की

---

1 जयन्त न्यायमजरी, प0 सूर्यनारायण शुक्ल द्वारा सम्पादित, चौखम्भा सस्कृत सीरीज, बनारस, पृष्ठ–111

2 वही

व्याख्या के लिये बाध्य होते है। इस व्याख्या के निमित्त वे अपना कारणता सिद्धान्त प्रस्तुत करते है, जिसे **अकारणवाद** के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। चूँकि वास्तविक रूप मे इस सम्प्रदाय मे कारण–कार्य भाव का कोई स्थान नही है, अत व्यवहार की व्याख्या के निमित्त प्रस्तुत इसके दृष्टिकोण को अकारणवाद कहना उचित ही है। इस अकारणवाद के तीन रूप दृष्टिगत पडते है –

1 कालवाद

2 स्वभाववाद

3 आकस्मिकवाद या यदृच्छावाद

२.१ कालवाद :

इस सिद्धान्त के अनुसार काल ही ससार के समस्त पदार्थो का मूलकारण है और इस काल के अभाव मे अनेक सामग्रियो के होते हुये भी ससार का अस्तित्व असम्भव है। वरदराज मिश्र[1] का कहना है कि सभी सामग्रीयो के होते हुए भी किसी भी कार्य की उत्पत्ति तब तक नही होती, जब तक कि उसका निश्चित समय नही आ जाता है। अत काल ही सृष्टि का एक मात्र कारण है। इस मत का उल्लेख ईश्वरकृष्ण ने साख्यकारिका[2] मे, वात्स्यायन ने कामसूत्र[3] मे, गौडपाद ने कारिका[4] मे और उद्योतकर ने न्यायवार्तिक[5] मे किया है। उल्लेखनीय है कि शकराचार्य ने अपने श्वेताश्वतर–उपनिषद के भाष्य मे इस काल शब्द का अर्थ स्वभाव बतलाया है और पदार्थो की उत्पत्ति का कारण उनकी स्वाभाविक शक्ति को ही बतलाते है। वस्तुत. इस दर्शन में घटनाओ की व्याख्या के लिये किसी ईश्वर या ब्रह्म की आवश्यकता नही है। अत इसमें

---

1 कुसुमाजलिबोधिनी, पृष्ठ–8 (सरस्वती भवन सस्करण)

2 साख्यकारिका, 50

3 कामसूत्र, 2–35–37

4 गौडपाद कारिका, 8

5 न्यायवार्तिक 4–1–21

कारण- कार्य भाव की मूलभावना का अभाव दिखता है।

२.२ स्वभाववाद :

स्वभाववाद के अनुसार जिस वस्तु का जैसा स्वभाव होता है, वह वस्तु वैसे ही कार्य को उत्पन्न करती है। जैसे अग्नि का स्वभाव है जलना, पानी का स्वभाव है नीचे की ओर बहना। वस्तुत इस कार्य के पीछे किसी अप्रत्यक्ष शक्ति को कारण मानने की आवश्यकता नही है। इस स्वभाव का अर्थ स्पष्ट करते हुये शकराचार्य कहते है कि – **पदार्थानां प्रतिनियत शक्तिः** अर्थात् किसी पदार्थ की नियत शक्ति को स्वभाव कहते है। जैसे कटि मे तीक्ष्णता स्वत उद्भूत होती है। इस मत के अनुयायी प्राय कहा करते है कि – मयूरो को इतना रगबिरगा किसने पैदा किया, कोकिल की वाणी किसने इतनी मीठी बनायी–इन सब का कारण स्वभाव के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता है।[1] ये जगत की उत्पत्ति तथा विनाश का मूलकारण स्वभाव को ही मानते है और यह वस्तुस्वभाव ही जगत की कमी विचित्रता का मूलकारण है, दूसरा कुछ भी नही।[2]

ध्यातव्य है कि **शंकरानन्द** ने स्वभाव की व्याख्या एक विशिष्ट वस्तु द्वारा एक विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने वाली शक्ति के रूप मे की है। जबकि **अमलानन्द** का कहना है कि स्वभाव उस तत्व की भाँति है, जिसका अस्तित्व तब तक रहता है जब तक वस्तु अस्तित्व मे रहती है। जैसे – साँस तब तक चलती रहती है जब तक मनुष्य जीवित रहता है। अत जीवित व्यक्ति का साँस लेना स्वभाव ही है।[3] **सर्वदर्शन संग्रह** मे भी स्वभाववाद की विस्तृत विवेचना

---

1 शिखिन चित्रयेत को वा कोकिलान् क प्रकूजयेत्।
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्।।
– सर्वसिद्धान्त सग्रह, लोकायत प्रकरण श्लोक – 51

2 अपरे लोकायतिका स्वभाव जगत कारणमाहु।
स्वभावादेव जगद् विचित्र–मुत्पद्यते, स्वभावतो विलययाति।।
– भट्टोत्पल – वृहत्सहिता 1/7 की टीका

3 सर्वदर्शनसग्रह भाग–1, न्यायकुसुमाजलि के भाष्यप्रकाश और बोधनी मे भी पृष्ठस0 -58 मे उद्धृत।

मिलती है। यहॉ पर भाग्य की अवधारणा का खण्डन करते हुये बताया गया है कि सासारिक वस्तुऍ स्वभावत उत्पन्न होती है। अग्नि उष्ण है, जलशीतल, और प्रात काल की वायु शीतल स्पर्शवाली होती है – वस्तुत. इस प्रकार की विचित्रता अपने स्वभाव के अनुरूप ही उत्पन्न होती है।[1] इसीप्रकार चार्वाकियो का कहना है कि कुछ वस्तुऍ नित्य है, कुछ वस्तुऍ अनित्य है, तथा कुछ अन्य वस्तुऍ विचित्र स्वभाव की है। वस्तुत वस्तुओ की विचित्रताऍ उनमे अन्तर्निहित स्वभावो के द्वारा नियन्त्रित होती है।[2]

किन्तु चार्वाक दर्शन का स्वभाववाद का सिद्धान्त भारतीय दर्शन मे कटुआलोचना का विषय रहा है। चार्वाक एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है और इसी के आधार पर कारणता सिद्धान्त का खण्डन करता है। किन्तु कोई वस्तु प्रत्यक्ष गोचर नही है तो इसका तात्पर्य यह नही है कि वस्तु की सत्ता ही नही है। एक दार्शनिक की दृष्टि स्थूल जगत तक ही सीमित नही रह सकती है। ज्ञातव्य है कि चार्वाक अनुमान प्रमाण का खण्डन करता है किन्तु चार्वाक को छोडकर शेष सभी भारतीय दार्शनिक अनुमान की प्रमाणिकता को स्वीकार करते है। समस्त विचार, वाद–विवाद, सिद्धान्त आदि अनुमान के द्वारा ही सिद्ध किये जाते है। विचार अमूर्त विषय है, अत इनका प्रत्यक्ष नही हो सकता है। वस्तुत जिस प्रत्यक्ष की प्रमाणिकता की चार्वाक दुहायी देता है वह भी कभी–2 प्रमाणित नही होता है। यदि प्रत्यक्ष सदैव प्रमाणित होता तो फिर हमे भ्रम क्यो होता ? हम ऑख फाड–फाडकर देखते है कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य चक्कर काटता है, – जो सही नही है। इसीप्रकार रेल लाइन की पटरी को हम दूर सटते हुये देखते है, जो सही नही है। वास्तव मे शुद्ध प्रत्यक्ष तो सम्भव ही नही है, क्योकि शुद्ध प्रत्यक्ष निर्विकल्प सवेदन मात्र है जो शायद पशुओ को होता हो।[3]

---

1 अग्नि उष्णो जल शीत शीतस्पर्शस्तयानिल ।
केनेद चित्रित तस्मात् स्वभावात् तद् व्यवस्थिति।।
– वही, पृष्ठ वही

2 वही

3 चन्द्रधर शर्मा . एक क्रिटिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलोसफी, राइटर एण्ड कम्पनी ग्रेट ब्रिटेन, पृष्ठ – 44

उल्लेखनीय है कि नैयायिको ने कारणता की प्रमाणिकता को व्यवहार व परमार्थ दोनो मे स्वीकार किया है। रघुनाथ शिरोमणि ने कारणता के विषय मे प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीनो प्रमाण स्वीकार किया है।

किन्तु चार्वाकियो का कहना है कि स्वभाववाद को स्वीकार किये बिना कारणता की व्याख्या सम्भव नही हो सकती है। क्योकि किसी विशिष्ट कारण से किसी विशिष्ट कार्य का निर्धारण वस्तु के स्वभाव से ही होता है। तन्तु ही पट उत्पन्न करते है, मृत्तिका नही। इसीप्रकार तिल से ही तेल निकलता है, बालू से नही। इस प्रकार ये स्वभाववादी यह सिद्ध करते है कि बिना स्वभाववाद को स्वीकार किये कारणता का कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नही किया जा सकता है। इनका कहना है कि नैयायिक भी जगत के नानात्व की व्याख्या बिना स्वभाव को स्वीकार किये नही कर सकते है। वस्तुत प्रत्येक वस्तु का अपना एक विशिष्ट स्वभाव व स्वरूप है और ऐसा मानने पर ही हम उनकी पृथक सत्ता का निर्धारण कर सकते है।[1]

ज्ञातव्य है, स्वभाववाद का अर्थ है कि – **'वस्तु का कारण वस्तु के स्वभाव में ही निहित है, अलग से कारण खोजने की आवश्यकता नही है।'** परन्तु गहरायी से विचार किया जाय तो चार्वाक भी वस्तु और वस्तु का स्वभाव–दो पदार्थो को मानता है तथा इन दोनो के बीच के सम्बन्ध की व्याख्या बिना कारणता सिद्धान्त स्वीकार किये, नही की जा सकती है। साथ ही स्वभाववाद को मानते हुये भी कारण व कार्य के बीच नियत व अनौपाधिक (कारणता का वास्तविक सम्बन्ध) सम्बन्ध मानने मे कोई विरोध नही है। किन्तु स्वभाववाद को मानने व कारण–कार्य के बीच नियत अनौपधिक सम्बन्ध न मानने मे विरोध है, क्योकि इससे व्यवहार मे बाधा हो सकती है। यदि हम भोजन और भूख निवृत्ति के कारण कार्यभाव को नही जानते तो हम भूख लगने पर कभी भी भोजन करने के लिये प्रवृत्त नही हो सकते थे। हम कोई भी कार्य करते है तो

---

1 उदयन – न्यायकुसुमाजलि (संस्कृत भाष्यो के सहित) चौखम्बा प्रकाशन,पृ0 59

किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये करते है। अमुक कार्य करने से अमुक फल मिलेगा – इस प्रकार के ज्ञानोपदान का निर्णय हम कारणता के आधार पर ही करते है। अत स्वभाववाद एक स्वीकार्य सिद्धान्त नही कहा जा सकता है।

2.3 आकस्मिकवाद :

इस सिद्धान्त के अनुसार पदार्थो की उत्पत्ति स्वत ही बिना किसी कारण के अकस्मात् होती है। इस मत का स्वभाववाद से इस बिन्दु पर साम्य है कि कारण व कार्य के बीच कोई नियत–अनौपाधिक सम्बन्ध नही है। वस्तुत चार्वाक के इस प्रकार के मत का उल्लेख हमे श्वेताश्वतर उपनिषद और कुछ अन्य दार्शनिक कृतियो मे मिलता है, जहॉ इन्हे विरोधियो का मत बताकर खण्डन किया गया है। **आचार्यशंकर** आकस्मिकवाद या यदृच्छावाद की व्याख्या आकस्मिक उत्पत्ति के सिद्धान्त के रूप मे की है, जबकि **शंकरानन्द** ने दो घटनाओ के आकस्मिक सयोग के रूप में इसकी व्याख्या की है। इसीप्रकार **अमलानन्द** ने यदृच्छावाद की व्याख्या उस सिद्धान्त के रूप में की है जिसके अनुसार कार्य की उत्पत्ति किसी भी समय बिना किसी नियत कारण की अपेक्षा के होती है।[1] **हरिदास भट्टाचार्या** ने भी इसकी व्याख्या उस सिद्धान्त के रूप मे की है जिसके अनुसार कार्य बिना किसी कारण की अपेक्षा किये अकस्मात् अस्तित्व मे आ जाता है।[2]

उपर्युक्त विवेचनाओ से यह ध्वनित होता है कि इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर किसी भी प्रकार का नियम, अनुभव, ज्ञान प्रगति आदि का कोई मतलब नही रह जायेगा। यहॉ तक कि इन्ही का सिद्धान्त –ऋण कृत्वा घृतं पिबेत– भी कोई अर्थ व्यक्त नही कर सकता क्योकि घी पीने से शरीर पुष्ट या आयु बढेगी, निश्चित रूप से सिद्ध नही हो सकता है। इसप्रकार हमारा पारिवारिक जीवन

---

1 नियत–निमित्तम् अनपेक्ष्य यदा–कदाचिद् प्रवृत्युदयो यदृच्छा।
– कल्पतरू, –2/1/33

2 अकस्माद् एव भवति, न किचिंद अपेक्षकार्यम्।
–न्यायकुसुमाजलि पर हरिदास भट्टाचार्या की टीका, पृष्ठ – 33

भी अनियमितता से घिरकर दूभर हो जायेगा। वस्तुत यदृच्छावाद एक प्रकार का अराजकतावाद है जहॉ व्यवस्था नाम की कोई चीज नही दिख सकती है। उल्लेखनीय है कि यह स्वभाववाद से भी घातक सिद्धान्त है क्योकि स्वभाववाद मे स्वभाव को ही पदार्थ की उत्पत्ति एव स्थिति का कारण माना जाता है जबकि यदृच्छावाद मे पदार्थ की उत्पत्ति बिना किसी कारण के ही मानी जाती है। इस प्रकार यहॉ नियम नाम की कोई चीज नही रहती है।

ध्यातव्य है, उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमान्जलि,[1] मे **'अकस्मात्'** शब्द के पॉच अर्थो की चर्चा कर, इस सिद्धान्त के खण्डन का प्रयास किया है। ये पॉच अर्थ अधोलिखित है –

1 उत्पत्ति बिना कारण के होती है

2 उत्पत्ति का निषेध

3 उत्पत्ति स्वयं हो सकती

4 उत्पत्ति वन्ध्यापुत्रादि मिथ्या पदार्थो से होती है

5 उत्पत्ति स्वभाव से होती है

उदयनाचार्य का कहना है कि बिना कारण से कार्य की उत्पत्ति मान लेने पर यह शका उठती है कि क्यों नही सतत् कार्य की उत्पत्ति होती है। यदि बिना कारण के कोई कार्य हो सकता है तो उसे किसी भी समय मे होना चाहिये, किन्तु वह निश्चित समय पर ही उत्पन्न होता है, अत. इसका अर्थ यही है कि कार्य का कोई पूर्ववर्ती कारण अवश्य है।

इसीप्रकार उत्पत्ति का निषेध भी हम नही कर सकते क्योकि उत्पत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है। जब हम पान, कत्था, सुपारी व चूना से वीणापान बनाते है तो लालिमा की उत्पत्ति प्रत्यक्षत सिद्ध होती है। प्राय· हम दैनिक जीवन मे देखते है

---

1 हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वत ।।

न्यायकुसुमान्जलि – 1/5

कि निश्चित समय मे ही कार्य की उत्पत्ति होती है, उसके पूर्व नही। जो कार्य पहले अस्तित्ववान नही था, वह बाद मे कैसे अस्तित्ववान हो जाता है – इस प्रश्न का उत्तर कारणता के आधार पर ही दिया जा सकता है।

पुन **'कार्य स्वयं उत्पन्न होता है'** – ऐसा मानना भी ठीक नही है। यदि कार्य स्वय उत्पन्न होता है तो उसे सदैव उत्पन्न होना चाहिये। किन्तु कार्य स्वय अपना कारण नही हो सकता है क्योकि कारण अपने कार्य का पूर्ववर्त्ती होता है। वस्तुत एक ही वस्तु अपना पूर्ववर्त्ती और परवर्ती – दोनो नही हो सकती है। वैसे व्यवहार मे भी कार्य को स्वय अपनी उत्पत्ति का कारण के रूप मे नही देखा जाता है। व्यवहार मे हम देखते है कि अगूर से शराब की उत्पत्ति होती है, न कि शराब से अगूर की।

किन्तु यदि **'अकस्मात्'** का चौथा अर्थ ले यानि उत्पत्ति बन्ध्यापुत्र जैसे मिथ्या पदार्थो से होती है तो भी तार्किकता की मॉग पूरी नही होती है। यदि असत् से ही कार्य की उत्पत्ति होती है तो असत् के सर्वत्र व सब काल मे उपस्थित होने के कारण कार्य की उत्पत्ति सतत् होनी चाहिये। किन्तु ऐसा क्यो नही होता है ? क्यो निश्चित समय मे ही कार्य की उत्पत्ति होती है ? इन प्रश्नो का उत्तर भी एक मात्र कारणता के आधार पर ही दिया जा सकता है।

'स्वभाव' से भी वस्तु की उत्पत्ति हम नही मान सकते। यदि उत्पन्न होना वस्तु का स्वभाव है तो यह स्वभाव वस्तु मे सदैव होना चाहियें। किन्तु ऐसा नही होता है, बल्कि एक निश्चित समय मे ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

इसप्रकार उदयन ने अनिमितिक उत्पत्ति का पाच अर्थ करके अपने एक हेतु से ही उनका खण्डन किया है। वस्तुत सभी कार्य नियतावधिक देखे जाते है, अत कार्यो को सहेतुक मानना ही चाहिये। अकस्मात के पॉचों अर्थो से व्यवहार मे घटने वाली घटनाओ की व्याख्या सम्भव नही हो पाती है। बल्कि

प्रत्येक स्थिति मे इनकी व्याख्या की आवश्यकता तार्किक रूप से कारणता सिद्धान्त की मॉग करती है। अर्थात् कारण कार्य मे नियत–अनौपाधिक सम्बन्ध को स्वीकार करना तार्किकता की मॉग है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य को सकारण मानना आवश्यक है।

किन्तु उदयन के इस दृष्टिकोण के विरोध मे चार्वाको का कहना है कि– "**वस्तुयें एक निश्चित समय में होती है, सतत् नही**"– यह भी उस वस्तु का स्वभाव ही है। कुछ वस्तुये आकाश की तरह नित्य सत् होती है और कुछ वस्तुये शशश्रृग की तरह नित्य असत् होती है। किन्तु कुछ वस्तुये सद्सत् होती है। वस्तुत ये ही वस्तुये उत्पत्ति व स्थिति काल मे सत् होती है। परन्तु उत्पत्ति के पूर्व या विनाश के बाद ये ही वस्तुये असत् होती है। जैसे घट उत्पत्ति के पूर्व तथा टूट जाने के बाद नही रहता किन्तु उत्पन्न हो जाने के बाद रहता है। यह सब भी वस्तुओ का स्वभाव ही है। अत इसके विषय मे ऐसा क्यूँ होता है, प्रश्न करना, उचित नही है।

जहॉ तक इन तीनो सिद्धान्तों – **कालवाद, स्वभाववाद, अकस्मात्वाद** – के मूल्याकन का सवाल है तो इस सन्दर्भ मे बेबाकी से कहा जा सकता है कि ये सभी सिद्धान्त **आत्माश्रय दोष** से ग्रस्त है। अपने मत की स्थापना मे ये अपनी ही हत्या कर बैठते है। वास्तव मे कारणता को बिना स्वीकार किये इसका खण्डन भी नही किया जा सकता है। चूँकि चार्वाक कारणता का खण्डन करते है अत इसका अर्थ यह है कि वे कारणता को स्वीकार करते है। चाहे कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त मे भले ही कारणता को अस्वीकार कर दे परन्तु व्यवहार मे अस्वीकार नही कर सकता है। नागार्जुन एव श्री हर्ष जैसे नास्तिक दार्शनिक भी

---

1 (अ) नापि अहेतुत ।

नागार्जुन – भवसक्रान्ति सूत्र, 9/9

(ब) पूर्व सम्बन्ध नियमे हेतुले तुल्य एव ना ।।

श्री हर्ष – खण्डनखण्डखादय – पृष्ठ 681

बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति को असम्भव मानते है[1]

इसप्रकार कालवाद, स्वभाववाद और यदृच्छावाद, इन तीनो सिद्धान्तो मे ही कारणता सिद्धान्त की मूलभावना का अभाव दिखता है। कालवाद का यह कहना कि जब तक उचित समय नही आ जाता, कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती – किसी भी प्रयत्न की सभावना को नकार देता है। साथ ही इसमे नियतिवाद की भी बू आती है। किन्तु यदृच्छावाद इससे भी आगे बढते हुये अराजकता का साम्राज्य ही स्थापित कर देता है। इसको स्वीकार करने पर व्यवहार ही असम्भव दिखने लगता है। उल्लेखनीय है कि स्वभाववाद, कालवाद व यदृच्छावाद से श्रेष्ठ सिद्धान्त है क्योकि कम से कम इसमे व्यवहारिक घटनाओ का कारण **पदार्थ–स्वभाव** को ही माना जाता है। थोडी बहुत विभिन्नताओ के बावजूद ये सभी कारणता का खण्डन कर **अकारणवाद** की स्थापना का प्रयत्न करते है।

वास्तव मे चार्वाकी अपने मत की पुष्टि करके अन्य लोगो मे यह विश्वास उत्पन्न करना चाहते है कि सभी वस्तुएँ अकारण है। यह विश्वास उत्पन्न करना भी एक कार्य है, जिसका कारण है अपने मत की पुष्टि। अत निर्दिष्ट कार्य की उत्पत्ति कारण विशेष से ही होती है, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कारणता एक निराधार विश्वास मात्र नही है, अपितु एक धारणा है जो हमारे विचारो मे पूर्णत समाविष्ट है।

सत्कार्यवाद

सत्कार्यवाद कारणता–विषयक भारतीय चिन्तन का एक केन्द्रीय सिद्धान्त है और भारतीय दर्शन मे इस पर व्यापक चिन्तन हुआ है। यह सिद्धान्त मूलत साख्य–योग, वैष्णववेदान्ती और अद्वैतवेदान्तियो का है। इस सिद्धान्त का मानना है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व, कारण मे सत् होता है और इसी कारण इसे सत्कार्यवादी कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य, कारण मे बीजरूप से अन्तर्निहित रहता है तथा कारण कार्य मे स्वभावरूप से विद्यमान रहता है। वस्तुत यहॉ उत्पाद का अर्थ नवीन उत्पत्ति तथा विनाश का अर्थ सर्वथा विनाश नही है, बल्कि यहॉ उत्पत्ति का अर्थ है कि कारण मे अव्यक्त रूप से रहने वाले कार्य की व्यक्त रूप से प्रतीति और विनाश का अर्थ है व्यक्त कार्य का पुन अपने कारण मे विलीन हो जाना। उल्लेखनीय है कि यहॉ कार्य कोई नवीन सृष्टि नही है बल्कि कारण व कार्य एक ही वस्तु के दो रूप है – कारणावस्था अव्यक्त रूप तथा कार्यावस्था व्यक्त रूप है।

किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या कारण का कार्य के रूप में परिवर्तन (व्यक्तीकरण) वास्तविक (तात्विक) है या अवास्तविक (अतात्विक) ? वस्तुत इस प्रश्न के समाधान मे सत्कार्यवाद के दो रूप प्रस्तुत हो जाते है जो इस परिवर्तन को वास्तविक (तात्विक) मानते है उन्हे परिणामवादी कहा जाता है और जो इस परिवर्तन को अतात्विक (प्रातीतिक या अवास्तविक) मानते है उन्हे विवर्तवादी कहा जाता है (विवर्त = अतात्विक परिवर्तन)।[1] ज्ञातव्य है, जहॉ साख्य–योग, रामानुज, निम्बार्काचार्य, बल्लभाचार्य, चैतन्य, श्रीकण्ठ, श्रीपति आदि दार्शनिक परिणामवादी है, वही अद्वैतवेदान्ती आचार्य शकर विवर्तवादी है। किन्तु परिणामवाद के भी दो रूप देखने को मिलते है – पहला–साख्ययोग के परिणामवाद को प्रकृतिपरिणामवाद और दूसरा वेष्णववेदान्तियों के परिणामवाद को ब्रह्मपरिणामवाद कहते हैं। स्पष्ट है परिणामवाद का यह विभाजन उपादान,

---

1 भारतीय दर्शन–आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ–141

के आधार पर किया गया है। चूँकि साख्य–योग दर्शन मे सृष्टि का उपादान प्रकृति (जडतत्व) है इसलिये इसके सिद्धान्त को प्रकृति परिणामवाद कहते है और वैष्णव वेदान्तियो मे ब्रह्म को उपादान कारण माना गया है, इसलिये इनके सिद्धान्त को ब्रह्मपरिणामवाद कहा जाता है। इस प्रकार सत्कार्यवाद के विभिन्न प्रकार व रूप है, जिसका ढाचागत विवरण निम्न है–

---
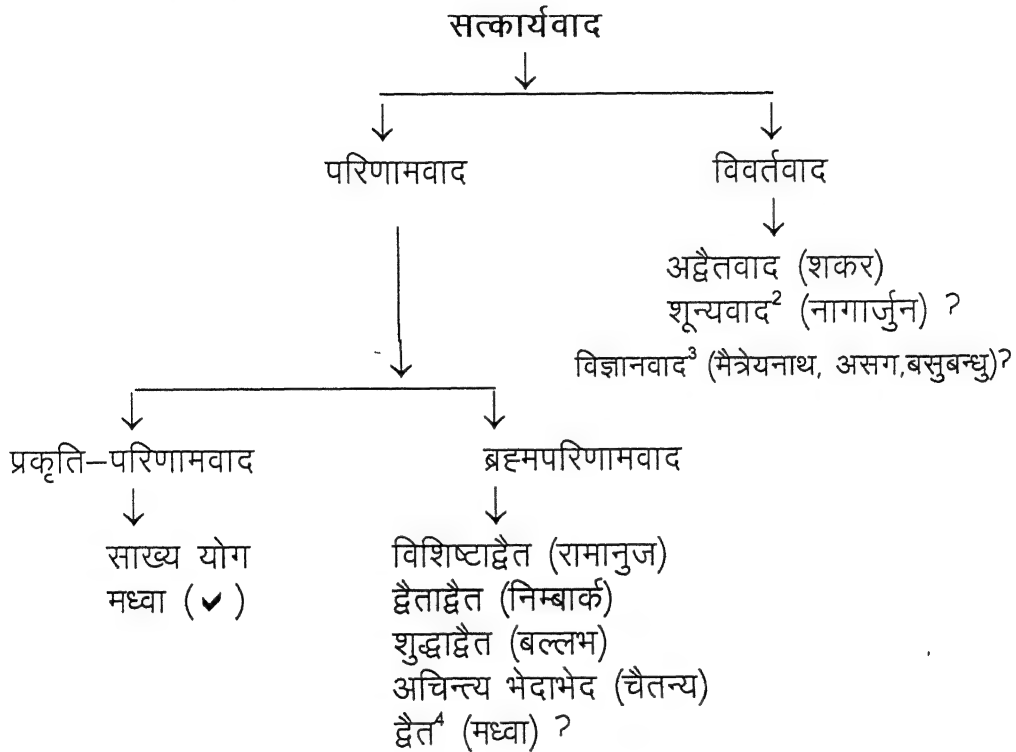
2 3 वही, पृष्ठ–141,

–प्रो0 सी0डी0 शर्मा और कुछ समालोचक बौद्धो के शून्यवाद सम्प्रदाय के कारणताविषयक मत को शून्यताविवर्तवाद तथा विज्ञानवादी सम्प्रदाय के कारणताविषयक मत को विज्ञानविवर्तवाद कहा है। वस्तुत ऐसा मानना ठीक नही है। अत यहाँ हम विवर्तवाद के अन्तर्गत केवल शकर के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करेगे। वस्तुत ऐसी समस्या का कारण इन आलोचको का अद्वैती दृष्टिकोण से बौद्ध दर्शन का मूल्याकन करना है, जो उचित नही है।

4 उल्लेखनीय है कि मध्व ब्रह्म को निमित्त और जड प्रकृति को उपादान कारण मानते है, फलत मध्व को ब्रह्मपरिणामवाद मे रखना उचित प्रतीत नही हो रहा है। साथ ही, इनका साख्य–योग के प्रकृतिपरिणामवाद की ओर झुकाव दिखता है, पर यह भी मत पूर्णतया ठीक नही कहा जा सकता है। फिर भी प्रचलित मतो मे सबसे उपयुक्त प्रकृति परिणामवाद ही है, जिसके अन्तर्गत मध्व को रखा जा सकता है।

ध्यातव्य है कि भारतीय दर्शन के कुछ आलोचक शून्यवाद व विज्ञानवाद के कारणताविषयक मत को विवर्तवाद मे रख कर क्रमश शून्यताविवर्तवाद व विज्ञानविवर्तवाद का प्रतिपादन करते है। किन्तु इनका यह प्रतिपादन ठीक नही दिखता है। वस्तुत बौद्ध दर्शन के इन दोनो सम्प्रदायो के कारणताविषयक मत के निर्धारण मे सर्वप्रथम हमे इस बिन्दु पर विचार करना चाहिये कि इस दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त क्या है और वह कौन सा सिद्धान्त है जो कारणता से सीधे ताल्लुक रखता है। निश्चय ही इस प्रश्न का उत्तर यह है कि क्षणभगवाद व प्रतीत्यसमुत्पाद– बौद्ध दर्शन के केन्द्रीय सिद्धान्त है, जिसे किसी न किसी रूप मे सभी बौद्ध दार्शनिक स्वीकार करते है। **मेरा मानना है कि बौद्धदर्शन में कारणता सम्बन्धी अवधारणा अन्य भारतीय दर्शनों से मौलिक रूप से भिन्न है क्योंकि जहाँ अन्य भारतीय दार्शनिक कारणता के उपादानात्मक पक्ष पर विशेष बल देते हैं, वही बौद्ध दार्शनिक कारणता के सम्बन्धात्मक पक्ष पर ही विशेष विमर्श करते हैं।** मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य दार्शनिको के समान (अरस्तू को छोडकर), बौद्ध दार्शनिक भी कारण व कार्य के बीच के सम्बन्ध पर ही केन्द्रीय रूप से विचार करते है। इसलिये मै शून्यवाद व विज्ञानवाद के कारणताविषयक मत की विवेचना असत्कारणवाद या प्रतीत्यसमुत्पाद के अध्याय मे करूँगा। यहॉ विवर्तवाद के अन्तर्गत अद्वैतवाद के विवर्तवादी दृष्टिकोण का ही विस्तृत विश्लेषण होगा।

इसीप्रकार आलोचक ब्रह्म–परिणामवाद के अन्तर्गत सभी वैष्णव वेदान्तियो को रखते है, जो ठीक नही है। वस्तुत मध्वा का द्वैतवादी दर्शन ब्रह्म–परिणामवाद के ढाचे मे फिट नही बैठता है। चूँकि अन्य वैष्णव वेदान्ती ब्रह्म को उपादान व निमित्तकारण दोनो मानते हैं और इस प्रकार वे ब्रह्म की अभिन्निमित्तोपादान कारणता को स्वीकार करते है। साथ ही, यहॉ कार्य जगत अपने निमित्त (ब्रह्म) व उपादान (ब्रह्म) – दोनो कारण में उत्पत्ति–पूर्व सत् है और अपने इन दोनो कारणो के वास्तविक परिणाम है। यही कारण है कि इन्हे सत्कार्यवादी व ब्रह्मपरिणामवादी कहा जाता है। किन्तु मध्वा ब्रह्म को मात्र निमित्त कारण मानता है और प्रकृति को उपादान कारण के रूप मे स्वीकार

करता है। वस्तुत जगत उपादान कारण प्रकृति का ही वास्तविक विकार या परिणाम है। स्पष्ट है, कार्य जगत उत्पत्ति पूर्व अपने उपादान कारण (प्रकृति) मे सत् है तथा उत्पत्ति होने पर कार्य अपने उपादान का वास्तविक परिणाम (तात्विक परिवर्तन) है–फलत मध्वा के कारणता विषयक मत को सत्कार्यवाद व प्रकृति–परिणामवाद कहना ही समीचीन प्रतीत हो रहा है। यह और बात है कि यह साख्य से भिन्न ब्रह्म को निमित्त कारण मानकर अपने दृष्टिकोण को वैशिष्ट्य प्रदान करता है। वैसे साख्य भी अपनी सृष्टि प्रक्रिया मे प्रकृति की साम्यावस्था भग होने के लिये (भग होने पर ही सृष्टि प्रारम्भ होती है) कम से कम पुरूष का सानिध्य–मात्र स्वीकार करता है, **फलतः पुरूष का सानिध्यमात्र निमित्तकारण की अवधारणा को ही जाने–अनजाने सूचित करता है। किन्तु सांख्य जहाँ अपने पुरूष सानिध्य की तार्किक व्याख्या नहीं कर पाता है, वहीं मध्वा ब्रह्म की निमित्तकारणता स्वीकार कर अपने दर्शन को सुसंगत बनाने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार हमारा अभिमत है कि मध्वा प्रकृति–परिणामवादी और सत्कार्यवादी है।**

उल्लेखनीय है कि **प्रो0 संगमलाल पाण्डेय**[1] अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन के सर्वेक्षण' मे मध्वा को सदसत्कार्यवादी मानते है, जो उपयुक्त नही है। वस्तुत **न्यायसुधा**[2] मे कहा गया है कि कार्य अपने उपादान कारण मे उत्पत्ति पूर्व सत् रहता है अत. सत्कार्यवाद है तथा अपने निमित्त कारण से सर्वथा भिन्न रहता है, अत असत्कार्यवाद है। मुझे लगता है कि प्रो0 पाण्डेय इसी आधार पर मध्वा के मत को सदसत् कार्यवाद कहा है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नही होगा क्योंकि जैन मत व कुमारिलमीमांसा वास्तविक अर्थों में सदसत्कार्यवाद स्वीकार करते हैं, जो मध्वा से मूलत. भिन्न है। वास्तव मे तथाकथित मध्वा का सदसत्कार्यवाद भारतीय दर्शन मे प्रचलित सदसत्कार्यवाद के अर्थ से पूर्णतया भिन्न है (जैनी इस नाम से रूढ हुये हैं)। इसप्रकार मध्वा के मत को प्रचलित मतों में निर्विवाद रूप से प्रकृतिपरिणामवाद (सत्कार्यवाद) ही कहना तर्कत ठीक है।

जैसा कि हमने सत्कार्यवाद के दो रूपो– परिणामवाद व विवर्तवाद का उल्लेख किया, के विभाजन का आधार कारण व कार्य का सत्तात्मक स्तर ही है। परिणामवाद व विवर्तवाद के भेद को स्पष्ट करते हुये वेदान्त परिभाषा मे उल्लेख है कि – परिणामवाद मे कारण व कार्य एक ही स्तर के होते है, जबकि विवर्तवाद मे इनके स्तर में भिन्नता होती है–

''परिणामोनामोपादान समसत्ताककार्यापत्ति ।

विवर्तोनामोपादान विषमसत्ताककार्यापत्ति ।।''

– अर्थात् उपादान कारण का सदृश्य (समानस्तरीय) कार्य परिणाम है, जबकि विषमकार्य (भिन्न स्तरीय) विवर्त है। जैसे–दूध से दही जमना परिणामवाद कहलाता है, जबकि रस्सी मे सर्प दिखना विवर्तवाद कहलाता है। किन्तु परिणामवाद के भी दो रूप है–पहला प्रकृतिपरिणामवाद और दूसरा ब्रह्मपरिणामवाद। प्रकृति परिणामवाद को साख्य, योग व मध्वा स्वीकार करते है, जबकि ब्रह्मपरिणामवाद को रामानुज, निम्बार्क, बल्लभ व चैतन्य स्वीकारते है। इसी प्रकार विवर्तवाद को आचार्य शकर मानते है। अब हम क्रमश **प्रकृतिपरिणामवाद, ब्रह्मपरिणामवाद** और **विवर्तवाद** का विस्तृत विवेचन व विश्लेषण करेगे।

3.1 प्रकृतिपरिणामवादः

प्रकृतिपरिणामवाद, सत्कार्यवाद का ही एक रूप है, जो यह मानता है कि कार्य जगत अपने कारण प्रकृति में उत्पत्ति पूर्व विद्यमान (सत्) रहता है। इस विचारधारा को मानने वाले दार्शनिक सांख्य, योग और मध्वा है, किन्तु प्रकृतिपरिणामवाद का व्यापक विवेचन साख्य दर्शन में ही देखने को मिलता है। वस्तुत सांख्य योग दर्शन एक वस्तुवादी दर्शन है, इसलिये यहॉ वाह्य जगत की सत्ता यथार्थ मानी गयी है। साथ ही इस वाह्य जगत के कारण रूप प्रकृति–तत्व की सिद्धि शुद्ध आनुभविक व तार्किक आधार पर की गयी है।

अर्थ कार्य का सूक्ष्म हो जाना है। साख्य का सत्कार्यवाद विकारवाद भी कहा जाता है जिसका तात्पर्य है कि कार्य, कारण का वास्तविक परिणाम है।[1] कार्य को कारण का वास्तविक परिणाम स्वीकारते हुये यह दर्शन दोनो के तात्विक अभेद का आग्रहशील है। चूँकि यहाँ उत्पत्ति का अर्थ केवल अव्यक्त का व्यक्त हो जाना है, अत यह मत असत्कार्यवाद के सर्वथा विपरीत है। इसीलिये साख्य दार्शनिक खण्डन–मण्डन प्रणाली (इस प्रणाली मे अपने मत की स्थापना से पूर्व प्रतिपक्षी के विचारो का खण्डन होता है, तत्पश्चात् अपने विचार का मण्डन) को अपनाते हुये सर्वप्रथम असत्कार्यवाद का निराकरण करते है। साख्यतत्वकौमुदी, व साख्य प्रवचन भाष्य मे सत्कार्यवाद की स्थापना से पूर्व न्याय, बौद्ध व अद्वैतमत के कारणता सिद्धान्त का निराकरण प्रस्तुत किया गया है।[2] इसी प्रकार सत्कार्यवाद की स्थापना व असत्कार्यवाद के निराकरण हेतु ईश्वरकृष्ण ने निम्न कारिका प्रस्तुत की –

'असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्चसत्कार्यम्।।

सा0का0–9

– उपर्युक्त कारिका मे सत्कार्यवाद की स्थापना हेतु पॉच युक्तियॉ प्रस्तुत की गयी है, जो सभी आनुभविक है। ये पॉच युक्तियॉ निम्न है–

(i) असदकरणात –इस युक्ति का तात्पर्य है कि कारण व्यापार के पूर्व कारण मे कार्य के असत् (अविद्यमान) होने पर उसे उत्पन्न ही नही किया जा सकता है। जैसे–बन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग, आकाश कुसुम, आदि।[3] इसकी व्याख्या करते हुये वाचस्पति मिश्र कहते है कि कारण – व्यापार के पूर्व असत् कार्य को कोई भी सत् (उत्पन्न) नहीं कर सकता है, जैसे–हजारो कुशल कारीगर भी नीले

---

1 वेदान्त सार, पृष्ठ–14.

2 साख्यप्रवचनभाष्य 1/113 एवं 1/114 तथा साख्यतत्व कौमुदी–9

3. कार्यसत् असदकारणात्। यत् असत् तत् अकरणकम् यथा शशश्रृंगम्। यच्च करणकम् क्रियमाणं तत् सत् यथा धटः। – तत्वकौमुदी–9, पृष्ठ–94.

रग को (जिसमे पीले का अभाव है) पीला नही कर सकते है।[1] वस्तुत एक ही कार्य उत्पत्ति पूर्व असत् और उत्पत्ति के अनन्तर सत् नही हो सकता, जो सत् है वह तीनो कालो मे सत् ही रहेगा। सत् और असत् का एक कालिक सम्बन्ध नही माना जा सकता है। इस विषय मे कोई तर्क उपस्थित करता है कि – जैसे एक ही घट कच्चा रहने पर श्यामवर्ण का और पक जाने पर रक्तवर्ण का होने के कारण अवस्था भेद से दो विरूद्ध धर्मो का आश्रय बनता है, उसी प्रकार एक ही घट कारण व्यापार के पूर्व असत् व कारण व्यापार के बाद सत् हो सकता है। किन्तु साख्यियो का कहना है कि यह ठीक नही है क्योकि धर्मी के बिना धर्म की स्थिति सम्भव नही है। उत्पत्ति से पूर्व धर्मी घट का अभाव रहने पर असत् रूप धर्म उसमे आधेय रूप से कैसे रह सकेगा ? इसीलिये कारण व्यापार से पूर्व भी घट रूप कार्य सत् ही रहता है। वस्तुत जिस असत्व धर्म का, न तो धर्मी घट से कोई सम्बन्ध ही है और न वह धर्म धर्मीरूप ही है तो उसके आधार पर घट असत् कैसे कहा जा सकता है। इसलिये जिस प्रकार कारण व्यापार के अनन्तर कार्य सत् होता है उसी प्रकार उसके पूर्व भी कार्य सत् रहता है।[2] इसको स्पष्ट करते हुये वाचस्पति मिश्र कहते है कि जिस प्रकार नीलकमलम् का अर्थ नीलगुण का आश्रय कमल (न्याय के अनुसार) तथा नील गुण से अभिन्न कमल (साख्य के अनुसार) है, उसी प्रकार असत् घट का अर्थ भी असत्व धर्म का आश्रय घट (न्याय के अनुसार) तथा असत्व धर्म से अभिन्न घट (साख्य के अनुसार) है। पहला अर्थ इसलिये उपपन्न नही हो सकता कि जब तक कमल के समान घट को विद्यमान नही मानते, तब तक असत्व धर्म को समवाय सम्बन्ध से घट मे आश्रित या विद्यमान कैसे कहेगे ? दूसरा अर्थ भी इसलिये भी उपपन्न नहीं होता कि असत् अभाव का तथा घट भाव का द्योतक है तथा भाव व अभाव का तादात्म्य असम्भव है।[3] अत असत् घट यह वाक्य

---

1 असत् चेत कारण व्यापारात पूर्व कार्यम्, नास्यसत्व कर्त्तु केनापि शक्यम्, नहि नील शिल्पि सहस्त्रेणादि पीत्व कर्त्तु शक्यते। –वही, पृष्ठ–93

2 तसमात् कारण व्यापारा दूर्ध्वमिवतत प्रागपिसदेव कार्यमिति – तत्वकौमुदी–9, पृष्ठ–94

3 वही, पृष्ठ–95.

निरर्थक है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कारण व्यापार के पश्चात् की ही भाँति कारण–व्यापार के पूर्व भी कार्य सत् रहता है। साथ ही अनुभव से यह सिद्ध है जैसे तिल से तेल की अभिव्यक्ति। वस्तुत यह सिद्धान्त गीता के इस वक्तव्य के अनुकूल है कि असत् का कभी भाव नही होता और सत् का कभी अभाव नही होता–

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत,, गीता–2/16

(ii) **उपादानग्रहणात्ः**– इसका तात्पर्य यह है कि कार्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कारण ही कार्य को उत्पन्न कर सकता है, कोई भी कारण नही। वस्तुत किसी विशेष कार्य को चाहने वाला व्यक्ति उसके उपादान को ही ग्रहण करता है। उपादान वही वस्तु है, जिसमे कार्य उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान रहता है। यह उपादान ही परिणित होकर उपादेय रूप मे प्रगट होता है जिससे कारण–कार्य के पारस्परिक सम्बन्ध का निश्चय होता है। यह सम्बन्ध ही उपादान उपादेय भाव है[1], जैसे–मृत्तिका या तन्तु, घट या पट के उपादान हैं, जो परिणित होकर उपादेय (घट या पट) बनते है। स्पष्ट है, उपादेय घट या पट, अपने उपादन मे सूक्ष्म रूप से विद्यमान है, तभी घट चाहने वाला कुम्भकार मृत्तिका का ही ग्रहण करता है, तन्तु नही। इससे सिद्ध होता है कि उत्पत्ति के पूर्व कारण मे कार्य विद्यमान है।

(iii) **सर्वसम्भवाभावात्** – यह तृतीय हेतु, द्वितीय हेतु के पूरक मे ही प्रयुक्त हुआ है। सत्कार्यवाद के पक्ष मे तीसरा हेतु यह है कि यदि कार्य का उसके कारण मे पूर्व अभाव (असत्) माना जाय तो किसी भी वस्तु की उत्पत्ति किसी अन्य वस्तु से हो सकती है। बालू से तेल निकल सकता है, जल से दही जम सकता है, आकाश से घृत की उत्पत्ति हो

---

1 उत्पत्ते प्राक्कार्यम् उपादान सम्बद्धम् नज्जन्यत्वात् यच्च न उपादान सबद्धयम् न तत् जन्यम् यथा मृद पटादिकम्। –तत्वकौमुदी, पृष्ठ–96

सकती है, इत्यादि। यही नही, एक ही पदार्थ से समस्त ससार की उत्पत्ति भी असभव न होगी। किन्तु अनुभव इसके विपरीत है। अत किसी कार्य की उत्पत्ति तत्सम्बद्ध कारण से ही होती है, असम्बद्ध से नही। इसी बात को साख्यतत्व कौमुदी मे विवेचित करते हुये कहा गया है कि –

"असत्ते नास्ति सम्बद्ध कारणै सत्त्वसगिभि ।

असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थिति ।।"[1]

अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् मानने पर विद्यमान कारणो के साथ उस कार्य का सम्बन्ध नही हो सकता तथा यदि कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानने पर कोई व्यवस्था नही होती है। अत सम्बद्ध कारण से ही कार्य की उत्पत्ति स्वीकार की जा सकती है।

(iv) **शक्तस्य शक्यकरणात्** – तात्पर्य यह है कि शक्य कारण से ही शक्य कार्य उत्पन्न हो सकता है अर्थात् जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने मे समर्थ होता है वही उसे उत्पन्न कर सकता है, अन्य नही। इस सन्दर्भ में नैयायिको का कहना है कि कार्य से असम्बद्ध रहता हुआ भी सत् कारण उस कार्य को उत्पन्न कर सकता है जिसमे वह शक्ति युक्त हो। अत मृत्तिका आदि कारणो मे उत्पत्ति पूर्व घटाद्याकार का अस्तित्व स्वीकार करना अनावश्यक है। वस्तुत कारण मे एक प्रकार की शक्ति की कल्पना कर लेनी चाहिये, जिसके आधार पर कार्यकारण का नियमन हो सकता है। किन्तु वाचस्पतिमिश्र इस मत का खण्डन करते हुये कहते है कि "शक्त" (कार्य जनन शक्तिमान) कारण मे आश्रित यह शक्ति, सभी कार्यों के उत्पादन मे प्रवृत्त होती है या केवल उसके द्वारा शक्य (उत्पाद्य) कार्य में ही प्रवृत्त होती है ? यदि सभी कार्यों के विषय मे प्रवृत्त

1 तत्वकौमुदी, पृष्ठ–96 पर उद्धृत

तो उपर्युक्त अव्यवस्था ज्यो की त्यो बनी रहेगी और यदि उत्पाद्य कार्य–विशेष के विषय मे ही शक्ति हो तो शक्ति कार्य के अविद्यमान होने पर उस कार्य के विषय मे ही कारण की शक्ति प्रवृत्त होती है, यह नही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी नही कहा जा सकता है कि कारण मे एक प्रकार की शक्ति होती है जो कार्य–विशेष को उत्पन्न करती है, सभी कार्यो को नही, क्योकि ऐसा मानने पर यह प्रश्न उठेगा कि यह विशिष्ट शक्ति कार्य–विशेष से सम्बद्ध है या नही ? यदि सम्बद्ध है तो असत्कार्यवाद से उसका सम्बन्ध नही होगा और यदि कार्य सम्बद्ध नही है तो उपर्युक्त अव्यवस्था बनी रहेगी। अत कारण मे शक्ति तत्व को स्वीकार न कर, शक्त कारण द्वारा शक्य कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करनी चाहिये। कारण मे अव्यक्त रूप से विद्यमान कार्य ही उसकी शक्ति है।[1]

(v) **कारणभावात्** – सत्कार्यवाद की स्थापना के निमित्त प्रस्तुत यह तर्क कारण कार्य की अभिन्नता पर आधारित है। इसके अनुसार "कार्य के कारण से अभिन्न होने से, उत्पत्तिपूर्व कार्य की सत्ता कारण मे सिद्ध है।" वस्तुत. साख्याचार्यों का कहना है कि कार्य–कारण का रूपान्तर मात्र है और दोनों का स्वभाव एक ही है।[2] अत दोनो अभिन्न है और अभिन्न होने से कारण को सत् मानने पर कार्य को भी सत् मानना पडेगा। साख्य दर्शन मे कारण से कार्य की अभिन्नता को सिद्ध करने के लिये अवीतानुमान का आश्रय लिया गया है –

(a) कारण एव कार्य, धर्मी एव धर्म,– एक दूसरे से सर्वथा पृथक नही है, जैसे–पट रूप कार्य तन्तु समूह रूप कारण से भिन्न नही है, क्योकि वह पट तन्तुओ का धर्म है, तन्तुओ में आश्रित है, अतएव उनमे समवाय

---

1 "कारण शक्ति विद्यमान विषयाः विषयित्वात् ज्ञानवत्"

–तत्वकौमुदी–9, पृष्ठ–100 एवं साख्य प्रवचन भाष्य 1/117

2 "अथवा कारण भावादिति कारणस्वभावात्। यत्स्वभाव कारण तत्स्वभावं कार्यम्" सांख्यकारिका–9, (जयमंगला)

सम्बन्ध से है। साथ ही, जो पदार्थ जिससे भिन्न होता है वह उसका धर्म नही होता है, यथा गो अश्व का धर्म नही है क्योकि वह उससे भिन्न है। पट तन्तुओ का धर्म है, इसलिये पट तन्तु से भिन्न नही है।[1]

(b) कार्य, कारण की अभिन्नता का दूसरा हेतु उपादान–उपादेय भाव है। जो भी दो पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते है । उनमे उपादान–उपादेय भाव नही रहता है। जैसे–घट–पट, परन्तु तन्तु और पट मे उपादान–उपादेय भाव है अत तन्तु और पट अभिन्न है।[2]

(c) कार्य, कारण की अभिन्नता का तृतीय हेतु सयोग का अभाव और विभाग का अभाव है। जिन दो पदार्थो मे भेद होता है, उनमे ही सयोग और विभाग होता है।[3]

(d) कार्य, कारण की अभिन्नता का अन्तिम हेतु यह है कि उपादान के गुरूत्व से कार्य के भार मे भेद न होना।[4] सामान्यतया देखा जाता है कि जो जिससे भिन्न होता है उसमे उसकी अपेक्षा कुछ न कुछ भार भिन्नता आवश्यक होती है। परन्तु कारण एवं कार्य मे भार भिन्नता नही होती है। यह और बात है कि नैयायिक कारण–कार्य मे भार–भिन्नता का प्रतिपादन करते है।[5] परन्तु किसी भी तुला द्वारा कारण व कार्य में भार भिन्नता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसलिये दोनो मे भार–भिन्नत्व न सिद्ध होने से कारण व कार्य को अभिन्न माना जाता है।

---

1 न पटस्तन्तुभ्योभिद्यते, तन्तुधर्मत्वात्। इहच्चतोभिद्यतोभिद्यते तत् तस्यधर्मो न भवति यथा गौरश्वस्य।

त्वकौमुदी–9, पृष्ठ–100

2 उपादानोपादेयभावाच्च नार्थान्तरत्व तन्तुपटयो ।

–साख्यतत्व कौमुदी–9, पृष्ठ–100

3. तन्तुपटौ परस्पर भेदाननुयोगिनौ सयोगा प्राप्य अभावात्–वही

4. इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरूत्वात्तर कार्य अग्रहणात–वही

ज्ञातव्य है कि, कार्य–कारण मे अभेदत्व को सिद्ध करने वाले उपर्युक्त तर्क व्यतिरेक–व्याप्ति मूलक है तथा इस आधार पर उत्पत्ति पूर्व कार्य के सत्व का अनुमान इस प्रकार किया जा सकता है – "कार्यम् उत्पत्ते प्रागपि सत्, कारणात्मकत्वात् उभयमत सिद्ध कारणवत्" (तत्व कौ0–पृष्ठ–104)। इस प्रकार पूर्वाक्त हेतुओ के आधार पर साख्य आचार्यो ने कारण–कार्य की अभिन्नता के आधार पर उत्पत्ति के पूर्व कार्य के सत्व का प्रतिपादन किया है।

किन्तु साख्य के सत्कार्यवाद की कुछ दार्शनिक कटु आलोचना करते है। इनके आलोचको मे असत्कार्यवादी न्याय–वैशेषिक और विवर्तवादी शकर–प्रमुख है। न्यायिको का कहना है कि कारण एव कार्य मे स्पष्ट भेद होता है और इस प्रकार कार्य उत्पत्ति पूर्व अपने कारण मे असत् होता है। इनका कहना है कि कारण व कार्य भिन्न–भिन्न है और यह भिन्नता **क्रियाबुद्धिव्यपदेश** (यह उत्पन्न होता है, ऐसी प्रातीति से), **निरोधबुद्धिव्यपदेश** (यह विनष्ट होता है, ऐसी प्रतीति से), **सम्बन्ध बुद्धिव्यपदेश** (तन्तु में पट होता है, ऐसा आधार आधेय सम्बन्ध के व्यवहार से) **अर्थक्रियाव्यपदेश** (प्रयोजन निर्वाहकता के भेद से, जैसे पट से आवरण किया जाता है, तन्तु से नही) – के आधार पर मानना आवश्यक है।[1]

परन्तु साख्याचार्यों ने नैयायिको के इन आक्षेपो का दृढतापूर्वक उत्तर दिया है। सत्कार्यवाद पर पहला आक्षेप –क्रियाबुद्धिव्यपदेश और निरोधबुद्धिव्यपदेश के आधार पर किया जाता है, जिसका तात्पर्य है कि – यदि कार्य–कारण से भिन्न नही है तथा कारण के समान उसका अस्तित्व भी उत्पत्ति व अनुत्पत्ति दोनों अवस्थाओं में स्वीकार किया जाता है तो कारण के समान कार्य को भी नित्य स्वीकार किया जाना चाहिये और कार्य को नित्य मानने पर इसके लिये किये गये सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जायेंगे। किन्तु सामान्य व्यक्ति का अनुभव है कि हम किसी कार्य की उत्पत्ति के लिये बराबर प्रयत्न करते है और प्रयत्न के अनन्तर उसे उस रूप में पाते भी है। साथ ही, जो वस्तु एकबार उत्पन्न हुयी वह सदा स्थायी नही रह सकती, उसका विनाश अवश्यम्भावी है।

---

1 तत्वकौमुदी 9, पृष्ठ 101, पूर्वपक्ष तथा न्यायवार्तिक–2/1/33–35

इसलिये किसी वस्तु के विषय मे यह कहना कि उसका उत्पाद व विनाश होता है तथा वह सदा बनी भी रहती है– परस्पर व्याघाती कथन है। अत कार्य की सत्ता को उत्पत्ति के अनन्तर ही स्वीकार किया जाना चाहिये, उससे पूर्व नही। परन्तु प्रतिपक्षी की इस आशका का समाधान साख्याचार्य ''कूर्म'' के उदाहरण द्वारा करते है– जिस प्रकार कछुये के अग बाहर नि सृत होने पर प्रगट हो जाते है और शरीर मे प्रवृष्टि हो जाने पर तिरोहित हो जाते है, उसी प्रकार ''मृत्तिका'' या स्वर्णपिण्ड से घट या मुकुट–कार्य नि सृत होने पर ''उत्पन्न हुये'' – ऐसा कहा जाता है तथा उसी मिट्टी मे मिल जाने पर ये विनष्ट हुये ऐसा कहा जाता है।[1] वस्तुत कार्य की कोई नवीन उत्पत्ति नही होती है। ऐसा नही हो सकता है कि जो असत् है वो उत्पन्न हुआ और जो सत् है उसका नाश हुआ। किसी कार्य के नष्ट हो जाने पर वह अपने अनागत अवस्था को प्राप्त हो जाती है। वस्तुत उस समय भी कार्य, कारण रूप से सत् है परन्तु अभिव्यक्त अवस्था की दृष्टि से असत् है। जैसे –मुद्गर प्रहार से घट के अदर्शन होने पर घट का नाश नही होता, अपितु घट अपने कारण मे तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार विनाश होने पर भी हर अवस्था मे घटादि कार्य का अस्तित्व बना रहता है। **विज्ञानभिक्षु का भी कहना** है कि– कार्य की अतीत अवस्था ही कार्य का नाश है।[2] साथ ही कार्य की अतीत व अनागत् अवस्था का ज्ञान योगज प्रत्यक्ष के द्वारा होता है।[3] पातञ्जल योग दर्शन मे भी इसी बात को बडी सूक्ष्मता से बताया गया है कि किसी वस्तु के उत्पाद और विनाश, उसके धर्मपरिणाम, लक्षणापरिणाम व अवस्थापरिणाम के अतिरिक्त कुछ नही है। जैसे–एक स्वर्णकुण्डल को तोडकर उसका रूचक बना लिया जाता है तब स्वर्ण के स्वरूप मे कोई अन्यथा भाव नही आता (वह स्वर्ण ही रहता है) पर उसका कुण्डल भाव तिरोहित होकर, रूचक भाव अभिव्यक्त हो जाता है।[4] कार्य के उत्पाद व

---

1 वही, पृष्ठ 104

2 नाश. कारणलय. – सांख्य प्रवचन भाष्य 1/121

3. योगिप्रत्यक्षत्वान्यथानुपत्त्यानागतातीतयोरूपयोरेव सत्व सिद्धः, –वही पृष्ठ–249

4 योग भाष्य– 3/14

विनाश के सम्बन्ध मे आचार्य वार्षगण्य का मत भी उल्लेखनीय है। इनके अनुसार–"यह जगत् जब अपनी अभिव्यक्त अवस्था मे आता है, वही इसका उत्पाद है। परन्तु यह सदा इस अवस्था मे रह नही सकता, क्योकि यह एकान्त नित्य नही है, अत अभिव्यक्त अवस्था से दूर हो, अतीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। किन्तु इस अवस्था मे भी इसका अस्तित्व बना रहता है क्योकि कोई वस्तु जो सद्रूप है उसका अभाव या नाश नही हो सकता है। अतीत की अवस्था मे प्रतीति न होने कारण उसका अनभिव्यक्त अवस्था मे चला जाना है। कार्य अवस्था मे जो उसका उपयोग था वह कारण अवस्था मे सभव नही, इसलिये उसकी सूक्ष्मता उसके दर्शन की आयोग्यता कही जाती है।"[1] वस्तुत किसी वस्तु की अभिव्यक्ति उसका उत्पाद तथा अभिव्यक्ति के उपगम का नाम विनाश है। 'वस्तुतत्व' सदा बनी रहती है और इस प्रकार साख्य–योग दर्शन मे उत्पाद एव विनाश का तार्किक निरूपण किया गया है।

इसीप्रकार कार्य–कारण की अभिन्नता पर दूसरा आक्षेप "सम्बन्धबुद्धि व्यपदेश" के आधार पर दिया जाता है। इसके अनुसार "इन तन्तुओ मे पट है"–ऐसा व्यवहार होने से तन्तु व पट मे स्पष्टत भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, अत. दोनो (कार्य, कारण) भिन्न है, अभिन्न नही।[2] साख्यतत्व कौमुदी मे वाचस्पतिमिश्र इन आक्षेपो का उत्तर देते हुये कहते है कि "इन तन्तुओ मे पट है"– ऐसा जो भेदपरक व्यवहार किया जाता है, उससे कार्य कारण मे भेद सिद्ध नही किया जा सकता है। पट के अन्तर्गतावस्थापन्न तन्तुओ मे "इन तन्तुओ मे"– ऐसी बुद्धि होती है और पट के वर्तमानवस्थापन्न तन्तुओ मे 'यह पट है" ऐसी बुद्धि होती है। इस प्रकार एक ही वस्तु मे भिन्न–भिन्न व्यवहार होने पर भी विरोध नही होता है।[3] पुनः "इन तन्तुओ मे पट है" मे आधार–आधेय भाव

---

1 साख्य सिद्धान्त , पृष्ठ 140 से उदधृत

2 प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ–541

3 साख्यतत्व कौमुदी 9, पृष्ठ 101

दिखाकर जो भिन्नता प्रतिपादित की जाती है, वह भी ठीक नही है। जिस प्रकार 'इस बन मे तिलक के वृक्ष है'— ऐसा व्यवहार किया जाता है, परन्तु वृक्ष व बन मे कोई भेद नही है, बल्कि वृक्षो के समूह को ही बन कह दिया जाता है। ठीक उसी प्रकार कारण–कार्य, तन्तु–पट भिन्न नही, बल्कि अभिन्न है।[1]

आगे नैयायिक "अर्थक्रियाव्यपदेश" के आधार पर भी कार्य, कारण के भिन्नत्व का प्रतिपादन करते है। उनके अनुसार कारण व कार्य–दोनो भिन्न–भिन्न प्रयोजन की सिद्धि करते है, (तन्तु सीवन का कार्य करता है और पट आवरण का) अत कारण, कार्य भिन्न है, अभिन्न नही।[2] किन्तु साख्य दार्शनिक–प्रयोजन की भिन्नता के आधार पर कारण कार्य मे भेद स्वीकार नही करते है क्योकि इनके अनुसार एक ही पदार्थ भिन्न–2 प्रयोजनो को सिद्ध करते देखे जा सकते है। जैसे–एक ही अग्नि जलाने, प्रकाश करने तथा पकाने का कार्य करती है, किन्तु इससे अग्नि भिन्न–भिन्न नही हो जाती है। इसलिये प्रयोजन भिन्नता कार्य व कारण के भिन्नता का प्रतिपादन नही कर सकती है।[3] इस विषय पर यदि नैयायिक यह कहे कि क्रिया सम्पादन नियम मे अर्थ क्रियाभेद (व्यवस्थित) होने से कार्य कारण मे भेद सिद्ध होता है, तो यह भी ठीक नही है क्योकि एक ही वस्तु के मिलकर कार्य करने मे एव पृथक–पृथक कार्य करने मे भी अर्थक्रियाभेद देखा जाता है। जैसे–पालकी ढोने वाले भृत्यो मे प्रत्येक भृत्य पृथक–पृथक पालकी वहन नही करता परन्तु सभी एक साथ मिलकर पालकी वहन करते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक तन्तु मे आवरण धर्म प्रगट न रहने पर भी जब वे तन्तु परस्पर सयुक्त होते हैं तब उनमें आवरण धर्म प्रगट हो जाता है।[4] इसलिये प्रयोजन भिन्नता कार्य–कारण भिन्नता के प्रतिपादनार्थ सद् हेतु नही है। इस प्रकार साख्य दार्शनिक नैयायिको के आक्षेपो का परिहार करते हुये कार्य कारण की अभिन्नता का प्रतिपादन करते है।

---

1 इह तन्तुषु पट इति व्यपदेशो, यथेह वने तिलिका इत्युपपन्न– वही पृष्ठ 104

2 न्यायवार्तिक 2/1/33

3 नाप्यर्थ क्रिया वयवस्था वस्तुभेदे हेतु – तत्वकौमुदी 9, पृष्ठ 104

4 "यथा प्रत्येक विष्टयोवर्त्मदर्शन लक्षणामर्थक्रिया कुर्वन्ति, न तु शिविका वहनम्, मिलितास्तु शिविका बहन्ति एव तन्तव . आविर्भूतपटभाव. प्रावरिष्यन्ति" -- वही

साथ ही जब साख्य दार्शनिक कारण व कार्य की अभिन्नता को दिखलाते हुये यह कहते है कि कार्य का तात्पर्य कारण की अभिव्यक्त अवस्था है तो नैयायिक यह शका करते है कि कारण से कार्य की यह अभिव्यक्ति, कारण–व्यापार के पूर्व सत् है या असत् ?[1] यदि अभिव्यक्ति को असत् स्वीकार करते है तो असत्कार्यवाद का प्रसग उपस्थित होगा और यदि अभिव्यक्ति सत् है तब कारण व्यापार की क्या आवश्यकता ? पुन यदि साख्य दार्शनिक यह कहे कि अभिव्यक्ति भी पहले अनभिव्यक्त अवस्था मे रहती है और उसे कारण व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है–तब ऐसे मे अनवस्था दोष का प्रसग उपस्थित हो जायेगा।[2]

किन्तु वाचस्पतिमिश्र इस प्रकार की शका का कोई सन्तोषप्रद समाधान प्रस्तुत नही करते, अपितु इस विष मे वे कहते है कि उपर्युक्त दोष जिस प्रकार सत्कार्य के आविर्भाव मे लागू होता है, उसी प्रकार असत्कार्य की उत्पत्ति मे भी लागू होगा। अत "यश्चोभयो समोदोष परिहारोऽपि वा सम नैक पर्यनुयोक्त व्यस्तादृगर्थविचारणे"–इस नियम से दानो मे दोष के समान होने पर दोनो को मौन रहना चाहिये।[3] किन्तु साख्यसूत्र मे इस शका का निवारण किया गया है तथा विज्ञानभिक्षु इसकी व्याख्या करते हुये कहते है कि–"अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानने पर अनवस्था दोष को प्रसग जो दिखता है उसके लिये यह आवश्यक है कि बीज व अकुर के समान अभिव्यक्ति की परम्परा को आधार बनाकर विवेचना करनी चाहिये।" यह परम्परा इस प्रकार है – किसी कार्य की पहले अभिव्यक्ति, पश्चात् अनभिव्यक्ति और उसके बाद पुन अभिव्यक्ति – यह परम्परा बराबर चलती रहती है। जैसे – बीज से अकुर और अकुर से पुन बीज। इस प्रकार अनवरत परम्परा के चलते रहने पर भी अनवस्था दोष नही माना जाता है।[4] अतः कारण व्यापार के द्वारा पूर्व विद्यमान कार्य ही अभिव्यक्त होता है, तर्कतः सिद्ध होता है।

---

1 'स्यादेतत् आविर्भाव पटस्य कारणव्यापारात् प्राक सन् असन् वा।.. – वही पृष्ठ 107, साख्या प्रवचन भाष्य पृष्ठ–250

2 "आविर्भावे चाविर्भावान्तर कल्पनेऽनवस्था प्रसग" –साख्य प्रवचन भाष्य, 1/121

3, तत्वकौमुदी, पृष्ठ 108

4 पारम्पर्यतोऽनवेशण बीजाकुरवत्–वही 1/122 (साख्य प्रवचन भाष्य)

उल्लेखनीय है कि नैयायिको के साथ–2 (अद्वैत–वेदान्ती) विवर्तवादी भी परिणामवाद की आलोचना करते है। इनका कहना है कि उत्पत्ति के अनन्तर कार्य की वास्तविक सत्ता स्वीकार नही की जा सकती है। कार्य, कारण की दृष्टि से ही सत् है, कारण से निरपेक्ष कार्य की वास्तविक सत्ता नही है। वस्तुत कार्य भ्रम या मिथ्या है। साथ ही, कारण कार्य अभिन्न है (जैसा परिणामवादी भी स्वीकार करते है) और वो अभिन्न पदार्थो मे–दोनो ही यथार्थ नही हो सकते। उनमे से एक ही यथार्थ होगा, दूसरा अवश्य ही भ्रम होगा।[1] पुनरपि यदि कार्य कारण दोनो को वास्तविक माना जाय तो, वे वस्तुत दो ही होगे, एक नही। जैसे अश्वमहिष। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उपादान कारण से पृथक प्रतीत न होने के कारण उसका कार्य उससे अभिन्न है और अभिन्न होने से कार्य की सत्ता अवास्तविक है।[2] इसके जवाब मे साख्याचार्यो का कहना है कि उपादान के सत् होने के कारण उससे अभिन्न कार्य सत् ही होगा, असत् नही क्योकि कारण के गुण ही कार्य मे आते है।[3] इसके अतिरिक्त सत् और असत् दो परस्पर विरूद्ध धर्म है, तथा दो विरूद्ध वस्तुओ को अभिन्न नही कहा जा सकता है। इसलिये सत् वस्तु से अभिन्न वस्तु सत् ही होगी, असत् नही।[4] इस प्रकार साख्य दार्शनिक कारण के 'सत्परिणाम' के रूप मे कार्य को सत् स्वीकार करते हुये– दोनो को तात्विक दृष्टि से अभिन्न स्वीकार करते है।

जहॉ तक योग–दर्शन मे कारणता सिद्धान्त की बात है तो यह दर्शन इस सिद्धान्त की व्याख्या धर्म–धर्मी भाव के आधार पर किया है।[5] यहॉ धर्म (कार्य), धर्मी (कारण) में द्रव्य व गुण के समान आश्रय–आश्रयी भाव से है।[6] वस्तुत

---

1 शारीरक भाष्य – 2/1/17

2 वही

3 "कारण गुणा ही कार्यगुणानारभन्ते" – वैशेषिक सूत्र

4 "न हि कारणादि भिन्न कार्यं। कारण च सदिति कथ तदभिन्न कार्यमसद् भवेत्"

– तत्वकौमुदी 9, पृष्ठ 100

5 योगभाष्य–3/13

6 वही, 3/14

जिस प्रकार गुण निराधार नही रह सकते और निर्गुण द्रव्य की कल्पना नही की जा सकती है, उसी प्रकार धर्म के बिना धर्मी की कल्पना नही की जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक धर्मी आधार मे, भिन्न–भिन्न धर्म आधेयरूप से रहते है। जैसे –एक मृत्तिका रूप धर्मी मे अनन्त धर्म घट, सकोरा आदि विद्यमान है, अथवा एक अग्नि मे दहन,पाचन,प्रकाशन रूप अनन्त धर्म विद्यमान है। इसीलिए योगसूत्र एव योगभाष्य मे धर्मी की योग्यता विशिष्ट शक्ति, को धर्म तथा "अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त धर्मो के अनुपाती सामान्य विशेषात्मक अन्वयी द्रव्य को धर्मी" कहा गया है।[1] यद्यपि एक धर्मी मे अनन्त धर्म विद्यमान होते है, परन्तु इनमे से कुछ धर्म अभिव्यक्त तथा कुछ धर्म अनभिव्यक्त रहते है। वस्तुत इन्ही धर्मो का अविर्भाव तथा तिरोभाव होता रहता है जिसे धर्मी का परिणाम कहा जाता है। योग दर्शन मे परिणाम को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि "पूर्व धर्म की निवृत्ति होने तथा नये धर्म के आगमन होने पर भी धर्मी का अवस्थित रहना (परिवर्तित न होना) परिणाम है।"[2] कहने का तात्पर्य यह है कि परिणाम धर्मी का न होकर उसमे विद्यमान असख्य धर्मो का होता है। ज्ञातब्य है कि साख्य दर्शन मे मूलधर्मी (कारण) को निरन्तर परिणमनशील[3] स्वीकार करते हुये भी अपरिवर्तित माना गया है। वास्तव मे इसका कारण यह है कि मूलधर्मी मे असख्य धर्म विद्यमान होते है और ये धर्म ही भिन्न–भिन्न रूप से निरन्तर परिणमनशील है। इन धर्मो के निरन्तर अविर्भाव तथा तिरोभाव रूप परिणाम के कारण उसका आधार धर्मी भी निरन्तर परिणमनशील स्वीकार किया जाता है, यद्यपि कि धर्मी स्थिर है। इस प्रकार साख्य दार्शनिको का कहना है कि वस्तु मे परिवर्तन उनके धर्मो के कारण होता है।

---

1 योग्यता विच्छिनन धर्मिण शक्तिरेव धर्म.. य एतेष्वभिव्यवत्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्य विशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी। – वही

2 अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्म निवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम – वहीं 3/13

3 परिणामस्वभावाहि गुणानापरिणाम्यक्षणमत्य तिष्ठन्ते – तत्व कौमुदी –16

जैसा कि हम जानते है कि प्रकृति–परिणामवाद के अन्तर्गत तीन दार्शनिक सम्प्रदाय आते है–साख्य, योग, और द्वैतवादी मध्वा। स्पष्टत मध्वाचार्य का कारणता सिद्धान्त, वेदान्त की अभिन्न निमित्तो पादान कारण परम्परा से भिन्न है। वस्तुत मध्वा भेद पर अत्यधिक बल देने के कारण निमित्त व उपादान के भेद को स्वीकार करते है।[1] इनके अनुसार निमित्त कारण ब्रह्म है, परन्तु उपादान कारण प्रकृति है। इस प्रकार यह जगत प्रकृति का वास्तविक विकार या परिणाम है। ज्ञातव्य है कि मध्वा उपादानकारण मे दो प्रकार का परिणाम स्वीकार करते है– धर्मपरिणाम व धर्मीपरिणाम।[2] धर्मपरिणाम धर्मलक्षणावस्था परिणाम है तथा धर्मीपरिणाम तत्वान्तर परिणाम है। अनित्य द्रव्यो जैसे– दूध, मिट्टी आदि मे तत्वान्तर परिणाम होता है, परन्तु नित्य द्रव्यो जैसे– प्रकृति, आत्मा, काल आदि मे पराधीन विंशेषाप्ति रूप परिणाम होता है।[3]

ध्यातव्य है कि आधुनिक काल के कुछ प्रमुख अध्येता मध्वाचार्य को भी वेदान्त की एकत्ववादी विचारधारा मे पर्यवसित होना स्वीकार करते है।[4] उनके अनुसार जीव व जगत, स्वरूप, सत्ता और प्रतीति की दृष्टि से ईश्वराधीन व परतनत्र है।[5] जिस प्रकार प्रतिबिम्ब, बिम्ब से ही सत्ता, प्रतीति एव प्रवृत्ति ग्रहण करता है, उसी प्रकार परतन्त्र पदार्थ जीव जगत आदि भी ब्रह्म से ही सत्ता का ग्रहण करते है।[6] ब्रह्म और तदिरिक्त द्रव्यो मे अविनाभाव सम्बन्ध है, इसलिये ईश्वर को उनका उपादान कारण भी माना जा सकता है।[7] इसीलिये यह मत द्वैतवादी होते हुये भी वस्तुत वेदान्त की एकत्ववादी विचारधारा मे पर्यवसित होता है।[8] परन्तु वास्तविकता तो यह है कि माध्व दर्शन साख्य के परिणामवाद

1 वेदान्त का विकास और स्वरूप – पृष्ठ 269
2 भारतीय दर्शन – नन्दकिशोर देवराज, पृष्ठ–618
3 पराधीन विशेशाप्तिरूत्पत्ति सर्वस्म। वही पृष्ठ'618
4 वेदान्त का विकास – महेन्द्र शेखावत, पृष्ठ–112
5 स्वरूप प्रमिति प्रवृत्ति लक्षण सत्ता त्रेविध्येपरानपेक्षम्। वही उद्धृत
6 वही
7. पूर्ण प्रश्नदर्शन 1/4/24, 1/4/27
8 वेदान्त का विकास, पृष्ठ–112

के ज्यादा निकट प्रतीत होता है। अभी तक वेदान्त दर्शन मे ब्रह्मवाद की जो दार्शनिक एकत्ववादी परम्परा चली आ रही थी उसका मध्वाचार्य ने अतिक्रमण किया एव ब्रह्म से जड व जीव को पृथक मानकर ब्रह्म की निमित्त कारणता की धारणा पर विशेष बल दिया है। अत मध्व को वेदान्त की एकत्ववादी विचारधारा का प्रतिनिधि स्वीकार नही किया जा सकता है। वस्तुत मध्वा प्रकृति परिणामवादी है।

3.2 ब्रह्मपरिणामवाद :–

ब्रह्मपरिणामवाद, सत्कार्यवाद का एक विशिष्ट प्रकार है जो यह मानता है कि यह समस्त जगत ब्रह्म कारण का तात्विक परिणाम है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि जगत को कार्य रूप माने तो इसका कारण ब्रह्म है और यह ब्रह्म तत्व इस कारणात्मक प्रक्रिया मे निमित्त व उपादानकारण दोनो रूपो मे प्रस्तुत होता है। स्पष्ट है, जब ब्रह्म निमित्त व उपादानकारण – दोनो की भूमिका मे है तो इस स्थिति मे स्वभावत कार्य–जगत, कारण– ब्रह्म से तत्वत अभेद की स्थिति मे होगा। परिणामस्वरूप यहॉ कारणता की सत्कार्यवाद की अवधारणा घटित होती है और साथ ही यहॉ मूल कारण ब्रह्म है अत सत्कार्यवाद के इस रूप को ब्रह्म परिणामवाद कहा जाता है (परिणामवाद शब्द तात्विक परिवर्तन को इंगित करता है)। उल्लेखनीय है कि ब्रह्मपरिणामवाद को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायो मे **विशिष्टाद्वैत** (रामानुज), **द्वैताद्वैत** (निम्बार्क), **शुद्धाद्वैत** (बल्लभ), **अचिन्त्यभेदाभेद** (चैतन्य) प्रमुख है। इस प्रकार हम कह सकते है कि द्वैतवादी (मध्वा) को छोडकर लगभग सभी वैष्णव–वेदान्ती ब्रह्मपरिणामवाद को स्वीकार करते है।

ज्ञातव्य है कि, वेदान्ती प्रचलित प्रमाणो (प्रत्यक्ष, शब्द, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, आदि) को आधार बनाते हुए अपनी वैचारिक स्थिति को पुष्ट करना चाहते है। किन्तु ये अपनी दार्शनिक विवेचना मे अन्य प्रमाणो के साथ–साथ श्रुति प्रमाण का व्यापक प्रयोग करते है। ऐसी स्थिति मे हम ब्रह्म–परिणामवाद की विवेचना मे श्रुतिवाक्यो को भी जगह–जगह उद्धृत करेगे। साथ ही, ब्रह्मपरिणाम के विवेचन व विश्लेषण मे हम इसका एक तरफ जहॉ आलोचनात्मक परीक्षण करते चलेगे, वही दूसरी तरफ इस प्रश्न पर भी विचार करेगे कि ये दार्शनिक (वैष्णववेदान्ती) किस प्रकार कारण–ब्रह्म व कार्य–जगत के बीच अनन्यत्व का तार्किक प्रतिपादन करते है ?

वास्तव में सत्कार्यवाद की स्थापना के लिये सभी वैष्णव आचार्य, सूत्रकार (वादरायण) द्वारा प्रयुक्त तर्को का ही आश्रय लेते है। सूत्रकार, ब्रह्मसूत्र के

द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद मे उत्पत्ति से पूर्व कारण मे शक्ति रूप से कार्य की स्थिति स्वीकार करते है। उनका तर्क है कि – "शक्ति रूप से कार्य की सत्ता होने पर ही उसकी उपलब्धि होती है।"[1] वस्तुत जो वस्तु नही होती है, उसकी उपलब्धि भी नही होती है, जैसे बन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम व खरगोश की सीग आदि। इसलिये उत्पत्ति से पूर्व कारण मे कार्य की सत्ता माननी पडेगी। साथ ही सूत्रकार श्रुति के आधार पर भी उत्पत्ति से पूर्व कारण मे कार्य की सत्ता स्वीकार करते है।[2] इसी प्रकार उनका कहना है कि जिस प्रकार उत्पत्ति से पूर्व कारण मे कार्य की सत्ता है, उसी प्रकार उत्पत्ति के अनन्तर भी कार्य की सत्ता है। इसे वे 'पट' के दृष्टान्त द्वारा समझाते है।[3] जिस प्रकार सूत्र मे पट अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, परन्तु बुनने से पहले वह नही दिखता और जैसे ही उसे बुन लिया जाता है वह कपडे के रूप मे प्रकट हो जाता है। स्पष्ट है, बुनने से पहले तथा बुनने के बाद – दोनो ही अवस्थाओ मे पट सत् (विद्यमान) होता है और सत् होने से अभिन्न भी है। ठीक इसी प्रकार यह जगत उत्पन्न होने से पहले ब्रह्म मे स्थित है और उत्पन्न होने के बाद भी उससे पृथक नही है। इस प्रकार सूत्रकार उत्पत्ति से पूर्व कारण मे शक्ति रूप से कार्य की सत्ता स्वीकार करते हुये न केवल कारण कार्य अनन्यत्व का प्रतिपादन करते है, अपितु जगत की मूलकारण मे स्थिति स्वीकार करते हुये ब्रह्म को समस्त चराचर जगत का एकमात्र कारण व जगत को ब्रह्म का सत् परिणाम स्वीकार करते है।

उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के नासदीय सूक्त, पुरूष सूक्त एव प्रमुख उपनिषदो मे एक अद्वितीय, सचेतन सत् को जगत्–कारण स्वीकार किया गया था। इसी परम्परा का अनुसरण करते हुये वेदान्त दर्शन के यथार्थवादी व्याख्याकार भी ब्रह्म की मूलकारणता का सिद्धान्तत प्रतिपादन करते है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथमपाद मे आचार्य बादरायण– ब्रह्म–परिणामवाद की स्थापना करने हेतु, साख्यसम्मत प्रकृतिपरिणामवाद का खण्डन करते है।

---

1. ब्रह्मसूत्र 2/1/15–20

2 सत्वाच्चावरस्य, वही 2/1/16

3 पट्वच्च, – ब्रह्मसूत्र–2/1/19

उनके खण्डन का आधार यह है कि साख्य द्वारा अभिमत प्रकृति परिणामवाद श्रुति का विरोध करती है। अत बादरायण साख्य के प्रकृति परिणामवाद के लिये 'अशब्दम'[1] होने का आरोप लगाते है। इस आरोप का आधार श्रुति सम्मत "ऐक्षते"[2] की अवधारणा है जो मूलकारण मे सकल्प व अनुचिन्तन को सिद्ध करती है। इसी प्रकार श्रुतियो मे स्पष्टत "तदैक्षत् बहुस्या प्रजायैय"[3] "सईक्षत लोकान्नु सृजै"[4] – आदि कथनो द्वारा मूलकारण को सकल्प युक्त स्वीकार किया गया है तथा निश्चय ही इस प्रकार का सकल्प सचेतन कर्त्ता की ही विशेषताये हो सकती है। वस्तुत प्रकृति (साख्य का मूलकारण) मे इस सचेतन क्षमता का अभाव उसे मूलकारण बनने से वचित करता है। इस प्रकार सूत्रकार श्रुतियो को आधार बनाते हुये प्रकृति से भिन्न, प्रज्ञानात्मक मूलकारण की स्थापना करते है।

साथ ही सूत्रकार ब्रह्मकारणवाद की स्थापना के लिये ब्रह्म को जगत की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय का मूल कारण घोषित करते है[5] तथा इसके लिये पर्याप्त तार्किक व श्रुतिसम्मत् तर्क भी प्रस्तुत करते है। श्रुति के आधार पर ब्रह्म की मूलकारणता को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार यह हवाला देते है कि वैदिक शास्त्रो मे सत्य, ज्ञान एव अनन्ता से समन्वित ब्रह्म को ही जगत कारण माना गया है। अत जगत का मूलकारण ब्रह्म ही है।[6] साथ ही जगत की मूलकारणता के विषय में सूत्रकार यह तर्क भी प्रसतुत करते हैं कि ईक्षण गुण से युक्त होने के कारण ब्रह्म ही जगदादि की उत्पत्ति कर सकता है।[7] किन्तु यहॉ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जीवात्मा भी ईक्षण गुण से सम्पन्न है, अत इसे भी क्यों नही जगत् कारण स्वीकार किया जाता है ? इस सम्बन्ध मे सूत्रकार

1 वही, 1/1/5

2 ऐतरेय उपनिषद–1/1/1

3 छान्दोग्य उपनिषद्–6/2/3

4 ऐतरेय उपनिषद–1/1/1

5 "जन्माद्यस्य यत:,, – ब्रह्मसूत्र 1/1/2

6 "शास्त्रयोनित्वात्"– वही, 1/1/3

7 'ईक्षतेर्नाशब्दम' – वही 1/1/5

''भेदविपदाश्च''[1] के माध्यम से स्पष्ट करते है कि ईक्षण की उपस्थिति भले ही जीवात्मा मे हो, किन्तु वह जगत कारण नही हो सकता है, क्योकि मात्र ब्रह्म ही आनन्दमय है, न कि जीवात्मा।[2] स्पष्ट है आनन्द की अवधारणा सुख से सम्बद्ध नही है, बल्कि यह आत्मपूर्णता की सूचक है। जबकि जीवात्मा अपूर्ण, दुःख व शोक से सम्पृक्त है, इसलिये मात्र ब्रह्म को ही जगत्कारण के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रयोजनमूलक तर्क के आधार पर भी वेदान्त दर्शन मे ब्रह्मकारणता की स्थापना की गयी है। 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाच्च'[3] सत्र के द्वारा ब्रह्म को न मात्र समय की क्रमिकता मे प्रथम कारण घोषित किया गया है, अपितु जीवात्मा के लिये उसे एक गन्तव्य स्थल (प्राप्तव्य लक्ष्य) के रूप मे भी स्थापित किया गया है। इन समस्त विवेचनाओ से ध्वनित होता है कि वेदान्ती प्रकृति भिन्न, ब्रह्म को जगत्कारण रूप मे स्थापित करते है और इस स्थापना मे वे ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण के साथ–साथ उपादान कारण भी स्वीकारते है।

ध्यातव्य है कि वैष्णव–वेदान्ती ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त व उपादानकारण स्वीकार करते है तथा उन सिद्धान्तो को वेद–वाह्य मानते है जो निमित्त व उपादानकारण मे भेद करते है और ब्रह्म (ईश्वर) को मात्र निमित्तकारण मानते है।[4] उल्लेखनीय है कि ब्रह्मसूत्र मे ''तन्तुसमन्वयात्''[5] के माध्यम से ब्रह्म की उपादानकारणता सिद्ध की गयी है। यहॉ समन्वयात् का अर्थ है– ''समस्त जगत में पूर्णरूप से व्याप्त होने के कारण''। साथ ही श्रुति भी ब्रह्म की अभिन्निमित्तोपादान कारणता सिद्ध करती है।[6] इसके अतिरिक्त, श्रुति मे आये हुये प्रतिज्ञा व दृष्टान्त भी ब्रह्म की मूल उपादान कारणता सिद्ध करते

---

1 ब्रह्मसूत्र – 1/1/17

2 वही, –1/1/16 एव तैतिरीय उपनिषद्–2/6

3 वही, 1/1/7

4 'निमित्तोपादान योस्तुभेद वदन्तो वेद वाह्या एवस्यु' – वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ 187

5. ब्रह्मसूत्र –1/1/4

6 श्रुति सिद्धस्य विश्वकर्त्तु: श्रौतमुपादानत्वम् अपि प्रस्तौति। –तत्व मु0–25

करते है।[1] इसकी व्याख्या करते हुए रामानुजाचार्य कहते है कि – छान्दोग्य उपनिषद मे प्रतिज्ञा (जिसे जान लेने पर अश्रुतश्रुत व अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है) तथा दृष्टान्त (जैसे –एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सम्पूर्ण मिट्टी के पदार्थो का ज्ञान हो जाता है दोनो यह प्रतिपादित करते है कि ईश्वर जगत का निमित्तकारण ही नही, उपादान कारण भी है। वस्तुत यदि ब्रह्म जगत का निमित्तकारण मात्र है तो उसके ज्ञान से समस्त का ज्ञान नही, हो सकता है, जैसे कि कुम्भकार के ज्ञान से घट आदि का ज्ञान नही हो सकता है। इनका कहना है कि केवल निमित्तकारण मानने से प्रतिज्ञा व दृष्टान्त मे बाधा उपस्थित होती है। इसलिये ब्रह्म को उपादान कारण मानने से ही कार्यरूप समस्त जगत का ज्ञान हो सकता है, फलत ब्रह्म जगत का उपादान कारण भी है।[2]

इसी प्रकार ब्रह्म की अभिन्निमित्तोपादान कारणता सिद्ध करने के लिये 'ब्रह्मसूत्र' मे ''अभिध्योपदेशाच्च''[3] कहा गया है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए रामानुज ब्रह्म को समस्त चिदचिदात्मक जगत के अभिन्निमित्तोपादान कारण रूप मे स्वीकार करते है।[4] रामानुज के अतिरिक्त अन्य वैष्णव आचार्य यथा– निम्बार्क, बल्लभ, चैतन्य आदि भी ब्रह्म को अभिन्नमित्तोपादान कारण स्वीकार करते है। निम्बार्काचार्य ब्रह्म को इसलिए निमित्तोपादान कहते है क्योकि ब्रह्म को सृष्टि के लिये प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी उपादान की अपेक्षा नही होती है और यह प्रकृति ब्रह्म से भिन्न नही अपितु ब्रह्म की शक्ति ही है। अत प्रकृति की अपेक्षा होने पर भी ब्रह्म अभिन्निमित्तोपादान कारण है।[5] जबकि बल्लभाचार्य ब्रह्म एव जीवजगत में पूर्ण अभेद का प्रतिपादन करते है। ये जगत रूप कार्य के लिये ब्रह्म मे प्रकृति अपेक्षा को भी स्वीकार नही करते क्योंकि प्रकृति अनेक विरोधी गुणों का आश्रय है। इसलिये बल्लभ का मानना है कि

1 छान्दोग्य उपनिषद् 6/1/2–4

2 श्रीभाष्य 1/4/23 एव वेदार्थ सग्रह 20–25

3 ब्रह्मसूत्र– 1/4/24

4 समस्त चिदचिदात्मक प्रपञ्चस्य सदुपादानता सन्निमित्तता। – वेदार्थ संग्रह पृष्ठ 27–31

5 निमित्तत्वमुपादानत्व च ब्रह्मण आम्नानात् ब्रह्मैवोभय रूपम्–वेदान्त पारिजात सौरभ 1/4/24

ब्रह्म ही एकमात्र अभिन्निमित्तोपादान कारण है।[1] **ज्ञातव्य है कि बल्लभदर्शन में उपादानकारण को समवायिकारण कहा गया है। परन्तु यह समवायि न्यायवैशेषिक से भिन्न अर्थ रखता है।**[2] इसप्रकार ब्रह्मसूत्र एव उसके यथार्थवादी व्याख्याकारो (मध्वा को छोडकर क्योकि यह ब्रह्म को अभिन्निमित्तिोपादान कारण नही मानता) ने ब्रह्म की अभिन्निमित्तिोपादानकारणता को स्वीकार किया है।

किन्तु ये ब्रह्मपरिणामवादी जब ब्रह्म को निमित्तोपादान कारण के रूप मे स्वीकार करते है तो इनके सम्मुख कुछ तार्किक प्रश्न उठते है। वस्तुत जहॉ तक ईश्वर (या ब्रह्म) के निमित्त कारण का प्रश्न है तो इस सन्दर्भ मे कोई आपत्ति नही है क्योकि वह एक चेतन परमतत्व है, सर्वज्ञ है व जगत–सर्जन की क्षमता रखता है। किन्तु जब यह कहा जाता है कि वह (ब्रह्म या ईश्वर) अपने को उपादान बनाकर विविध चिदचित् जगत के रूप मे परिणत होता है, तब यह स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि ईश्वर (ब्रह्म) की जगत रूप मे परिणति कैसे हो सकती है? उसकी परिणति मानने पर उसकी (ईश्वर) निर्विकारता कैसे सुरक्षित रह पाती है? साथ ही इस चेतन ब्रह्म का सत्परिणाम, अचेतन जगत कैसे हो सकता है? उपर्युक्त प्रश्नो के सम्बन्ध मे वैष्णव आचार्यो का मत है कि ब्रह्म, 'चिदचित्' विशिष्ट है और चित् व अचित् ब्रह्म की दो शक्तियॉ है जिनमे रूपान्तरण होता है। इस सन्दर्भ मे भास्कराचार्य का कहना है कि जिस प्रकार दूध दही के रूप मे परिणित होता है वैसे ही ईश्वर स्वय अपनी इच्छा, ज्ञान व अनन्तता से अपने आपको जगत रूप मे परिवर्तित करता है।[3] ईश्वर निरवयव होते हुये भी जगत रूप मे परिणित होता है– इस कथन मे कोई असंगति नही है क्योकि वह अपनी विभिन्न शक्तियो को अपनी इच्छा से रूपान्तरित कर ऐसा परिणाम ला सकता है। वस्तुत ईश्वर की दो शक्तियॉ है जिनके रूपान्तरण से ही वह भोक्ता व भोग्य रूप जगत मे अपने को परिणित करता है। 'जिसप्रकार'

---

1 ''निमित्तकारण समवायिकारण च ब्रह्मैव'' – अणुभाष्य 1/4/23

2 वेदान्त का विकास और स्वरूप, पृष्ठ 269

3 भाष्कर भाष्य 2/1/27 तथा 1/4/25

सूर्य अपने बिम्ब मे से किरणो को प्रसारित कर पुन अपने मे समेट लेता है, ठीक उसीप्रकार ईश्वर जगत का निर्माण व समाहार करता है।[1] किन्तु रामानुज का मत भास्कराचार्य से कुछ भिन्न है। साथ ही निम्बार्क व वल्लभ का मत भास्कर के अधिक निकट प्रतीत होता है। निम्बार्काचार्य भी दूध व दही के उदाहरण द्वारा शक्ति रूप से ब्रह्मपरिणामवाद को स्वीकार करते है।[2] इनका कहना है कि शक्ति के विक्षेप द्वारा ब्रह्म स्वय जगत रूप मे परिणित हो जाता है। किन्तु परिणित होने पर भी उसका अविकारी स्वरूप क्षीण नही होता है क्योकि ब्रह्म का परिणाम उसकी शक्ति के योग से ही होता है। जैसे मकडी अपने स्वरूप को बनाये रखकर भी अपनी शक्ति का विक्षेप करके जाले के रूप मे परिणित हो जाती है। इसलिये परिणामी होते हुये भी ब्रह्म अविकारी बना रहता है।[3] उल्लेखनीय है कि बल्लभाचार्य भी अविकृत परिणामवाद के ही समर्थक है। उनके मत मे सत् चित व आनन्द रूप ब्रह्म जब अपने चित् व आनन्द अश को तिरोहित कर लेता है तब जडजगत के रूप मे और जब मात्र आनन्द अश को तिरोहित करता है, तब जीव रूप मे परिणित होता है। इसीलिये भौतिक चीजो मे चैतन्य और चेतन जीवो मे आनन्द गुण आवृत्त रहते है।'[4] फलस्वरूप ब्रह्म मे विकृति नही आती है।'

जबकि रामानुजाचार्य ब्रह्म परिणामवाद की व्याख्या करते हुये कहते है कि ब्रह्म का जगत रूप मे परिणाम होता है।'[5] ये परिणाम के दो भेद स्वीकार करते है– (i) स्वरूप से और दूसरा (ii) शरीरात्म भाव से। रामानुज कहते है कि ब्रह्म मे स्वरूप परिणाम नही माना जा सकता है क्योकि स्वरूप परिणाम

---

1 वही -

2 ''क्षीरवत् कार्य कारणे ब्रह्मपरिणामते स्वासाधारण शक्तिमत्वात्'' –वेदान्त पारिजात सौरभ, 2/1/23

3 कृतिविषयत्वं परिणामात् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्ति विक्षेपेण जगदाकार स्वात्मान परिणम्य, अव्याकृतेन, स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति। – वेदान्त पारिजाता सौरभ, 1/4/26

4 संदशेन जडा पूर्व चिदशेनेतरे अपि

5 श्री भाष्य, 1/4/27

मानने पर ईश्वर के निर्विकारत्व, निरवद्यत्व प्रतिपादक श्रुतियॉ कुम्पित हो जायेगी।[1] तथा"तदैक्षत् बहुस्या प्रजाये" रूप ब्रह्म की सत्यसकल्पना भी बाधित हो जोयेगी।[2] पुन ईश्वर का स्वरूपोपादान इसलिये भी नही हो सकता कि – "अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्", 'माया तु प्रकृति विद्यात्', प्रकृतिस्वभावष्टभ्य विसृजामि,–आदि श्रृति वाक्य प्रकृति के स्वरूपोपादान का वर्णन करते है।[3]

किन्तु प्रश्न उठता है कि जब प्रकृति ही उपादानकारण है तब ब्रह्म के निमित्तोपादान कारणत्व का क्या अर्थ है ? इस सम्बन्ध मे रामानुज का कहना है कि जीव और प्रकृति (जिनसे जगत का निर्माण हुआ है) ईश्वर के अशभूत तत्व है और इसीलिये ईश्वर को इस जगत का उपादान कारण माना जाता है। जीव (चित्) और प्रकृति (अचित्) दोनो ईश्वर पर आश्रित है और ईश्वर द्वारा ही सचालित होते है।[4] वस्तुत जीव व प्रकृति का ईश्वर के सकल्पाधीन होकर स्थूलरूप मे प्रकट होना ही उनकी उत्पत्ति कही जाती है।[5] किन्तु इस प्रकटीकरण मे ब्रह्म के नियामक अश यानि ईश्वर मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है, वही चित् व अचित् (नियाम्य अंश) मे परिवर्तन होता है। साथ ही, ये दोनो अश स्थूल होकर नाम रूप ग्रहण कर लेते है। इस प्रकार अव्यक्त प्रकृति व्यक्त हो जाती है और जीवात्माओ के कर्म के अनुसार फलभोग प्रदान करंने के लिये नाम–रूपात्मक जगत मे विकसित हो जाती है तथा चिदश जीवात्मा शरीरधारी बन जाता है। साथ ही ईश्वर नियामक रूप मे उनमे प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार प्रकृति जीव व ईश्वर परस्पर सयुक्त होकर स्थूल रूप मे प्रकट होते है।[6] यह ब्रह्म की स्थूल कार्यावस्था है। ब्रह्म की कारणावस्था

1 ब्रह्मण स्वरूपेण परिणामास्पदत्व निर्विकारत्व निरवद्यत्व श्रुतिव्याकोप प्रसगेन निवारितम्। – वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ 114

2 वही, पृष्ठ–33

3 वही, पृष्ठ–114, 115

4 श्रीभाष्य 1/1/4, 2/1/15–गीता पर रामानुज भाष्य (11/40)

5 वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ–117

6 वही

उसकी कार्यावस्था से भिन्न है और इस कारणावस्था मे ब्रह्म, चित् व अचित् को अपने मे धारण करके रहता है। इस सूक्ष्म अवस्था से स्थूल अवस्था मे सचरण से उसकी स्वाभाविक स्थिति मे कोई परिवर्तन नही आता क्योकि वह एक अविकृत सत्ता है, जो अपने अशो मे परिणामरूप विकार होने के बावजूद स्वय विकृत नही होती है। वस्तुत यह सत्ता केवल अवस्था परिवर्तन करती है।[1] इसप्रकार सभी ब्रह्मपरिणामवादी अभिन्निमित्तोपादान कारण रूप ब्रह्म के सत्परिणामरूप जगत की यथार्थ सत्ता का प्रतिपादन करते हुये ब्रह्म के अविकारी रूप की अक्षुण्णता बनाये रखते है तथा ब्रह्म परिणामवाद का तार्किक प्रतिपादन करते है।

उल्लेखनीय है कि कुछ समालोचक ब्रह्मपरिणामवाद पर आक्षेप करते है। पहला आक्षेप यह है कि क्या ब्रह्म पूणरूप से जगत के रूप मे परिणत होता है या आशिक रूप से ? यदि हम ब्रह्म की पूर्णरूपेण जगतरूप मे परिणति स्वीकार करेंगे तब जगत से भिन्न ब्रह्म नाम की कोई वस्तु ही नही रहेगी। पुन यदि ब्रह्म को सावयव स्वीकार कर उसकी आशिक परिणति स्वीकार करे तो यह श्रुति विरूद्ध होगा।[2] इस आक्षेप का परिहार करते हुये पहले ही बताया जा चुका है कि – ब्रह्म एक अविकृत सत्ता है जो चित्, अचित् शक्ति से समन्वित है। वस्तुत ब्रह्म मे परिणाम इन शक्तियो के कारण होता है, इसलिये उसका अविकृत स्वरूप, विकृत नही होता, फलत श्रुति का विरोध भी नही होता है।[3]

इसीप्रकार ब्रह्मपरिणामवाद पर दूसरा आक्षेप यह लगाया जाता है कि यदि जगत ब्रह्म का सत् परिणाम है तब जगत को अपने उपादान ब्रह्म केस्वरूप का होना चाहिये तथा उससे अभिन्न भी होना चाहिये क्योकि परिणाम –वादी मान्यता के अनुसार कार्य, अपने कारण के स्वरूप का तथा तत्वत उससे अभिन्न होता है, किन्तु प्रथम दृष्टया ब्रह्म व जगत् मे वैलक्षण्य दिखता है। जहॉ ब्रह्म

---

1 "कारणभूत द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता" – वेदार्थ सग्रह, पृष्ठ–17

2 कृत्स्नप्रसक्तिनिर्रवयवत्व शब्दकोपो वा। – ब्रह्मसूत्र 2/1/26

3 श्रीभाष्य 2/1/27–28, अणुभाष्य वही

शुद्ध, एक व चेतन सत्ता है, वही जगत अशुद्ध, अनेकता सम्पन्न तथा जड है।[1]

पुन यदि जगत ब्रह्म का सत्परिणाम है, तब प्रलयकाल मे सम्पूर्णजगत के ब्रह्म मे विलीन हो जाने पर जगत के जडत्व व अन्य दोषो से ब्रह्म दूषित हो जायेगा।[2] अत जगत ब्रह्म का सत्परिणाम नही है और न ही ब्रह्म जगत का करण है। इस सभी शकाओ का समाधान करते हुये वैष्णव वेदान्ती कहते है कि वाह्य जगत मे ऐसे अनेक उदाहरण है जो विलक्षण होते हुये भी कार्यकारण भाव से उत्पन्न होते देखे जाते है। जैसे–चेतनव्यक्ति से जड नख व बाल तथा अचेतन गोबर आदि से चेतन गुबरोल।[3] इसी प्रकार जब प्रलयकाल मे कार्य अपने कारण मे विलीन होता है तब वह अपने जडत्व आदि दोषो से कारण (ब्रह्म) को दोषयुक्त नही करता।[4] अत ब्रह्म जगत का कारण एव जगत ब्रह्म का सत्परिणाम है और इस प्रकार जगत व ब्रह्म में अनन्य है।

ध्यातव्य है कि ब्रह्मपरिणामवादी जगत व ब्रह्म मे अनन्यत्व दिखाते हुये एव सत्कार्यवाद की मूलमान्यता का अनुसरण करते हुये कारण व कार्य मे स्पष्टत अनन्यत्व का प्रतिपादन करते है। इनका कहना है कि कार्य, कारण की एक अवस्था मात्र है और दोनो मे तत्वत कोई भेद नही है। कारण भूत द्रव्य ही अवस्थान्तर योग से कार्य कहा जाता है। जैसे– लपेटे वस्त्र तथा फैले हुये वस्त्र मे कोई अन्तर नही होता। बल्कि उनमे जो अन्तर दिखायी पडता है उसका कारण यह है कि जब वस्त्र मुक्त अवस्था में नही था, तब उसके विस्तार का ज्ञान नही था, किन्तु मुक्त अवस्था मे उसके विस्तार का स्पष्ट दर्शन हो जाता है। यह अन्तर अवस्था व कालभेद का परिणाम है। वस्तुत दोनो अवस्थाओ मे वस्त्र, वस्त्र ही रहता है। इसीप्रकार कारण व कार्य, अवस्था व काल भेद के कारण, दो भिन्न रूप को धारण करते है परन्तु ये मूलत एक ही है।[5]

---

1 न विलक्षणत्वादस्य तथात्व च शब्दात्। ब्रह्मसूत्र–2/1/4

2 अपितौ तद्वत्प्रसगादसमज्जसम्। वही 2/1/8

3 मुण्डक उपनिषद, 1/1/7

4 ब्रह्मसुत्र 2/1/9, श्री भाष्य वही

5 वेदान्तसार, पृष्ठ–28

३.३ विवर्तवाद :

विवर्तवाद, कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त सत्कार्यवाद का ही विशिष्ट रूप है। वस्तुत ऐसे सभी दार्शनिक या सम्प्रदाय जो कार्य को विर्वत या आभास मात्र मानते है और ऐसा मानकर जगत के नानात्व का निराकरण करते हुये एकतत्ववाद की प्रतिष्ठा करते है, – विर्वतवादी कहलाते है। कहने का तात्पर्य यह है कि यहॉ कार्य (नानात्व) की तात्विक सत्ता का खण्डन कर कारण (एकत्व) अदृश्य की ही सत्ता का वास्तविक प्रतिपादन किया जाता है। ऐसी विचारधारा का स्पष्ट उद्घाटन पाश्चात्य दर्शन मे ब्रैडले के दर्शन मे देखा जा सकता है क्योकि ब्रैडले भी अपनी पुस्तक ''आभास एव सत्'' मे जगत के प्रातीतिक स्वरूप को आभास कहता है एव नानात्व का निराकरण करते हुये एक मात्र निरपेक्ष सत् का प्रतिपादन करता है। इसप्रकार हम देखते है कि जो दार्शनिक एक तरफ बहुलवाद व द्वैतवाद की समस्या से बचना चाहते है और साथ ही परमसत् को जगत के विरोधो से बचाते है (अथार्त् तात्विक परिवर्तन को नकारते है) तो उनकी तार्किक आवश्यकता विवर्तवाद है। स्पष्ट है, विवर्तवाद मे एक मात्र कारण को ही सत् माना जाता है तथा कार्य को प्रतीति या आभास मानते है। उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन मे इस विचार धारा का मुख्य–प्रतिपादक प्रत्ययवादी यानि अद्वैतवेदान्ती आचार्य शकर है, किन्तु कुछ आचार्य जो शकर से पहले थे, उनके दर्शन मे भी विवर्तवाद का बीजरूप स्पष्टत दिखता है। साथ ही शकर के परवर्ती भी कुछ आचार्य है जो न्यायवैशेषिक के असत्कार्यवाद के खण्डन के निमित्त सत्कार्यवाद या विवर्तवाद की तार्किक प्रतिष्ठा करतें है।

ज्ञातव्य है कि शकर के पूर्ववर्त्ती आचार्य जिनके दर्शन मे विवर्तवाद का कारणता सम्बन्धी दृष्टिकोण देखने को मिलते है, उनमे वशिष्ठ तथा गौड़पाद प्रमुख है। जहॉ तक **आचार्य वशिष्ठ** का सवाल है तो इनकी कृति
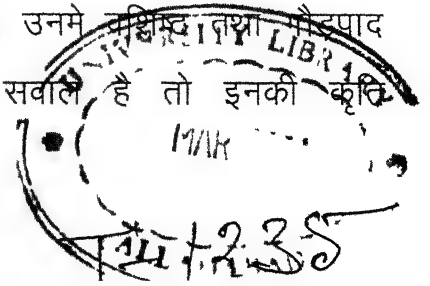
योगवाशिष्ठ, है और इस कृति मे इन्होन असत् जगत की बडी विशद विवेचना की है। योगवशिष्ठ के अनुसार जगत ईश्वर द्वारा उत्पन्न है और उसी के द्वारा शास्त्रार्थ व व्यवहार सम्भव है, किन्तु परमार्थ के बारे मे यह सत्य नही है।[1] यह ईश्वर एक तथा नित्य होते हुये किसी प्रकार के विकार को प्राप्त नही होता है।[2] वह जो एक और अनन्त है, किसी चीज को कैसे उत्पन्न कर सकता है।[3]

जबकि गौडपाद भारतीय दर्शन के वह प्रथम व्यवस्थित विचारक है जिन्होने कार्यकरण की श्रृखला से परमसत् को परे रखा। उनके अनुसार कार्य–कारण सम्बन्ध नही है। कार्य–कारण सम्बन्ध से परमसत् अशुभ की समस्या से जडित हो जाता है। अत परमसत् एव जगत मे पारमार्थिक दृष्टि से कार्यकारण सम्बन्ध नही है। कार्य–कारण सम्बन्ध द्वैत पर आधारित है। अत गौडपादाचार्य ब्रह्म एव जगत् मे तादात्म्य स्थापित करते हुए ब्रह्म को ही सत् तथा जगत् को अयर्थाथ मिथ्या सिद्ध करते है।

माण्डूक्य कारिका के द्वितीय अध्याय मे जगत् के यथार्थ स्वरूप का निराकरण किया गया है। इस सम्बन्ध मे उनका तर्क है कि यदि प्रपच को किसी प्रकार का सत्तामूलक पद प्रदान किया जाय तब परमसत् से उसके सम्बन्ध का प्रश्न उठ खडा होगा। अत गौडपाद जगत् के अस्तित्व को स्वप्नवत् मानते है।[1] इसके अतिरिक्त उन्होने सत् का एक प्रतिमान प्रस्तुत किया है जिसे प्रयोग कर तार्किक अधार पर जगत् को वितथ (अयथार्थ) सिद्ध किया जा सके। यह प्रतिमान निम्न है –

आदावन्ते च यन्नारित्त वर्तमानेऽपि नत्तथा।
वितथै· सदृशा· सन्तोऽविथा इव लक्षिता।।

माण्डू0 2/6

अर्थात् जो आदि मे नही है अन्त मे नही है तो वह वर्तमान मे भी वैसा ही है अर्थात् असत् है। इसी प्रकार यह जगत् उत्पन्ति से पूर्व नही था, तथा प्रलय के

---

1. योग वाशिष्ठ – 4/40/70
2 वही
3 वअही 4/40/26

बाद भी नही रहेगा, अत वस्तुत इसकी सत्ता नही है। यह स्वप्नवत् मिथ्या ही है। जैसा कि **भागवत् में भी कहा गया है** कि – जो वस्तु पहले नही थी और पीछे नही रहेगी वह मध्य मे भी नही है वह केवल व्यपदेश मात्र है।[1] अत जगत तथा जागरित वस्तुएवे स्वप्नवत् मिथ्या ही है तथा मिथ्या होने से अनुत्पन्न। परमार्थत उनकी कोई उत्पत्ति नही होती। इस प्रकार गौडपाद अजातिवाद का प्रतिपादन करते है।

तार्किक दृष्टि से अजातिवाद का प्रतिपादन करते हुए आचार्य गौडपाद कहते है – सत् की उत्पत्ति नही हो सकती क्योकि जो सत् है वह पहले से विद्यमान है और उसकी पुनरूत्पत्ति मानना व्यर्थ है। पुन असत् की भी उत्पति नही हो सकती क्योकि जो असत् है वह बन्ध्यापुत्र के समान है और वह न माया से उत्पन्न हो सकता है न यथार्थ मे। अत अजातिवाद ही सत्य है।[2] गौडपाद कहते है कि हम द्वैतवादियों से विवाद नही करते क्योकि सत् और असत् उभय पक्ष के ये द्वैतवादी एक साथ एक दूसरे के खण्डन द्वारा अजातिवाद की ही पुष्टि करते है।[3] गौणपाद वैदिक परम्परा के आचार्य होते हुए भी उन्होने बौद्धो के अजातिवाद को मान लिया था। जैसा कि उन्होने स्वय कहा है – "उनका (बौद्धो का) जो अजातिवाद विषयक कथन है उसका हम अनुमोदन करते है"।[4] पुन गौडपादाचार्य अजातिवाद के समर्थन मे बौद्धो द्वारा

---

1 नयत्पुरस्तादुतपन्न पश्चाद् मध्ये च तन्नव्यपदेश मात्रम्।
भूत प्रसिद्ध च परेण यद्यत् तदेव तत स्यादितिमेमनीषा।।
भागवत्11/28/21एव 10/87/37

2 माण्डू0 3/27–28

3 भूत न जायेत किंचित अभूत नैवजायते। वही 4/4

4 ख्याण्यमानामजाति तैरनुमोदानहे वयम्।
विवदामों न तै. संधि अविवाद निबोधत्।। माण्डू0 4/5

ये गये तीनो तर्कों को स्वीकार करते हुए उन्ही तर्को के आधार पर जाति की असम्भाव्यता प्रदर्शित करते हुए "अजातिवाद" की स्थापना करते है। ये तर्क निम्न है –

1 कारण मे कार्योत्पाद की शक्ति नही है। अर्थात् उत्पत्ति सामर्थ्य न तो सत् मे हो सकता है, न असत् मे, न सदसत् मे और न सदसत्भिन्न मे।[1]

2 "कार्य" आदि और अन्त दोनो मे अज्ञात रहता है। अर्थात "कार्य" का ज्ञान न आदि मे हो सकता है और न अन्त मे तथा आदि और अन्त मे कार्य का ज्ञान न होने से मध्य मे भी उसका ज्ञान नही हो सकता अत कार्य वस्तुत है ही नही।[2]

3 "कारण और कार्य मे कोई क्रम सिद्ध नही है। गौडपादाचार्य कहते है कि कार्य–कारण की दो कोटियाँ प्रसिद्ध है, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि कौन पहले है। पुन "पूर्वकालभावित्व" और आनन्तर्य नियम दोनो असिद्ध है। इनमे कौन कारण है और कौन कार्य नही कहा जा सकता है।[3]

अत उपर्युक्त **अशक्ति, अपरिज्ञान** और **क्रमकोप** के कारण जाति सिद्ध नही की जा सकती जैसा कि बौद्धो ने प्रतिपादित किया है।[4] वास्तव में सब धर्म अर्थात् बुद्धिग्राह्य पदार्थ जरामरण निर्मुक्त है। जीवात्मा आत्मस्वरूप होने से अज है और जगत्–प्रपच मिथ्या होने से अनुत्पन्न है।[5] इस

---

1 अशक्तिरपरिज्ञान क्रमकोपोऽथवा पुन एव हि सर्वथा बुद्धैरजाति परिदीपता।
मण्डू0 4/19 शा0भा0

2 वही

3 अशक्तिरपरिज्ञान क्रमकोपोऽथवा पुन एव हि सर्वथा बुद्धैरजाति परिदीपता।
मण्डू0 4/19

4 वही

5 जरामरण निमुक्ता सर्वेधर्मा ' स्वभावत । माण्डू0 4/10

6 स्वतो वा परतो वापि न किचिद् वस्तु जयते।

गौडपादाचार्य शून्यवादी नागार्जुन की भॉति सत्, असत्, सद्सत् तथा सदसत् भिन्न मे कार्य कारण का निषेध करते हुए अजतिवाद का प्रतिपादन करते है उनके अनुसार जगत् मूलतत्व का प्रतिभास मात्र है। अविद्या के कारण तत्व ही जगत् रूप से भासित हो रहा है। वस्तुत जगत् की उत्पत्ति नही हो सकती। जिस प्रकार स्वप्न की वस्तुए मिथ्या प्रतीति मात्र है, उसी प्रकार जगत् भी मिथ्या है। वस्तुत जगत् स्वप्नवत् है। इस प्रकार जगत् की वस्तुपरक सत्ता को नकार कर आचार्य गौडपाद कार्य–कारण या उत्पत्ति की सभावना का निराकरण करते है।[1] अत कहा जा सकता है कि अद्वैतवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य गौडपाद कार्य–कारण की समस्या के सन्दर्भ मे अजातिवाद का प्रतिपादन करते है। आचार्य शकर भी परमार्थत अजातिवाद को स्वीकार करते है। परन्तु अजातिवाद को स्वीकार करते हुए भी वे व्यवहार मे कार्य–कारण का निषेध नही करते और इस सम्बन्ध मे "विवर्तवाद" का प्रतिपादन करते है।

उल्लेखनीय है कि शकर के परवर्ती विचारको मे विद्यारण्यमुनि, **अप्पयदीक्षित, प्रकाशानन्द, सर्वज्ञात्ममुनि, श्रीहर्ष** तथा **चित्सुख** उल्लेखनीय है। विद्यारण्य मुनि ने पचदर्शी मे, प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली मे, सर्वज्ञात्ममुनि सक्षेपशारीरक मे, हर्ष **खण्डनखण्डखाद्य** मे और चित्सुख तत्वप्रदीपिका मे कारणता का विशद विवेचन किये है। वास्तव मे इन आचार्यो की कृतियो मे कारणता का विवेचन मूलत शकर से भिन्न नही है, किन्तु निरूपण के स्तर पर इनमे वैशिष्ट्य स्पष्ट रूप से दिखता है। जैसे विद्यारण्य मुनि पचदशी मे विवर्तवाद परिणामवाद एव आरम्भवाद के अन्तर को बहुत ही सूक्ष्मता से व्याख्यायित किया है। जबकि सक्षेपशारीरक मे सर्वज्ञात्ममुनि ने परिणामवाद को विवर्तवाद की पूर्वभूमि कहा है। इनका कहना है कि जब परिणामवाद समझ लिया जाता है तो विवर्तवाद स्वय ही प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार हम देखते कि शकर के पूर्ववर्ती आचार्यो (वशिष्ठ व गौडपाद) मे जहॉ विवर्तवाद का प्रारम्भिक स्वरूप (अजातिवाद) ही दिखता है वही परवर्ती

---

1 स्वतो व परतो वापि न किचित वस्तु जायते।
सदसत् सदसदवापि न किचित वस्तु जायते।। वही 4/22

आचार्यो (विद्यारण्य, अप्पयदीक्षित, प्रकाशानन्द, सर्वज्ञात्ममुनि श्रीहर्ष चित्सुख) मे मात्र निरूपण के स्तर पर ही विशिष्टता दिखती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैतवेदान्त मे विवर्तवाद को पूर्णरूप से प्रतिष्ठित व विवेचित करने का श्रेय आचार्य शकर को ही जाता है।

शंकर का विवर्तवाद :

शकराचार्य एकत्व वादी विचार धारा के प्रतिनिधि होने के कारण सत्ता के तीन स्तरो (पारमार्थिक, व्यावहारिक एव प्रातिभसिक) मे मौलिक भेद की स्थापना करते है। वे अनेकता सम्पन्न एव देशकालात्मक ''कार्य'' को परिपूर्ण सत्तामूलक पद देने के लिए अनिच्छुक है। अत उनके दर्शन मे अधिष्ठान एव आरोपित, सत्ता के तीन स्तरो एव ज्ञान व अज्ञान के बीच मौलिक भेद की स्थापना करते हुए कार्य–कारण की समस्या को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यहॉ कार्य–कारण सम्बन्ध को कुछ सीमा तक गौडपादाचार्य की तरह अज्ञान का ज्ञेय क्षेत्र दर्शाया गया है। वस्तुत शकराचार्य सत्ता के जिस प्रतिमान को स्थापित करना चाहते है, उसकी कसौटी पर कार्य कभी भी खरा नही उतर सकता। देशकाल, अनेकता, अपूर्णता, दु ख एव बन्धन से समन्वित जगत् कार्य ब्रह्मरूपी अधिष्ठान को गरिमा के अनुरूप नही है। अत कार्य–कारण सम्बन्ध को सत्ता के तीन स्तरो मे व्यावहारिक एव प्रतिभासिक स्तर तक सीमित रखना शकराचार्य के लिए एक तार्किक अपरिहार्यता थी। यही कारण है कि शकराचार्य कार्य–कारण की समस्या के सन्दर्भ मे ''विवर्तवाद'' का प्रतिपादन करते है।

शकराचार्य विवर्तवाद की विवेचन मुख्यत ब्रह्म एव जगत् के सम्बन्ध को व्याख्यायित करने के लिए प्रस्तुत करते है। साख्य आदि दर्शन के परिणामवाद के प्रतिकूल उन्होने विवर्तवाद को सृष्टि–कारणता सिद्वान्त के रूप मे प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार कारण ही सत् है कार्य ''वाणि'' का विकार अथवा भ्रम

मात्र है।[1] जगद्रूप कार्य ब्रह्म का विवर्त मात्र है, परिणाम नही। परमार्थत जगत् की कोई उत्पत्ति, स्थिति या विनाश नही है, तथा सृष्टि का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियॉ परमार्थ विषयक नही है, केवल व्यवहार का बोध कराने वाली है।[2] अत अद्वैत वेदान्त मे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति आदि का आशय सृष्टि का विवर्त मानने मे है। इसीलिए अद्वैत दर्शन मे नामरूपात्मक जगत्प्रपच के प्रतिषेधक रूप मे विवर्तवाद की विवेचना तथा परिणामवाद आदि मतो का निराकरण किया गया है।

"विवर्तवाद" एक दार्शनिक परिभाषिक शब्द है जिसकी स्पष्ट व्याख्या परिणामवाद की तुलना मे की गयी है। सर्वज्ञात्ममुनि ने परिणामवाद को विवर्तवाद की अग्रभूमि के रूप मे स्वीकार किया है क्योकि उनके अनुसार परिणाम दृष्टि के बिना विवर्त दृष्टि सम्भव नही है।[3] **वेदान्तसार** मे विवर्तवाद को परिभाषित करते हुए कहा गया है ---

सतत्वोऽन्यथा प्रथ विकार इत्युदीरित ।

अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्तइत्युदाहृत ।

(वेदान्तसार पृ0 14)

अर्थात् तात्विक अन्यथा प्रतीति को परिणाम तथा अतात्विक अन्यथा प्रतीति को विवर्त कहते है। **अप्पय दीक्षित** ने सिद्धान्तलेश सग्रह मे इसी विषय को क्रम से स्पष्ट किया है कि उपादान रूप से अभिमत वस्तु का समान सत्तावाला अन्यथाभाव परिणाम कहलाता है तथा उपादान से विलक्षण अन्यथाभाव विवर्त है।[4] गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो किसी भी वस्तु का अन्यथाभाव दो

---

1 छान्दो0 शा0भा0 6/2/3

2 एत0शा0भा0 2/1/1

3 विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमि वेदान्तवादे परिणामवाद ।
व्यवस्थितेऽस्मिन्परिणामवादे स्वय समायाति विवर्तवाद ।। सशा0 2/61

4 कारण लक्षणोऽन्यथाभाव परिणाम तद्विलक्षणो विवर्त । सि0ले0स0 प्रथम परिच्छेछ पृ0 58

प्रकार का बतलाया गया है–– परिणाम रूप से तथा विवर्त रूप से। परिणाम उसे कहते है, जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को छोडकर दूसरे स्वरूप को प्राप्त हो जाती है। जैसे – दूध अपने स्वरूप को छोडकर दही के आकार मे परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार के परिवर्तन को तात्विक अन्यथा प्रथा या वास्तविक परिवर्तन कहते है। इसके विपरीत अतात्विक अन्यथा प्रथा या विवर्त उसे कहते है, जब कोई वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना ही दूसरे रूप से भासित होने लगती है। जैसे – कोई वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना ही दूसरे रूप से भासित होने लगती है। जैसे रस्सी अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना ही सर्प रूप मे भासित होने लगती है।

"विवर्त" का लक्षण करते हुए एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि – जो वस्तु उपादान रूप से अभिमत वस्तु से अभिन्न होकर निम्न सत्ता वाली हो उसे विवर्त कहते है।[1] इसी प्रकार वेदान्त परिभाषा मे भी विवर्त का लक्षण करते हुए कहा गया है कि उपादान कारण का सदृश कार्य परिणाम कहलाता है तथा विषम कार्य विवर्त"।[2] यह सदृशता तथा विषमता सत्ता की श्रेणी तथा प्रकार मे होती है। जैसे दही दूध का परिणाम है क्योकि इन दोनो की समान व्यावहारिक सत्ता है। इसके विपरीत विवर्तवाद मे कार्य की सत्ता कारण से निम्न है। जैसे – रस्सी– सर्प मे सर्प रस्सी का परिणाम नहीं कहा जा सकता। उस स्थल पर सर्प की प्रतिमासिक सत्ता है जबकि रस्सी की पारमार्थिक। अत सर्प रस्सी का विवर्त है परिणाम नही। विवर्तवाद की उपर्युक्त परिभाषा कारण कार्य मे अपृथक तादात्म्य का भी निरूपण करती है, जैसे कि वहॉ कहा गया है कि "उपादान से अभिन्न होकर निम्न–सत्ता वाली वस्तु विवर्त है।[3] विवर्तवाद की उपर्युक्त परिभाषाए स्पष्टत. कारण को "सत्" तथा कार्य को प्रतीति भ्रम, विवर्त अथवा अध्यास रूप मे निरूपित करती है। इसके अतिरिक्त यहॉ कारण की

---

1 स्वभिन्न न्यून सत्तार्थो, विवर्त इति कथ्यते। वे0सि0सू0म0 1/6

2 परिणामों नामोपादान समसत्ताक कार्यापत्ति ।
विवर्तोनामोपादान विषमसत्ताक कार्यापत्ति ।। वेदान्त परिभाषा पृ0 119

3 वेदान्त परिभाषा पृ0 119

अपेक्षा कार्य को निम्न सत्तावाला स्वीकार किया गया है। इन दोनो मान्यताओ से कारण—कार्य अनन्यत्व का प्रतिपादन तथा वास्तविक परिवर्तन का निराकरण होता है।

परिणामवाद मे जहॉ कारण कार्य मे अनन्यत्व का प्रतिपादन करते हुए परिवर्तन को वास्तविक स्वीकार किया गया है वही विवर्तवाद अवास्तविक परिवर्तन को स्वीकार करता है। विवर्तवादी शकराचार्य भी परिवर्तन को वास्तविक नही मानते है।[1] उनके अनुसार सत्—नित्य, अपरिणामी तथा अपरिवर्तनशील है।[2] तत्व मे किसी भी प्रकार का कोई भी विकास असम्भव है। अत कार्य, कारण की नामरूप आदि उपाधि मात्र है जिससे तत्व अक्षुण्ण तथा अप्रभावित बना रहता है। हमे वस्तु में जो परिवर्तन गत भिन्नता दिखती है, वह मात्र अवस्थागत है। इससे "कार्य" कारण से भिन्न कोई नवीन वस्तु नही हो जाती। और न ही कारण मे कोई विकार या परिवर्तन होता है।[3] जैसे – जब स्वर्ण कुण्डल अथवा कगन रूप—कार्य को उत्पन्न करता है तब यह कहा जाता है, कि स्वर्ण में किसी प्रकार का कोई परिणाम अथवा विकार उत्पन्न नही होता अपितु स्वर्ण मे कुण्डल रूप तथा कंगन रूप की मात्र प्रतीति होती है। इसका तात्पर्य यह नही है कि वस्तुत कुण्डल तथा कगन का कोई अस्तित्व ही नही है। शकराचार्य व्यवहार मे सत्कार्यवाद को स्वीकार करते है। "कार्य" की व्यावहारिक उपयोगिता उन्हे स्वीकार्य है। कगन तथा कुडल स्वर्ण रूप होते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से भिन्न—भिन्न है। दोनो का

---

1 शा0 भा0 2/1/18

2 गीता श0भा0 2/30, बृहदा0 भा0 4/4/25

3 शा0भा0 2/1/15

प्रयोजन भिन्न–भिन्न है।अत कार्य की व्यावहारिक उपयोगिता है। शकाराचार्य के विवर्तवाद का तात्पर्य मात्र इतना है कि कार्य की व्यवहारिक उपयोगिता होते हुए भी तत्वत वह कारण से अभिन्न है।[1] कारण मे कोई वास्वतिक परिवर्तन नही होता। कार्य–कारण की उपाधि है तथा उसे सीमित करती है। "कार्य" वास्तव मे कोई उत्पत्ति नही है वह कारण की उस रूप मे प्रतीति मात्र है। अत व्यावहारिक दृष्टि से उत्पत्ति तथा परिवर्तन को स्वीकार करते हुए भी शकराचार्य वास्तविक परिवर्तन का निराकरण करते हुए परिणामवाद का खण्डन करते है।[2] शकराचार्य के अनुसार यदि कार्य कारण का सत् परिणाम अथवा वास्तविक विकार है तो हमे यह भी स्वीकार करना होगा कि कार्य मे जिस रूप तथा गुण की उत्पत्ति होती है वह भी वास्तविक है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह रूप तथा गुण, उत्पत्ति से पूर्व कारण मे थे या नही। यदि परिणामवादी यह कहे कि यह "रूप" तथा "गुण" भी उत्पत्ति के पूर्व कारण मे विद्यमान थे। तब कम से कम इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि इस रूप तथा गुण की अभिव्यक्ति अथवा उसका स्थूल या व्यक्त रूप तो नया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि या तो परिणाम को सत्य स्वीकार कर नयी उत्पत्ति को स्थान देने मे असत्कार्यवाद को स्वीकार करना होगा, या इस परिणाम को मिथ्या या प्रतीति रूप मे स्वीकार कर विवर्तवाद को अपनाना होगा। **इस प्रकार शंकराचार्य परिणामवाद के तार्किक विकास के रूप में विवर्तवाद का प्रतिपादन करते है। विवर्तवाद कारण को ही सत् तथा कार्य को मिथ्या प्रतीति स्वीकार करते हुए कारण–कार्य अनन्यत्व का प्रतिपादन-करते है।**

शकराचार्य के विवर्तवाद मे कार्य–कारण सम्बन्ध के व्यजक पदो मे

---

1 शा० भा० 2/1/15

2 वही

'तादाम्य'' अव्यतिरेक'' ''अपृथक'' तथा ''अनन्यत्व'' शब्दो का प्रयोग व्यवहृत हुआ है, जिसका आशय एक ही है और वह है –– ''कारण के भाव मे कार्य का भाव तथ कारण के अभाव मे कार्य का भी अभाव'[1]। अर्थात् जिसमे एक पदार्थ की सत्ता दूसरे के बिना सम्भव नही है[2], ऐसे दो पदार्थो का सम्बन्ध तादात्म्य, अनन्य आदि शब्दो द्वारा व्यवहृत होता है। ''विवर्तवाद'' मे कारण के बिना कार्य की सत्ता सम्भव नही है अत यहाँ कार्य–कारण मे अपृथक, तादात्म्य अथवा अनन्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस विषय मे शकराचार्य का प्रथम तर्क है –– **(1) ''भावोचोपलब्धेः (ब्रह्मसूत्र 2/1/15)** अर्थात कारण के होने पर ही कार्य का होना तथा कारण के अभाव मे कार्य का भी अभाव। जैसे मृत्तिका के विद्यमान होने पर घट का उत्पन्न होना तथा मृतिका के अभाव मे घट का अभाव। अत मृत्तिका (कारण) तथा घट (कार्य) अनन्य है। (2) इस विषय मे शकराचार्य का दूसरा तर्क यह है कि –– 'यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्व उत्पद्यते'' (ब्र0सू0 2/1/16) अर्थात् जो जिस स्वरूप से जिसमे नही होता वह उससे उत्पन्न नही होता। जैसे – बालू से तेल। इससे उत्पत्ति से पूर्व कार्य–कारण मे अनन्यत्व की सिद्धि होती है। उत्पत्ति पूर्व कारण कार्य मे अनन्य होने से उत्पन्न हुआ कार्य भी कारण से अनन्य ही है।[3]

कारण–कार्य मे भेद बुद्धि के अभाव से भी दोनो मे अनन्यत्व का प्रतिपादन होता है।[4] यदि कारण कार्य अश्वमहिष के समान भिन्न–भिन्न होते तो इसी प्रकार का उनका ज्ञान भी होता है। परन्तु कार्य के ज्ञान मे कारण ज्ञान निहित-है।''पट'' के ज्ञान मे तन्तु का ज्ञान भी निहित है। जैसे – घट एव

---

1 तद्भावे भावात् तदभावे चा भावात्। शा0भा0 2/2/2

2 वही 2/1/14

3 तसमात्प्रागुत्पत्तेर नन्यथात्वादुप्पन्नमत्यनन्य – देव कारणात्कार्य मित्यवगम्यते।
शा0 भा0 2/1/16 पृ0 373

4 अपि च कार्य कारणर्योद्रव्य गुणादीना चाश्वमहिषवद् भेदबुद्धयाभावन्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्।
वही 2/1/18

मृत्तिका मे घट रूप कार्य के ज्ञान मे मृत्तिका रूप कारण का भी ज्ञान निहित है। घट एव पट का कारण से भिन्न पृथक रूप मे ज्ञान सम्भव नही है, अत कारण–कार्य अनन्य है। यह सत्य है कि कार्य की कारण से नाम रूप से भिन्नता होती है, किन्तु इस नाम रूप से तत्व रूप कारण मे न कोई वास्तविक परिवर्तन होता है, न दोनो भिन्न–भिन्न होते है। जिस प्रकार लपेटे हुए वस्त्र एव फैले हुए वस्त्र मे कोई अन्तर नही होता।[1] उसी प्रकार कारण तथा कार्य अवस्था भेद तथा काल भेद के कारण यद्यपि दो विभिन्न रूप को धारण करते है किन्तु उनके मूलभूत सत् तत्व तो सदा एक ही रहता है। "पट" के उदाहरण द्वारा भी इसे समझा जा सकता है। पट ज्ञान मे तन्तु से भिन्न पट नामक कार्य की कोई उपलब्धि नही होती, केवल आतान–वितान वाले तन्तु ही प्रत्यक्ष उपलब्ध होते है। अत तन्तुओं की आतान–वितानात्मक विशेष अवस्था पट है। पट तन्तु से भिन्न कोई नवीन पदार्थ नही है इस तर्क के आधार पर शकराचार्य न मात्र मार्य–कारण अनन्यत्व का प्रतिपादन करते है अपितु कारण से भिन्न कार्य की किसी वास्तविक सत्ता का भी निराकरण करते हुए कारण को सत् और कार्य को मिथ्या अयथार्थ सिद्ध करते है।[2]

शकराचार्य एक ओर तो कार्य को कारण का अतात्विक परिणाम बताकर उसे मिथ्या घोषित करते है तो दूसरी ओर कारण–कार्य मे तात्विक अभेद का प्रतिपादन करते है। यदि कार्य, कारण की अतात्विक परिणति है तो दोनो की दो भिन्न सत्ता होनी चाहिए, दोनो मे अनन्यत्व नही हो सकता। वस्तुत तादात्मय दो समान सत्ता मे ही सम्भव है विषम सत्ता मे नही।[3] इस विषय मे शकराचार्य का मत है कि कारण–कार्य अनन्यत्व का तात्पर्य यह नही है कि कारण कार्यरूप हो जाता है अथवा कार्य कारण रूप है अपितु इसका तात्पर्य

1 वही 2/1/20

2 कार्यकारोऽपि कारणस्यात्मभूत एवानात्मभूतस्या ना रभ्यत्वाद् इत्यभाणि। शा0भा0 2/1/18

3 न हि कारणविभिन्न कार्यकारण च सदिति कथतदभिन्न कार्यम सद् भवेत्।

मात्र इतना है कि कार्य की सत्ता कारणत्वेन ही है, कारण से व्यतिरिक्त कार्य की सत्ता नही है।[1] जैसे – मृत्तिका रूप कारण से व्यक्तिरिक्त घट रूप कार्य की कोई सता नही है क्योकि घट मृत्तिका रूप ही है। अत कारण–कार्य मृत्तिका – घट अनन्य है। इस प्रकार शकराचार्य के "विवर्तवाद" मे कार्य–कारण की अनन्यता का प्रतिपादन करतेहुए "कारण" को ही "सत्" तथा "कार्य" को "नामरूप" प्रतीति अथवा भ्रममात्र–सिद्ध किया गया है। वस्तुत विवर्तवाद का मुख्य प्रतिपाद्य सत्ता की दृष्टि से कार्य विशेष और कारण विशेष मे ही नही, अपितु सभी कारण और कार्य मे अनन्यता का प्रतिपादन करते हुए "मूल कारण" को सत् तथा कार्य जगत् को मिथ्या प्रपच मात्र सिद्ध किया जाता है।[2] जैसे – "मृत्तिका" "घट" का कारण है। घट मृत्तिका से भिन्न होकर स्थित नही रहा सकता। अत घट की अपेक्षा मृत्तिका अवश्य सत् है, परन्तु यह पारमार्थिक सत् नही है। मृत्तिका का कारण पृथ्वी मृत्तिका की अपेक्षा ज्यादा सत्तावान है। इस प्रकार सत्ता की क्रमिकता मे अन्तिमरूप से सत् एक मात्र मूलकारण ब्रह्म ही है, जो समस्त चराचर कार्य जगत् का एकमात्र अधिष्ठान है।[3]

वेदान्त परम्परा के अनुकूल शकराचार्य भी ब्रह्म को जगत् का मूल कारण स्वीकार करते है। ब्रह्मसूत्र 1/1/3 एव 1/1/3 के भाष्य मे उन्होने श्रुति के आधार पर कारणहीन ब्रह्म को प्रथम कारण की सज्ञा दी है।[4] कार्य–कारण सम्बन्ध को अनवस्था दोष से मुक्त रखने का प्रयास करते हुए वे शून्यवाद का निराकरण तथा ब्रह्मकारणवाद की स्थापना करते है।[5] उनका तर्क

---

1 न कारणादन्यत्कार्य वर्ष शतेनापि शक्य कल्पयितु शा0भा0 2/1/18

2 कारणात् पृथक् सत्ता शून्यत्व साहयतेन तु ऐक्याभि प्रायेण।

अद्वैत वेदान्त पृ0 140

3 तत पर ब्रहमैकमेवा द्वितीयम्। शा0भा0 2/1/15

4 शा0भा0 2/1/1

5 न गथोवत विशेषणस्य जगतो यथोक्त विशेषणमीश्वर मुक्त्वा अन्यत प्रधानादचेतनात् अणुभ्यो वा आभावाद्वा ससारिणो वा उत्पत्यादि सभावयितु शक्यम्।

यह है कि यदि ब्रह्म रूपी सन्मात्र को कारण न माना जाय तब आकाश से लेकर अणु तक प्रत्येक वस्तु सारहीन या निरात्मक हो जायेगी अत ब्रह्म जगत् का मूलकारण है।[1] ब्रह्मसूत्रकार जिन तर्को[2] के आधार पर ब्रह्म की मूलकारणता का प्रतिपादन करते है, शकराचार्य भी उन्ही तर्को का आश्रम लेकर ब्रह्म की मूलकारणता का प्रतिपादन करते है। सूत्रकार बादरायण ''ब्रह्म'' को जगत् का मात्र निमित कारण नही मानते अपितु उसे अभिन्निमित्तोपादानकारण स्वीकार करते है। आचार्य शकर भी इसी परम्परा को स्वीकार करते हुये ब्रह्म को जगत अभिन्निमित्तोपादानकारण स्वीकार करते है और इस विषय मे सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत तर्को का ही आश्रय ग्रहण करते है।

ज्ञातव्य है कि प्रकृत्यधिकरण के सूत्रो का भाष्य करते हुए आचार्य शकर स्पष्टत ब्रह्म को अभिन्निमित्तोपादान कारण कहते है। उनके अनुसार ''प्रकृतिश्च'' के द्वारा सूत्रकार ने ब्रह्म के निमित्त कारणत्व के साथ–साथ उसे उपादान कारणत्व का भी उपपादान किया है[3] क्योकि उपनिषदो मे वर्णित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त[4] की उपपत्ति तभी हो सकती है जब ब्रह्म की नामरूपात्मक दृश्यादृश्य जगत् की प्रकृति और जगत को ब्रह्म विकृति स्वीकार किया जाय।[5] इसी सूत्र की व्याख्या मे आचार्य शकर स्पष्ट करते है कि ब्रह्म पहले उपादान कारण ही हो सकता है, उसका निमित्त कारणत्व तो अन्य अधिष्ठाता के न होने से ही समझना चाहिए। जिस प्रकार लोक मे मृत्तिका, सुवर्ण आदि उपादान कारण तत् कुम्भकार सुवर्णकार आदि अधिष्ठाताओ की अपेक्षा रख कर ही प्रवृत्त होते है, उसी प्रकार सृष्टि का उपादान करण ब्रह्म भी स्वपेक्षया सृष्टि मे प्रवृत्त होता है, और उसको अन्य अधिष्ठाता की अपेक्षा इसलिए नही हो सकती, क्योकि सृष्टि के पूर्व ''एकमेवाऽद्वितीयम्'' श्रुति के अनुसार स्वगत भेद शून्य केवल एक अद्वितीय ब्रह्म ही था, ऐसी अवधारणा होती है। इस प्रकार अन्य

---

1 वही

2 ब्रह्मसूत्र 1/1/2 तथा द्वितीय अध्याय

3 प्रकृतिश्चोपादान कारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्त कारणं च। शा0भा0 1/4/23

4 छान्दो0 6/2/2–3

5 शा0भा0 1/4/23

अधिष्ठाता के न होने से ब्रह्म ही सृष्टि का उपादान और निमित्त दोनो कारण सिद्ध होता है।[1] इसके अतिरिक्त ''एकोऽह बहुस्याम्'' इत्यादि श्रुति मे सृष्टि सकल्प का उपदेश ब्रह्म मे कर्तव्य (निमित्तल) और प्रकृतित्व (उपादानत्व) दोनो को बोधित करता है जगत सर्ग के प्रति ब्रह्म की सकल्प–पूर्वक स्वतन्त्र प्रवृत्ति से उसका निमित्तकारणत्व तथा ''बहुस्याम्'' अर्थात बहुत होने के सकल्प से उपादान कारणत्व स्पष्ट प्रतीत होता है।[2]

इसी प्रकार अन्य श्रुतियॉ भी ब्रह्म के निमित्तोपादानत्व को सिद्ध करती है। ''सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव ––– (छान्दो0 1/9/1) इस श्रुति मे साक्षात् ब्रह्म का ही कारण रूप से ग्रहण कर उत्पत्ति तथा प्रलय दोनो ही कहे गये है। शकराचार्य के अनुसार जो जिससे उत्पन्न होता है, तथा जिसमे लीन होता है, वह उसका उपादान कारण होता है। जैसे – धान ''यव'' आदि का उपादान कारण पृथ्वी है।[3] प्रकृत् श्रुति – ''आकाशादेव'' मे ''एव'' को भाष्यकार शकर ने सूत्रकार के ''साक्षात् सत्'' के साथ जोडकर यह बतलाया है कि इस ''एव' पद् से यही प्रतीत होता है कि ब्रह्म से अन्य उपादान का अग्रहण ही श्रुतियो मे प्रतिपादित है, जिसका निर्देश सूत्रकार ने साक्षात् पद से किया है।[4] इसके अतिरिक्त सच्चत्यच्चाभवात् (तैति0 2/6) इस श्रुति मे समानाधिकरण से ब्रह्म का ही विकार रूप से यह परिणाम बतलाया गया है।[5] इस प्रकार शकराचार्य श्रुति के आधार पर तथा सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त तर्को के आधार पर भी ब्रह्म को समस्त जगत् का अभिन्निमितोपादान कारण स्वीकार करते है।

1 निमित्तत्वधिष्ठान्नन्तराभावादधिगन्तव्य ––––– प्रागुत्पत्तेरेवमेवद्वितीयमित्यवधरणात्। शा0भा0 1/4/27

2 अभिध्ययोपदेशाचात्मन ––––– गम्यते। वही 1/4/24

3 वही 1/4/25

4 शा0भा 1/4/25

5 इतश्च प्रकृति ब्रह्म यत्कारण ब्रह्मण एव विकारात्मना परिणाम सामानाधिकरण्ये नाम्नायते ––– इत्यादिनति वही 1/4/26

☆☆☆

अध्याय –४

असत्कार्यवाद

कारणता के सन्दर्भ मे **असत्कार्यवाद सिद्धान्त मूलतः न्यायवैशेषिक और प्रभाकर मीमांसक का है,** किन्तु इस सिद्धान्त का गहरा व व्यापक विवेचन न्याय–वैशेषिक सम्प्रदाय मे ही देखने को मिलता है। न्याय वैशेषिक और प्रभाकर मीमासक एक वस्तुवादी दार्शनिक सम्प्रदाय है, अतएव अपने वस्तुवाद के प्रकाश मे ही कारणता विषयक विचार को मूर्तरूप देते है। साथ ही यदि सूक्ष्मता से विचार करे तो इनके द्वारा प्रस्तुत कार्य की परिभाषा व स्वरूप से भी असत्कार्यवाद तर्कत फलित होता है। वस्तुत कार्य की परिभाषा से ही उसका कारण से भिन्नत्व का प्रदर्शन होता है तथा कारण व कार्य के बीच निहित यह भेद ही असत्कार्यवाद की मूल भावभूमि है। किन्तु जैसे ही असत्कार्यवादी कारण व कार्य के बीच भेद का प्रतिपादन करते है, वैसे ही इन दोनो के बीच सम्बन्ध की समस्या प्रस्तुत हो जाती है। आगे हम देखेगे कि इस समस्या का समाधान भी स्वय मे एक नयी समस्या का स्पष्ट प्रकाशन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि न्याय वैशेषिक मे कारणता के स्वरूप को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम अधोलिखित विन्दुओ पर सम्यक् विवेचन व विश्लेषण प्रस्तुत करे।

(i) कारण और कार्य के बीच भेद का सिद्धान्त (असत्कार्यवाद)

(ii) कारण और कार्य के बीच का सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध)

4.1 कारण और कार्य के बीच भेद का सिद्धान्त (आरम्भवाद):–

कारण और कार्य के स्वरूप से स्पष्ट अवगति होती है कि न्यायवैशेषिक दर्शन मे इनके बीच भिन्नत्व का प्रतिपादन तार्किकता की मॉग है। इसी तार्किकता की माग के अनुरूप ही ये कारण व कार्य के बीच भेद का सिद्धान्त प्रस्तुत करते है। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य एक नवीन उत्पत्ति है और यह कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण मे असत् (अनुपस्थित) रहता है। **स्पष्ट है, कार्य का उत्पत्ति –पूर्व अपने कारण में असत रहने से इस सिद्धान्त को असत्कार्यवाद कहते है और कार्य**

को सर्वथा एक नवीन उत्पत्ति मानने के कारण (या नया आरम्भ मानने के कारण) इस सिद्वान्त को आरम्भवाद भी कहा जाता है। कुलमिलाकर इस सिद्वान्त की मूल भावना यह है कि कारण व कार्य के बीच **मौलिक भेद** होता है। वस्तुत न्यायवैशेषिको का कहना है कि कार्य पूर्णतया एक नया तत्व होता है जो कारण मे पहले से विद्यमान नही रहता और न ही यह कारण का रूपान्तरण ही है। यह एक नया आरम्भ है। निमित्तकारण की क्रिया से पूर्व वह अपने उपादान कारण मे किसी भी रूप मे विद्यमान नही रहता है। आगे चलकर जब निमित्तकारण की क्रिया से कार्य की उत्पत्ति होती है, तब वह सत् होता है। ज्ञातव्य है, कि किसी वस्तु का उत्पत्ति से पहले जो अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते है। चूँकि उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने उपादान कारण मे अस्तित्ववान नही रहता है इसलिये इस समय उपादान मे कार्य का प्रागभाव रहता है। स्पष्ट है, भाव , अभाव का प्रतियोगी होता है, फलत प्रागभाव के प्रतियोगी को कार्य कहते है और ऐसा कहने मे ही कार्य व कारण के बीच भिन्नत्व का प्रतिपादन हो जाता है।

उल्लेखनीय है कि अपने असत्कार्यवाद की पुष्टि के लिये नैयायिक कुछ युक्तियॉ प्रस्तुत करते है, जो अधोलिखित है–

(i) असत्कार्यवाद की पुष्टि के सन्दर्भ मे दी गयी प्रथम युक्ति अनुभव पर आधारित है। इनके अनुसार पदार्थ सत् तथा ज्ञेय है।[1] यह दर्शन ऐसी किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नही करता जिसे जाना न जा सके । इसी आधार पर न्याय कन्दलीकार कहते है कि–"यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को (अपने कारण मे) सत् (विद्यमान) माने तो, हमे जिस प्रकार कारण का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व कार्य का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। परन्तु उत्पत्ति से पूर्व कार्य का प्रत्यक्ष नही होता, अत कार्य को उत्पत्ति से पूर्व असत् ही होना चाहिये।"[2]

(ii) असत्कार्यवाद के समर्थन मे न्यायवैशेषिको की दूसरी युक्ति वस्तु के आकार पर आधारित है। ये प्रश्न करते है कि यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य

कारण मे विद्यमान था तो फिर कार्य का जो नवीन आकार (रूप) है, वह कहॉ से आया? जैसे–घट कार्य का रूप घटत्व, को भी मृत्तिका मे सत् होना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नही है। इसलिये घटरूप को कम से कम कारण मृत्तिका मे असत् मानना ही पडेगा।[1]

(iii) असत्कार्यवाद के समर्थन मे न्यायवैशेषिको की तीसरी युक्ति वस्तु की प्रयोजनता पर आधारित है। इनका कहना है कि यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को कारण मे विद्यमान माने तो कारण को ही कार्य के प्रयोजन की भी पूर्ति करनी चाहिये । अर्थात् कहने का मतलब यह है कि यदि मृत्तिका मे उत्पत्ति से पूर्व घडा विद्यमान है तो फिर मृत्तिका मे भी जल आहरत्व का गुण होना चाहियें। किन्तु हम देखते है कि जब मृतिका से घट की उत्पत्ति होती है तब घट मे कम्बुगीर्वाद विशेष आकार के कारण जल आहरत्व का गुण आता है, जो मृत्तिका मे नही होता है।[2]

अत उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् ही होता है। स्पष्ट है, कारण व कार्य के बीच इस प्रयोजन भिन्नता के आधार पर ही असत्कार्यवादी कारण कार्य मे भेद का प्रतिपादन करते है। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि कारण व कार्य भिन्न–2 प्रयोजनो की पूर्ति करते है, फलत ये भिन्न है। जैसे– तन्तु (कारण) सीवन का कार्य करता है और पट (कार्य) आवरण का। चूॅकि दोनो के धर्म अलग–अलग है, अत दोनो भिन्न है।[3]

उल्लेखनीय है कि कार्य कारण मे भेद व अभेद को लेकर असत्कार्यवाद व सत्कार्यवाद मे पारम्परिक रूप से वाद–विवाद होता है। सत्कार्यवादी जहॉ कार्य व कारण को तत्वत अभिन्न मानते है और इसके लिये अनेक तर्क प्रस्तुत करते है, वही न्यायवैशेषिक दार्शनिको ने कार्य कारण मे अभेदत्व का खण्डन कर भेद की स्थापना करते है। इनका कहना है कि कारण व कार्य को अभिन्न मानने से घटादि कार्य का अस्तित्व ही सन्देहयुक्त हो जायेगा क्योकि घट का कारण मृत्तिका है और मृत्तिका

---

1 वही

2 भारतीय न्यायशास्त्र, पृष्ठ, 138

ही शराब का कारण है। यदि कारण व कार्य अभिन्न माने जाये तो एक ओर घट व मृत्तिका को अभिन्न होना चाहिये वही दूसरी ओर घट व शराब को भी अभिन्न होना चाहिये। चूँकि गणित का समानान्तर सिद्वान्त यह कहता है कि यदि A व B समानान्तर हो और B व C भी समानान्तर हो–तो A व C भी समानान्तर होगे। स्पष्ट है, इस सिद्वान्त को प्रस्तुत सन्दर्भ मे प्रयुक्त करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि घट व शराब को भी अभिन्न होना चाहिये। किन्तु हम जानते है कि घट अपने रूप, गुण व प्रयोजन की दृष्टि से शराब से सर्वथा भिन्न है। अत कार्य, को कारण से भिन्न मानना ही उचित है।

वास्तव मे कारण व कार्य के बीच **'भेद का सिद्वान्त'** न्यायवैशेषिक के बाह्यार्थवाद की रक्षा के लिये भी आवश्यक है। इसी बात स्पष्ट करते हुये **प्रो0डी0एन शास्त्री अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन न्यायपरिचय'** मे लिखते है कि न्यायवैशेषिको का यह मानना कि पट तन्तुओ से सर्वथा भिन्न है , एक तार्किक आवश्यकता है। उनका कहना है कि यदि साख्य के अनुसार तन्तु (कारण) व पट (कार्य) को तत्वत एक मान ले तो यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि तन्तु के धर्म से भिन्न, पट मे कुछ नये धर्म कहॉ से आ गये? पुन. यदि तन्तु पट रूप मे परिवर्तित हुआ है, तो यहॉ परिवर्तन का क्या अर्थ है? वस्तुत जब तन्तु व पट तत्वत एक ही है तो यह मानना पडेगा कि तन्तु मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकता । इसप्रकार साख्य के सत्कार्यवादसे आवश्यकरूपेण वेदान्त के विवर्तवाद तक पहुॅचते है, जिसके अनुसार कार्य का वास्तविक तत्व कारण ही है और कारण के अतिरिक्त कार्य मे जो नये धर्म दिखते है– वे केवल भ्रममात्र है। ———————— इसप्रकार यदि कार्य व कारण को एक माना जाय तो निश्चित रूप से कार्य को विवर्त (भ्रम) मात्र ही मानना होगा और इस प्रकार वाह्य जगत का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। इसीलिये वाह्यार्थवाद की रक्षा को लक्ष्य में रखकर न्यायवैशेषिक दृढतापूर्वक कारण से कार्य को भिन्न मानते है।[1]

किन्तु साख्य और वेदान्ती असत्कार्यवाद की कटु आलोचना करते है। इनका कहना है कि जो असत् है, उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? पुन, एक विशेष कार्य की उत्पत्ति के लिये एक कारण को ही क्यो ग्रहण किया जाय? कहने का तात्पर्य यह है कि यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कारण मे अभाव (असत्) रहता है तो फिर विशिष्ट कार्य के लिये विशिष्ट कारण की आवश्यकता नही रह जाती है क्योकि अभाव के सर्वत्र समान होने से किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये। अपने इसी मत की पुष्टि के लिये सत्कार्यवादी साख्य– "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत"[1] को उद्धृत करते है। अर्थात कहने का तात्पर्य यह है कि –असत् की उत्पत्ति नही हो सकती और सत् का विनाश नही हो सकता है। इसी प्रकार आचार्य शकर का भी कहना है कि कार्य तभी उत्पन्न होता है जब उसका कारण उपस्थित हो, कही भी कारण के अभाव मे कार्य नही देखा जाता है। यदि कारण में कार्य का अभाव होता तो इस प्रकार का भाव देखने मे नही आता। पुन, हम देखते है कि जो वस्तु जिसमे नही रहती है उससे उत्पन्न नही होती । जैसे–तेल बालू मे नही होता इसीलिये बालू से तेल नही निकलता है। इन दृष्टान्तो व तर्को से उत्पत्ति पूर्व कार्य के असत्व का निरास हो जाता है। फिर भी यदि यह स्वीकार कर ही ले कि कारण से असत् कार्य ही उत्पन्न होगा तब असत् ही उत्पन्न हुआ माना जायेगा – जो श्रुति विरूद्व है।[2] इस प्रकार असत्कार्यवाद श्रुति व तर्क दोनो आधारो पर ही उचित नही दिखता है।

किन्तु नैयायिको व वैशेषिको ने उक्त आक्षेपो से अपने सिद्वान्त की रक्षा हेतु सत्कार्यवाद पर पलट–वार करते है। इनका कहना है कि असत्कार्य की उत्पत्ति कहने का तात्पर्य यह नही है कि जो असत् है उसकी उत्पत्ति होती है, अपितु यह है कि जो उत्पन्न होगा वह पहले

---

1 गीता–2/16

2 शारीरिक भाष्य–2/1/10–18

असत् था, उसका पहले अभाव था।[1] इसी अभाव का भावरूप हो जाना ही कार्य की उत्पत्ति है। यदि कार्य को उत्पत्ति से पूर्व ही सत् मान लिया जाय तो सम्पूर्ण कारण– व्यापार निरर्थक हो जायेगा। वस्तुत जो नही है, उसे उत्पन्न करने मे ही कर्त्ता का कर्त्तापन है। विद्यमान की उत्पत्ति तो पुनरूक्ति है। पुन सत्कार्यवादियो ने उत्पत्ति पूर्व कार्य के 'सत्' होने के लिये जो "नियत कारण से नियत कार्य की उत्पत्ति" का हेतु दिया है, उससे असत्कार्यवाद का निरास नही होता है। कहने का मतलब यह है कि असत्कार्यवाद मानने पर भी नियत कारण से ही नियत कार्य की उत्पत्ति स्वीकार की जा सकती है। अनुभव मे हम देखते है कि किसी निश्चित कार्य का एक निश्चित उपादान होता है, जिसमे कार्य का प्रागभाव होता है। सभी कारणो मे कार्य का प्रागभाव नही होता है। जैसे– मृत्तिका मे घट का प्रागभाव है अत मृत्तिका घट का कारण है। किन्तु तन्तु मे घट का अत्यन्ताभाव है, अत तन्तु घट का कारण नही है। न्यायदर्शन मे इस प्रकार का निश्चय करने की शक्ति बुद्वि मे स्वीकार की गयी है।[2]

ज्ञातब्य है कि सत्कार्यवादी, असत्यकार्यवाद को श्रुति विरूद्व कहते है और इस सन्दर्भ मे गीता का (2/16) उद्धरण प्रस्तुत करते है। किन्तु फणिभूषण तर्कवागीश ने अपनी पुस्तक न्याय–परिचय मे गीता के उक्त उद्धरण को प्रकृत स्थल में अनावश्यक व असगत बताया है और इस बिषय मे अन्य आचार्यो के मत को प्रमाण स्वरूप उपस्थित भी किया है। इनके अनुसार इस श्लोक(2/16)[3] का तात्पर्य है कि आत्मा मे असत् (अविद्यमान्) शीत, उष्ण, आदि गुणो की सत्ता नही होता है तथा सत् स्वरूप आत्मा का अभाव (विनाश) कदापि नही होता है। इस प्रसग मे लेखक श्रीधर स्वामी, पार्थ सारथीमिश्र तथा रामानुजाचार्य का भी यही मत स्वीकार किया है।

---

1 असत्करण पक्षे च यचोदित शशविषाणाद्यपि कियतेति, तत्र यदसत्तत्क्रियते इति नेय वचन व्यक्तिरपितु यत्क्रियते तदसदिति। न्यायमजरी– पृष्ठ 94

2 "बुद्विसिद्वन्तुतदसत्" –न्यायसूत्र 4/1/50

3 "नासतोविद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत"–गीता 2/16

मीमासक पार्थसारथीमिश्र ने शास्त्रदीपिका मे आत्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन करते हुये भगवद्गीता के उक्त श्लोक का उल्लेख किया है। उनके अनुसार इस श्लोक के द्वारा सत्कार्यवाद का कथन सगत नही है।[1] इसी प्रकार रामानुज ने भी इस श्लोक के भाष्य मे स्पष्टत लिखा है कि–''अत्रसत्कार्यवादस्या सगतत्वान्न तत्परोऽय श्लोक ।[2]

इसी प्रकार सत्कार्यवादिओ का यह कहना कि –''जो असत् है उसकी उत्पत्ति नही हो सकती '' – के विषय मे न्याय वैशेषिक आचार्यो का कथन है कि जो पूर्ण रूप से असत् या अलीक है उसकी उत्पत्ति अवश्य नही हो सकती । जैसे –आकाश पुष्प, बन्ध्यापुत्र आदि। वस्तुत इन आचार्यो का कहना है कि हमारे असत्कार्यवाद का तात्पर्य मात्र इतना है कि–उत्पत्ति के पश्चात् जिसकी सत्ता सिद्ध है (जैसे घट,पट आदि) वे उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण मे इसी रूप मे विद्यमान नही रहते, अपितु उनकी नवीन उत्पत्ति होती है।[3]

वास्तव मे न्यायवैशेषिक आचार्य तात्त्विक रूप से असत्कार्यवाद का प्रतिपादन करते है, जिसका तार्किक परिणाम यह निकलता है कि कार्य अपने कारण से मूलत भिन्न है। इनका कहना है कि तन्तु (कारण) ही बदलकर पट (कार्य) नही हो जाते अपितु तन्तु तो पट के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् भी ज्यो के त्यो बने रहते है। किन्तु उनमे समवाय सम्बन्ध से रहने वाला पट नामक नया द्रव्य उत्पन्न हो जाता है जो रूप, रग, गुण परिमाण व प्रयोजन मे भी अपने कारण द्रव्य से बिल्कुल भिन्न है।[4] इस प्रकार इस दर्शन के अनुसार कारण अपरिवर्तित रहते हुये भी अपने से भिन्न एक नवीन द्रव्य को उत्पन्न करता है। साथ ही, उत्पत्ति के पश्चात भी कारण द्रव्य नष्ट नही होता, अपितु उसका अस्तित्व बना रहता है। अत

---

1 'न्याय–परिचय'–फणिभूषण तर्कवागीश, के पृष्ठ–83 पर उद्धृत ।

2 रामानुज–गीता भाष्य (2/16)

3 ––––– दृश्ययन्ते जन्यते तद्धि न व्योमकुसुमादिवत् ।– न्यायमजरी, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ–94

4 न्यायवार्तिक–2/1/33

इस दर्शन मे कारण व कार्य का सहअस्तित्व स्वीकार किया गया है।[1]

ध्यातब्य है कि न्यायवैशेषिक की अवयव अवयवी की अवधारणा परोक्ष रूप से असत्कार्यवाद का प्रतिपादन ही है। यहॉ कारण को अवयव तथा कार्य को अवयवी कहा गया है[2], और अवयवो से पृथक अवयवी की सत्ता को दृढ रूप से स्थापित किया गया है। निश्चय ही इस अवस्थापना से कारण–कार्य भेदवाद की प्रतिष्ठा होती है। अवयवो से भिन्न अवयवी की स्थापना करते हुये न्यायवैशेषिक आचार्य कहते है कि परमाणु रूप अवयवो से भिन्न, अवयवी की सत्ता न स्वीकार करने पर किसी भी पदार्थ का ज्ञान होना असम्भव हो जायेगा।[3] वस्तुत इसके पीछे कारण यह है कि न्याय वैशेषिक अन्तिम रूप से समस्त वस्तुओ को परमाणु निर्मित मानते है और परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष के विषय नही होते, इसलिये इन्ही अतीन्द्रिय परमाणुओ से निर्मित यह जडजगत यदि उससे भिन्न नही है तो वह,भी प्रत्यक्ष का विषय नही होगा क्योकि दो अभिन्न वस्तुओ का स्वरूप एक सा होता है। किन्तु हम व्यवहार मे जडजगत का प्रत्यक्ष करते है इसलिये परमाणुओ (अवयव) से पृथक जडजगत (अवयवी) की सत्ता मानना पडेगा। आगे न्याय वैशेषिक आचार्यो का कहना है कि मेरे इस विचार पर प्रतिपक्षी यह आक्षेप कर सकता है कि जिस प्रकार तिमिर रोग से ग्रस्त व्यक्ति केशसमूह को तो देख सकता है, किन्तु केश को नही देख सकता है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय होने के कारण एक परमाणु का प्रत्यक्ष न होने पर भी परमाणु समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है। अत अवयवी को पृथक रूप से न माने तो भी किसी का ग्रहण नही होगा'।[4] पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत इस आक्षेप का खण्डन करते हुये नैयायिक कहते है कि अपने–अपने विषयो मे ही ज्ञान की पटुता व मन्दता होती है, भिन्न विषय मे नही। अर्थात् नेत्र

---

1 तर्कसग्रह, पृष्ठ–37

2 न्यायसूत्र 2/1/30–35

3 ''सर्वाग्रहणभवयव्यसिद्धे''–न्यायसूत्र–2/1/35

4 वही

अपने विषय 'रूप' को ही ग्रहण कर सकता है, अपने अविषय 'गन्ध' को नही। प्रस्तुत उदाहरण मे तिमिर दोष से ग्रस्त व्यक्ति चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण योग्य एक केश को नही देख सकता किन्तु केश समूह को देख सकता है। फिर भी एक केश मे भी चक्षुरिन्द्रिय का विषय बनने की योग्यता है। कहने का तात्पर्य यह है कि निर्दोष चक्षु एक केश एव केश समूह—दोनो का प्रत्यक्ष कर सकते है, किन्तु परमाणु इन्द्रियों के विषय न होने के कारण किसी भी इन्द्रिय से ग्रहीत नही हो सकते। यदि परमाणु समूह को प्रत्यक्ष का विषय माना जायेगा तो चक्षुरीन्द्रिय की अपने अविषय मे प्रवृत्ति होगी। अत परमाणुओ (अवयवो) से भिन्न घट आदि द्रव्य रूप अवयवी है, जिसक चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।[1]

किन्तु साख्य दार्शनिक यह आक्षेप लगाते है कि जिस प्रकार सेना व वन क्रमश अश्व, हस्ति एव वृक्षो के समूह के अतिरिक्त कुछ नही होते, उसी प्रकार अवयवी भी परमाणु समूह के अतिरिक्त कुछ और नही होता है।[2] इस आक्षेप के उत्तर मे नैयायिक कहते है कि प्रकृत स्थल पर सेना व वन के जो उदाहरण दिये गये है, वो अप्रासगिक है। वस्तुत सेना और वन के अगभूत एक—एक अवयव को समीप से देखा जा सकता है, परन्तु परमाणु समूह मे से प्रत्येक परमाणु को अलग—2 नही देखा जा सकता है। स्पष्ट है, प्रस्तुत सन्दर्भ मे दिया गया दृष्टान्त ठीक नही है। अत परमाणुओ से भिन्न अवयवी का प्रकृत् सिद्वान्त ही मान्य है।[3]

जबकि आचार्य शकर का कहना है कि कार्य—कारण मे अश्व महिष के समान भेद बुद्वि के अभाव मे तादात्म्य भाव स्वीकार करना चाहिये।[4] पुन कारण व कार्य, अश्व एव महिष के समान दो पृथक पदार्थ नही है। दो परस्पर पृथक पदार्थो मे एक, दूसरे का अवयव नही होता, परन्तु तन्तु पट

---

1 न्यायसूत्र 2/1/35 पर वात्स्यायन भाष्य, पृष्ठ— 558
2 न्यायसूत्र 2/1/37 मे पूर्व पक्ष के रूप मे उद्धृत
3 'सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नतीद्रियत्वादण्नाम, 2/1/37 न्यायसूत्र पर वात्स्यायनभाष्य
4. शारीरिक भाष्य —2/1/15

के अवयव है। जबकि अश्व व महिष एक दूसरे के अवयव नही है अत दोनो को पृथक स्वीकार नही किया जा सकता है।[1] इसी प्रकार साख्य दार्शनिक भी अवयव अवयवी के भेद का निराकरण करते है। इनके अनुसार परस्पर भिन्न पदार्थो मे सयोग व विभाग होता है, किन्तु अवयव, अवयवी मे सयोग व विभाग का अभाव होता है। अत दोनो को भिन्न मानना ठीक नही है।[2] इन आक्षेपो का उत्तर देते हुये न्याय–वैशेषिक का कहना है कि अवयव एक सापेक्ष पद है और इसे अवयवी की अपेक्षा है। अत अवयव को स्वीकार करने पर पृथक ज्ञान न होने पर भी अवयवी की सत्ता सिद्व है। पुन यद्यपि अश्व एव महिष परस्पर पृथक पदार्थ है और वे एक दूसरे का अवयव नही है, परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि परस्पर पृथक पदार्थो मे अवयव–अवयवी भाव नही हो सकता है। यदि अवयवी को अवयवो से भिन्न न माने तो उसे अवयवो से अभिन्न मानना पडेगा और ऐसी स्थिति मे तन्तु व पट एक ही समझे जायेगे। तब तन्तु पट के अवयव है यह कहने की अपेक्षा तन्तु तन्तु कते अवयव है– इस प्रकार का वाक्य बोलना होगा। किन्तु कोई भी पदार्थ स्वय अपना अवयव नही होता है।[3] सच तो यह है कि पट का अवयव तन्तु है, पट नही। इस प्रकार अवयवी को अस्वीकार करने पर अनेक समस्यॉए उत्पन्न हो जाती है, जिनका समाधान अवयवी को अवयवो से भिन्न मानकर ही दिया जा सकता है।

साथ ही न्यायवैशिक मत के विरूद्व एक आपत्ति यह भी उठायी जाती है कि जो पदार्थ जिस पदार्थ से भिन्न होते है, वह उससे भिन्न देश मे उत्पन्न होते है। इस बात को नैयायिक भी मानते है। किन्तु जिस स्थान पर तन्तु विद्यमान रहते है, उस स्थान से पृथक स्थान में पट की उत्पत्ति नही होती है। अत पट को तन्तु से पृथक नही माना जा सकता है।[4]

---

1 वही
2 तत्वकौमुदी, पुष्ठ–100
3 न्यायवार्तिक–2/1/33
4 न्यायवार्तिक–4/2/11–पूर्वपक्ष के रूप मे उदधृत

वास्तव मे इस आपत्ति का नैयायिको ने कोई उचित समाधान नही दिया है। इस विषय मे केवल यह कहा जा सकता है कि एक ही देश से उनका तात्पर्य स्थान न होकर आश्रय से है तथा तन्तु व पट का आश्रय एक नही होता है। जहॉ तन्तु का आश्रय कपास है वही पट का आश्रय तन्तु है। किन्तु इससे एक ही स्थान घेरने की समस्या का समाधान नही हो जाता है। वस्तुत इस आपत्ति से केवल यह कहकर बचा जा सकता है कि जहॉ जो द्रव्य समवाय सम्बन्ध से जुडे हुये हो वहॉ यह सिद्वान्त कि "दो द्रव्य एक स्थान नही घेर सकते"– लागू नही होता है।[1] किन्तु प्रतिपक्षी पुन प्रश्न उपस्थित करते है कि यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाय कि अवयवी,अवयवो से भिन्न है, तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अवयवी अपने अवयवो मे किस रूप मे रहता है? वह समस्त अवयवो मे सामूहिक रूप से रहता है अथवा प्रत्येक अवयव मे अलग–अलग रूप से। यदि समस्त अवयवो मे सामूहिक रूप से अवयवी की स्थिति मानी जायेगी तो अवयवी का प्रत्यक्ष असम्भव हो जायेगा।[2] इसी प्रकार यदि यह माना जाय कि सम्पूर्ण अवयवी प्रत्येक अवयव मे रहता है तो ऐसा मानना भी समीचीन नही है क्योकि महत्परिणाम–अवयवी, अणुपरिमाण–अवयव मे नही रह सकता है।[3]

ज्ञातब्य है कि उपर्युक्त आक्षेप वात्स्यायन ने अपने न्यायसूत्र के भाष्य मे पूर्वपक्ष के रूप मे उपस्थित करके (4/2/7–9) पुन इनका परिहार (4/2/11–12–न्यायसूत्र) कर दिया है। इनके अनुसार प्रतिपक्षी जिस रूप मे अवयवी मे अवयवो की वृत्ति की कल्पना करते है, वह समीचीन नही है। वस्तुत अवयव एव अवयवी मे आश्रय–आश्रयी भाव होता है।[4] अवयव अवयवी के आश्रय होते है और अवयवी अवयवो मे आश्रित। कोई अवयवी अपने कारणभूत अवयवो मे ही रह सकता है, अत उपर्युक्त दोष समीचीन

---

1 न्यायवार्तिक–4/2/12
2 वात्स्यायन भाष्य 4/2/7
3 वही 4/2/8–9
4 " 4/2/11–12

नही है। इस प्रकार न्याय–वैशेषिक दर्शन मे अवयवी की अवयवो से भिन्न रूप मे सत्ता स्वीकार की गयी है। वस्तुत हमारा अनुभव भी अवयवी का अवयवो से पृथकत्व का समर्थन करता है। चूँकि न्याय वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी है और उनका वस्तुवाद सामान्य अनुभव को ही आधार मानकर प्रतिपादित किया गया है, इसलिये उनका अवयव (कारण) तथा अवयवी (कार्य) को भिन्न वस्तु के रूप मे स्वीकार करना उनके वस्तुवादी दृष्टिकोण के अनुकूल ही है।

4.2 कारण और कार्य के बीच का सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) :–

जब न्याय वैशेषिक अपने असत्कार्यवाद के विवेचन मे कारण व कार्य के बीच भेद का प्रतिपादन करते है और यह दिखाने का प्रयास करते है कि कार्य उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण मे असत होता है, तब एक सार्थक प्रश्न उठता है कि क्या कारण व कार्य के बीच कोई सम्बन्ध सम्भव हो सकता है? प्राय हम देखते है कि एक अभीष्ट कारण से एक अभीष्ट कार्य ही प्राप्त होता है तो निश्चय ही ऐसी स्थिति मे हमारे मन मे यह प्रश्न उठेगा कि इस कारण व कार्य मे कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य है (भले ही नैयायिक कार्य व कारण मे स्पष्ट भेद का प्रतिपादन करते हो)। निश्चय ही इस प्रश्न के आलोक मे नैयायिको से एक तार्किक मॉग उठ खडी होती है कि वे अपने दर्शन मे सुसगति रखते हुये (यानि वस्तुवाद की रक्षा करते हुये) कारण व कार्य के बीच के सम्बन्ध को व्याख्यायित करे। इसी व्याख्या के निमित्त समवाय सम्बन्ध की अवधारणा नैयायिक प्रस्तुत करते है।

उल्लेखनीय है कि 'समवाय' का शब्दार्थ है घनिष्ठ सम्बन्ध या दो वस्तुओ का परस्पर' एक दूसरे के निकट आना। वस्तुत यह ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध को बतलाता है जो उन दो वस्तुओ मे रहता है जिनका सम्बन्ध बिना उन्हे नष्ट किये, नही नष्ट किया जा सकता है। अन्नभट्ट समवाय को परिभाषित करते हुये कहते है कि–समवाय उन दो पदार्थो मे, जो सदाअविभक्त रहते है– मे रहने वाला नित्य सम्बन्ध है सिद्वान्त मुक्तावली मे कहा गया है कि''समवाय वस्तुद्वय मे रहने वाला नित्य सम्बन्ध है।[1] वस्तुत

इसे आन्तरिक या आत्मीय सम्बन्ध कहा जा सकता है और यह सम्बन्ध दो अयुतसिद्ध वस्तुओ के बीच हो सकता है। ज्ञातव्य है कि अयुत्सिद्व उन वस्तुओ को कहते है जिनमे एक वस्तु की स्थिति पूर्णरूपेण दूसरी पर निर्भर होती है।[1] जैसे घट व कपाल, और गुण व गुणी । अयुत्सिद्व का विपरीतार्थक है युतसिद्व जिसका अर्थ है– जो परस्पर मिले हुये है या एक दूसरे से पृथक है। स्पष्ट है, यहॉ 'यु' धातु के दोनो अर्थ है जोडना और पृथक करना । किन्तु 'यु' के इन दोनो अर्थो से युतसिद्व के अर्थ मे कोई विरोधाभास नही आता है। यदि युतसिद्व का अर्थ यह ले कि 'जोड दिये गये है'– तो भी अर्थ निकलेगा कि वे कभी पृथक–पृथक थे और यदि युत शब्द का यह अर्थ ले कि 'जो पृथक है'– तो भी यही अर्थ निकलेगा कि किसी अवस्था मे ये पृथक थे। इसके विपरीत अयुतसिद्व वे पदार्थ है जो किसी भी अवस्था मे पृथक–पृथक नही थे। जैसे घट के दो कपाल कभी पृथक –पृथक थे और अब भी पृथक–पृथक किये जा सकते है, अत उनका सम्बन्ध, सयोग सम्बन्ध है। किन्तु घट उन कपालो से पृथक न कभी था और न कभी हो सकता है। अत घट व कपाल का सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध है।[2]

इसी प्रकार समवाय को परिभाषित करते हुये प्रशस्तपाद का कहना है कि–" आश्रय और आश्रयी भाव सम्पन्न दो अयुतसिद्व पदार्थो का सम्बन्ध समवाय है। यह समवाय "इह" इस प्रतीत का हेतु बनता है।[3] 'इह' इस प्रतीति की व्याख्या करते हुये वहॉ कहा गया है कि –इन तन्तुओ मे पट रहता है,––––––– इस द्रव्य मे गुण व कर्म रहते है,––––––इत्यादि प्रतीतियो को देखने से स्पष्ट सिद्व है कि इन आश्रय और आश्रयीभूत दो

---

1 किरणावली, पृष्ठ–198

2 अन्नभट्ट प्रणीत–तर्कसग्रह, की व्याख्या डा0 दयानन्द भार्गव द्वारा, मोतीलाल बनारसीदास, पृष्ठ–19, से उद्धृत

3 अयुतसिद्वान्तानामाधार्याधार भूतान य सम्बन्ध "इह" प्रत्यय हेतु स समवाय । इह तन्तुषु पट––––– इह द्रव्ये गुण कर्मणी–––– इतिप्रत्ययदर्शनादस्त्येषा सम्बन्ध इति ज्ञायते।– प्रशस्तपाद भाष्य, पृष्ठ–775

पदार्थो का कोई सम्बन्ध अवश्य है। यह सम्बन्ध सयोग नही हो सकता है। अत जाति व व्यक्ति, अवयव व अवयवी तथा गुण व गुणी, के आधार पर होने वाली विशिष्ट बुद्धि का नियामक समवाय सम्बन्ध है।[1] ज्ञातव्य है कि, न्यायवैशेषिक समवाय को अपने सम्बन्धी (कारण व कार्य) से पृथक एक तीसरी सत्ता के रूप मे स्वीकार करते है। इसका कारण यह है कि यदि सम्बन्ध को सम्बन्धियो से पृथक स्वीकार नही करेगे, तब समवाय को अपने सम्बन्धियो से अभिन्न मानना होगा। ऐसी स्थिति मे तन्तु और, पट यानि कारण और कार्य को भी अभिन्न मानना होगा, जो इस दर्शन को स्वीकार्य नही है। अत समवाय सम्बन्ध अपने सम्बन्धी से भिन्न एक पृथक सत्ता है।[2]

किन्तु प्रश्न उठता है कि इस समवाय सम्बन्ध का ज्ञान किस प्रकार होता है और इसके लिये नैयायिक कौन सा प्रमाण प्रस्तुत करते है। इस सन्दर्भ मे न्यायवैशेषिको का कहना है कि समवाय एक यथार्थ सम्बन्ध है और इसका ज्ञान प्रत्यक्ष एव अनुमान द्वारा सम्भव हो पाता है। इनका कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के लिये छ प्रकार का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक है– सयोग, सयुक्तसमवाय, सयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव। इनमे छठवे, विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध द्वारा समवाय एव अभाव दोनो का प्रत्यक्ष होता है।[3] अत न्यायमतानुसार समवाय सम्बन्ध का ग्रहण इन्द्रिय से होता है। जिस इन्द्रिय से जो वस्तु गृहीत होती है उसी इन्द्रिय से ही तद्गत् सामान्य समवाय तथा अभाव का भी ग्रहण होता है। 'समवाय' की सिद्धि हेतु अनुमान प्रमाण को प्रस्तुत करते हुये **विश्वनाथ पंचानन** ने समवाय को विशिष्ट बुद्धि का नियामक कहा है।[4] उनके अनुसार ''तन्तु मे पट है'' या 'द्रव्य मे गुण है'–यह ज्ञान, सम्बन्ध पूर्वक होता है क्योकि यह विशिष्ट ज्ञान है। जो–जो

1 घटादीना कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणो, तेषुजातेश्च सम्बन्ध समवाय प्रकीर्तित ।–भाषा परिच्छेद–11

2 'सम्बन्धो हि सम्बन्धिम्या भिन्नोभयाश्रिकेत्व।'– तर्कभाषा, पृष्ठ–122

3 अभावसमवायो च ग्राह्या सम्बन्ध षट्कत। वही, पृष्ठ– 84

4 भाषापरिच्छेद, 11

विशिष्ट ज्ञान होता है, वह सम्बन्ध पूर्व क होता है, जैसे–''दण्डी– पुरूष''।[1] वस्तुत इस विशिष्ट ज्ञान के लिये केवल दण्ड या केवल पुरूष का ज्ञान पर्याप्त नही है, अपितु दोनो के मध्य सम्बन्ध का ज्ञान भी आवश्यक है। इस सम्बन्ध का नियमन बुद्वि करती है, जिसके द्वारा सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार ''इन तन्तुओ मे पट है''– इस विशिष्ट बुद्वि का हेतु भी कोई सम्बन्ध है। परन्तु यह सम्बन्ध 'सयोग' नही हो सकता है, क्योकि सयोग दो द्रव्यो के बीच होता है, अवयव–अवयवी के बीच नही। इसी प्रकार यह सम्बन्ध तादात्म्य भी नही हो सकता है क्योकि तादात्म्य दो अभिन्न वस्तुओ के बीच होता है। साथ ही, यह विशिष्ट ज्ञान ''स्वरूप सबन्ध पूर्वक'' भी नही हो सकता क्योकि स्वरूप के लिये अनन्त स्वरूप की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार ''तन्तु मे पट है''– इस विशिष्ट ज्ञान का हेतु सयोग, तादात्म्य, अथवा स्वरूप, कोई भी सम्बन्ध नही हो सकता है। अत समवाय सम्बन्ध ही इस विशिष्ट ज्ञान का नियामक है। इस प्रकार परिशेषानुमान से समवाय सम्बन्ध सिद्व होता है।

परन्तु न्यायवैशेषिक द्वारा स्वीकृत 'समवाय' की अनूठी सकल्पना भारतीय दर्शन मे बडी विवादास्पद रही है। जहॉ एक ओर लगभग सभी भारतीय दार्शनिको ने इसकी कटु आलोचना की है, वही दूसरी ओर नेयायिको ने उपर्युक्त आक्षेपो का दृढतापूर्वक प्रत्युत्तर भी दिया है, जिसका विवरण अधोलिखित है –

(i) समवाय पर पहला आक्षेप उसकी पृथक पदार्थ के रूप मे गणना पर है। शकराचार्य का कहना है कि यह समवाय यदि अपने सम्बन्धियो से पृथक है तो इसे अपने सम्बन्धियो से सम्बद्ध होने के लिये किसी दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता होगी और इस दूसरे सम्बन्ध को अपने सम्बन्धियो से सम्बद्व होने के लिये तीसरे सम्बन्ध की आवश्यकता होगी और इस प्रकार

---

1 सिद्वान्तमुक्तावली, पुष्ठ––66

अनवस्था दोष का प्रसग प्रस्तुत हो जायेगा।[1] किन्तु यदि समवाय अपने सम्बन्धियो से अभिन्न है तो फिर ये असम्बन्धित ही रहेगे। इस प्रकार की शका क समाधान के लिये न्यायवैशेषिक दार्शनिको का मानना है कि समवाय को अपने समवायियो से सम्बद्व होने के लिये किसी दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता नही बल्कि वह स्वत ही अपने समवायियो से सम्बद्व हो जाता है।[2]

(ii) विश्वनाथ पचानन ने 'सिद्वान्त मुक्तावली' के समवाय प्रकरण मे पूर्वपक्ष के रूप मे मीमासको द्वारा की गयी समवाय की आलोचना को प्रस्तुत करते हुये उसका निराकरण किया है। भाट्टमीमासक समवाय सम्बन्ध की आलोचना करते हुये कहते है कि जिस प्रकार समवाय अपने समवायियो से स्वत सम्बद्व हो जाता है तो क्यो नही कारण कार्य भी स्वरूपत सम्बद्व (सम्बन्धित) हो जाते है।[3] किन्तु मीमासको द्वारा प्रस्तुत इस आलोचना के प्रत्युत्तर मे विश्वनाथ पचानन का तर्क है कि समवाय के स्थान पर स्वरूप–सम्बन्ध मानने मे कल्पना गौरव है। वस्तुओ के अनन्त होने से स्वरूप भी अनन्त वस्तुओ मे समवाय रहता है और उन अनन्त वस्तुओ मे स्वरूप को सम्बन्ध के रूप मे स्वीकार करना पडेगा। परन्तु अनेक सम्बन्ध मानने की अपेक्षा–"एक समवाय मान लेने मे लाघव है"।[4]

(iii) समवाय के स्वतन्त्र अस्तित्व पर आक्षेप करते हुये शकराचार्य कहते है कि जिस प्रकार समवाय अपने सम्बन्धियो से स्वत सम्बद्व हो जाता है, उसे सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नही होती, उसी प्रकार सयोग भी क्यो नही

1 समवायकल्पनायामपि समवायस्थ समवायिभि सम्बन्धेऽप्युगम्यमाने तस्य तस्यान्योन्य सम्बन्ध कलपयितव्य इत्यनवस्थाप्रसग, अनुभ्युपगम्यमाने विच्छेद प्रसग ।– शारीरक भाष्य–2/1/18

2 प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ–775

3 सिद्वान्त मुक्तावली (भाषा परिच्छेद–11) पृष्ठ —–66–67

4 अनन्त स्वरूपाणा समबन्धत्व कल्पने गौरवात,लाघवादेक समवायसिद्धि ।– वही, पृष्ठ–67

अपने सम्बन्धियो से स्वत सम्बद्व हो जाता है ।[1] किन्तु नैयायिको का कहना है कि यह आक्षेप भी उचित नही है क्योकि सयोग गुण है, इसलिये वह सम्बन्धान्तर की अपेक्षा रखता है तथा समवाय गुण नही है इसलिये वह सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नही रखता है।

ध्यातव्य है कि बौद्व दार्शनिक धर्मकीर्ति ने समवाय सम्बन्ध की बडी तार्किक व वैज्ञानिक आलोचना की है। धर्मकीर्ति का कहना है कि सम्बन्ध के दो सम्भावित स्वरूप हो सकते है—**पहला** रूपश्लेष और **दूसरा** परतन्त्र। उनका कहना है कि तार्किक दृष्टि से ये दोनो ही विकल्प खण्डित हो जाते है। उल्लेखनीय है कि धर्मकीर्ति ने तादात्म्य सम्बन्ध को रूपश्लेष तथा समवाय सम्बन्ध को परतन्त्र कहा है। परतन्त्र सम्बन्ध का खण्डन करते हुये धर्मकीर्ति कहते है कि कारण व कार्य के बीच परतन्त्र सम्बन्ध दो निष्पन्न पदार्थो के बीच है या दो अनिष्पन्न पदार्थो के बीच? किन्तु दो सर्वथा स्वतन्त्र व निष्पन्न पदार्थो के बीच सबध नही हो सकता है। यदि दो अनिष्पन्न पदार्थो के बीच सम्बन्ध माने तो— शशश्रृग की तरह इस सम्बन्ध को असत् या मिथ्या मानना पडेगा।[2] इसी प्रकार समवाय के स्वतन्त्र अस्तित्व का खण्डन करते हुये धर्मकीर्ति कहते है कि —समवाय यदि स्वतन्त्र है तो उसकी निरपेक्ष सत्ता होनी चाहिये यानि अपने सम्बन्धियो की अपेक्षा नही करनी चाहिए और यदि वह अपने सम्बन्धियो की अपेक्षा करता है तो उसे हम स्वतन्त्र नही कह सकते है।[3] पुन धर्मकीर्ति प्रश्न उपस्थित करते है कि यदि सम्बन्ध की अपने सम्बन्धियो से पृथक सत्ता है तो या तो दोनो भिन्न है या अभिन्न। यदि सम्बन्ध अपने सम्बन्धियो से अभिन्न है तो उसकी पृथक स्वतन्त्र सत्ता नही रह जायेगी और दूसरे

---

1 अथ समवाय स्वय सम्बन्ध रूपत्वादनपैक्ष्येवापर सम्बन्ध सम्बध्यते, सयोगद्रपि तर्हि स्वय सम्बन्धरूपत्वादन पैक्ष्यैव समवाय सम्बध्येता।—शारीरक भाष्य 2/2/18

2 पारतन्त्रय हि सम्बन्ध सिद्वे का परतन्त्रता। तस्मात्सर्वस्यभावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्वत ।।—प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ —504 से उद्‌धृत

3 स (सम्बन्ध) ततोऽर्थान्तरं चेत् सम्बन्धिनो केवलाकथ सम्बन्धो स्थाताम्।—

विकल्प को स्वीकार करने पर अनवस्था होगी। अत न्यायवैशेषिको द्वारा कारण–कार्य के बीच समवाय सम्बन्ध मिथ्या कल्पित है।[1] साथ ही कारण कार्य सम्बन्ध (समवाय) के खण्डन के निमित्त धर्मकीर्ति का कहना है कि कारण व कार्य एक साथ नही रह सकते है। कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य के काल मे कारण का रहना तार्किक दृष्टि से सर्वथा असम्भव है, और इसलिये दोनो के साथ न रहने से दोनो के बीच सम्बन्ध भी सम्भव नही है, क्योकि सम्बन्ध सदैव दो विद्यमान पदार्थो के बीच होता है।[2]

किन्तु धर्मकीर्ति के आक्षेपो का उत्तर देते हुये न्यायवैशेषिक आचार्यो का कहना है कि–वस्तुत वे समवाय सम्बन्ध को दो अनिष्पन्न पदार्थो के बीच नही मानते है और न ही ऐसा कहते है कि पट के निष्पन्न हो जाने के बाद तन्तु व पट–दो निष्पन्न पदार्थो मे समवाय सम्बन्ध होता है। वस्तुत एक ही काल मे पट तन्तुओ मे समवेत होता है (यानि कार्य, कारण मे समवेत रहता है) तथा उसकी निष्पत्ति होती है, अत दोनो मे कालगत भेद नही होता है। जहॉ तक समवाय के स्वतन्त्र अस्तित्व पर आक्षेप की बात है तो इसके उत्तर मे न्यायवैशेषिक आचार्यो का कहना है कि समवाय द्वारा अपने सम्बन्धियो की अपेक्षा रखने से उसके स्वतन्त्र अस्तित्व मे बाधा नही पडती, जैसा कि धर्मकीर्ति कहते है। समवाय एक सम्बन्ध है अत यह निश्चय ही अपने समवायियो पर आश्रित होगा। फिर भी तन्तु (कारण) और पट (कार्य) से समवाय की पृथक सत्ता है। स्पष्ट है कि, समवाय तन्तु व पट से उत्पन्न नही होता है यानि वह **"अकृतक"** है अत उसकी स्वतन्त्र सत्ता है।[3] इस प्रकार न्यायवैशेषिक आचार्य समवाय को स्वतन्त्र पदार्थ मानने के मत की स्थापना करते हुये कारण व कार्य के बीच के सम्बन्ध को सिद्व करते है। अपने इसी समवाय सम्बन्ध के द्वारा वे असत्कार्यवाद को तार्किक आधार प्रदान करते है।

---

1 द्वयोरेकाभि सम्बन्धात्सम्बन्धो यदि तद्वयौ ।
क सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमति स्तथा।।

– प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ – 506

2 कार्यकारण भावोपि तयोरसहभावत । प्रसिद्धयति कथ द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता

वस्तुत कारणता सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचनाओ व विश्लेषण को देखने के बाद यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि इस दर्शन मे कार्य का स्वरूप व परिभाषा, कारण का स्वरूप, परिभाषा व प्रकार, कारण व कार्य के बीच भेद का सिद्धान्त, (असत्कार्यवाद), तथा कारण व कार्य के बीच का सम्बन्ध (समवाय)------ की प्रस्तुतीकरण सुसगति पूर्ण दार्शनिक विश्लेषण का स्पष्ट दृष्टान्त है। जहॉ कारण व कार्य की विवेचना से ही उनका कारण व कार्य के बीच भेद का सिद्धान्त (असत्कार्यवाद) तर्कत परिलक्षित होने लगता है, वही असत्कार्यवाद की तार्किक मॉग पर समवाय सम्बन्ध का प्रस्तुतीकरण इनकी वैज्ञानिक दृष्टि का स्पष्ट परिचायक है। यह और बात है कि इनकी विचार प्रक्रिया मे कुछ कठिनाइयॉ दिखती है। फिर भी अपनी तत्वमीमासा व ज्ञानमीमासा के बीच सगति बैठाने की ये भरपूर कोशिश किये है और इसी कोशिश के निमित्त असमवायिकारण जैसी अनूठी अवधारणा को स्वीकार करते है। वस्तुत अपने विचार–गमन प्रक्रिया मे वस्तुवाद को सम्बल तो प्रदान करते है, परन्तु एक निर्दोष कारणता सिद्धान्त नही प्रस्तुत कर पाते है।

अध्याय ५

सदसत्कार्यवाद

प्राच्य दर्शन मे कारणता सम्बन्धी सदसत्कार्यवाद मूलत जैनियो एव कुमारिल मीमासा का सिद्धान्त है। किन्तु सदसत्कार्यवाद को वैज्ञानिक व तार्किक आधार देने का श्रेय जैन दार्शनिको को ही जाता है। जैन दर्शन एक बहुत्ववादी वस्तुवाद है, जिसका तत्वमीमासीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद और ज्ञानमीमासीय सिद्धान्त स्यादवाद् के नाम से जाना जाता है। यहॉ अनेकान्तवाद मे प्रयुक्त **'अन्त'** पद का अर्थ वस्तु और धर्म दोनो है। अर्थात इस ससार मे अनेक वस्तुऍ है और इनमे से प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म है। वस्तुत यहॉ तत्व को अनन्तधर्मात्मक माना गया है, क्योकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते है।[1] जबकि स्यादवाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है। यहॉ स्यात् पद का सामान्य अर्थ सम्भवत या शायद है, जिसमे सशय झलकता है। किन्तु जैन दर्शन का समग्र अवलोकन करे तो यह स्पष्ट होता है कि यहॉ स्यात् पद का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है, जो ज्ञान की सापेक्षता का सूचक है। अत स्यात् का अनुवाद सापेक्षतया करना ही उचित होगा।[2] इसप्रकार स्यादवाद् का कहना है कि हमारे सारे ज्ञान आशिक व सापेक्ष होते है फलत हमारे सारे प्रकथन व परामर्श वाक्य भी आशिक व सापेक्ष होते है। उल्लेखनीय है कि अनेकान्तवाद और स्यादवाद जैन दर्शन के केन्द्रीय सिद्धान्त है, तथा इन्ही दोनो सिद्धान्त ो के आलोक मे वे अपने कारणता सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करते है। कहने का मतलब यह है कि जैन दर्शन मे "सत" के स्वरूप से ही इनका सदसत्कार्यवाद (सत्+असत्+कार्यवाद) स्वत निगमित

---

1 अनन्तधर्मक वस्तु। अनत धर्मात्मकमेव तत्वम्।

– अन्य योग0, पृष्ठ–22

2 भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन – प्रो0 चन्द्रधर शर्मा, पृष्ठ–32

होता है। अत सद्सत्कार्यवाद की विवेचना से पहले यह आवश्यक है कि हम जैन दर्शन मे सत् के स्वरूप को विवेचित करे।

ध्यातव्य है कि भारतीय दर्शन मे सत् के स्वरूप के विषय मे भिन्न–2 सम्प्रदायो ने अलग–अलग दृष्टिकोण अपनाया है। बौद्ध परिवर्तनशील क्षणिक पदार्थों को ही सत् मानते है और साथ ही इनका कहना है कि परिवर्तित होने वाले धर्म विशेष ही यथार्थ है, धर्म अयथार्थ मानस कल्पना मात्र है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्धदर्शन सत् को प्रवाह नित्य के रूप मे स्वीकार करते है। जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत् कूटस्थ–नित्य है।[2] इनके अनुसार अपरिवर्तनशील धर्मी सामान्य ही सत् और धर्म मिथ्या है। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार सत् न तो अद्वैत–वेदान्त के समान कूटस्थनित्य व त्रिकालाबाधित है और न ही बौद्धो के समान सतत् परिवर्तनशील है। बल्कि सत् वह है जो निरन्तर परिवर्तन मे भी स्थायी बना रहता है। जैन शब्दावली मे इसे परिणामी नित्य कहा जाता है। वस्तुत परिणामी नित्य की आवधारणा इनकी सत् की परिभाषा से ही उभरकर आती है। उभास्वाती ने सत् को उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक बताया है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि सत् वह है जो एक दृष्टि से उत्पाद (उत्पन्न) व्ययशील (विनाशी) तथा दूसरी दृष्टि से ध्रुव (नित्य) है। वस्तुत जैन दर्शन मे सभी वस्तु उत्पादन व्यय ध्रौव्यात्मक बतलायी गयी है और इन तीनो धर्मो से सम्पृक्त रहने के कारण ही वस्तु, नित्यानित्य या परिणामी नित्य कही जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तु अपने स्थिर धर्मो के कारण नित्य तथा उत्पाद व्ययशील होने के कारण परिणामी है।

तो प्रश्न उठता है कि एक ही वस्तु एक ही क्षण मे नित्य एव अनित्य कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न के सन्दर्भ मे कहा जा सकता है कि जैनी के

---

1. बौद्ध न्याय (I) पृष्ठ–140
2. तैतिरीय उपनिषद शाकर भाष्य – 2/1
3. उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त सत्। तत्वार्थ सूत्र 5/29

लिये यह प्रश्न सार्थक समस्या के रूप मे तब प्रस्तुत होता जब वह नित्य शब्द की शकर कृत परिभाषा को स्वीकार करता। कहने का अर्थ यह है कि नित्य को कूटस्थ नित्य के रूप मे लेने पर ही जैनी के समक्ष कठिन प्रश्न उत्पन्न होता। किन्तु जैन दर्शन किसी प्रकार का परिवर्तन हुये बिना समान भाव से रहने वाली वस्तु को, नित्य नही मानता। जैनी की दृष्टि मे अपनी जाति से च्युत न होना ही नित्यत्व का लक्षण है।[1] इनके अनुसार वस्तु मे परिणाम (परिवर्तन) होने पर भी उसकी जातिगत एकता नष्ट नही होती है। इसलिये इन्हे नित्य मानने मे किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न नही होता है। साथ ही अनुभव से भी परिणामी–नित्यता के सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है। जैसे जब एक स्वर्ण पिण्ड से कगन या कुंडल बनाया जाता है, तब स्वर्ण तो वही रहता है परन्तु उसका रूप पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है। इस परिवर्तन मे स्वर्ण पिण्ड अपने पिण्डत्व रूप का त्यागकर कुंडलत्व रूप को प्राप्त होता है, किन्तु इस परिवर्तन के दौरान स्वर्ण जाति रूप से वही रहता है यानि स्वर्णत्व मे कोई परिवर्तन नही होता है। कहने का निहितार्थ यह है कि **परिणामी** शब्द, पिण्डत्व से कुण्डलत्व में हुये परिवर्तनका प्रतिनिधि है और **नित्य** शब्द स्वर्णत्व मे परिवर्तन न होने का प्रतिनिधि है। फलत इस घटना मे सत् को परिणामी–नित्य कहा जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि परिणामी–नित्यता की अवधारणा जैनी के इस कथन से भी अभरकर सामने आती है, जब वह कहता है कि प्रत्येक वस्तु मे दो धर्म–गुण व पर्याय पाये जाते है।[2] यहॉ गुण किसी वस्तु का अनिवार्य या

---

1 तत्वार्थ सूत्र – 5/29

2 उमास्वाति – " गुणपर्यायवद द्रव्यम् „

– तत्वार्थाधिगम सूत्र 5/38

अपरिवर्तनशील धर्म है, जबकि पर्याय उस वस्तु का आगन्तुक या परिवर्तनशील धर्म है। स्पष्ट है कि इन्ही पर्यायो की उत्पत्ति व विनाश से द्रव्य (सत्) मे परिवर्तन दिखायी पडता है। किन्तु द्रव्य की पहचान उसके अनिवार्य धर्म गुण से बनी रहती है। जैसे – चीनी नामक द्रव्य मे चीनीत्व (मिठास) गुण है और इस चीनी से बना मिस्री या घरिया, पर्याय मे हुये परिवर्तन को सूचित करता है। इसी प्रकार चीनी का रग भी पर्याय कहा जायेगा क्योकि चीनी को सफेद, हरा, लाल आदि भिन्न–2 रगो का बनाया जा सकता है।'' किन्तु ऐसी चीनी जिसमे मीठापन न हो, चीनी सज्ञा से ही वचित हो जायेगी। फलत मीठापन चीनी का नित्य धर्म और रग आकार आदि परिवर्तन शील धर्म है। अत हम चीनी नामक द्रव्य (सत्) को नित्य परिणामी कह सकते है। इसप्रकार हम देखते है कि जैन दार्शनिक अद्वैतवेदान्तियो (यहॉ सत् कूटस्थ नित्य है) और बौद्धो (यहॉ सत् क्षणिक है) से भिन्न एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते है। **ध्यातव्य** है कि सत् की उर्पयुक्त परिभाषा से ही जैन अभिमत कारणता का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार ये सत् के सम्बन्ध में बौद्धो और वेदान्तियो के दृष्टिकोण को एकांगी बताते हुये समन्वयात्मक सिद्धान्त नित्यपरिणामवाद रखते है, ठीक उसी प्रकार कारणता के सम्बन्ध मे भी ये सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद को एकागी बताते हुये अपना समन्वयात्मक सिद्धान्त सदसत्कार्यवाद प्रस्तुत करते है। ये एक ओर साख्य व वेदान्तियो द्वारा प्रतिपादित सत्कार्यवाद को पूर्णरूपेण स्वीकार नही करते, वही दूसरी ओर न्यायवैशेषिक द्वारा प्रतिपादित असत्कार्यवाद की भी कडी आलोचना करते है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य, उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण मे विद्यमान रहता है, अर्थात कार्य, कारण में सत् रहता है।[1] जबकि असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पत्ति पूर्व अपने कारण मे असत् होता है अर्थात विद्यमान नही होता है।

---

1 साख्यकारिका –9

इसप्रकार असत्कार्यवाद कार्य को कारण से सर्वथा भिन्न स्वीकार करता है।[1] यही कारण है कि असत्कार्यवाद को आरम्भवाद भी कहा जाता है। जिस प्रकार पाश्चात्य दर्शन मे काण्ट अनुभववाद की समीक्षा बुद्धिवादी दृष्टि से और बुद्धिवाद की समीक्षा अनुभववादी दृष्टिकोण से करता है तथा अपना आलोचनावाद प्रस्तुत करता है, ठीक उसी प्रकार जैनी सत्कार्यवाद की आलोचना असत्कार्यवादी दृष्टिकोण से और असत्कार्यवाद की आलोचना सत्कार्यवादी दृष्टि कोण से करता है तथा अपना सद्सत्कार्यवाद प्रस्तुत करता है।

जैन दर्शन सत्कार्यवादियो द्वारा दी गयी असत्कार्यवाद की इस आलोचना से पूर्णत सहमत है कि यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण मे विद्यमान नही है, तब किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न होना चाहिये। कहने का निहितार्थ यह है कि तब मृत्तिका से पट और तन्तु से घट उत्पन्न होना चाहिये, किन्तु यह अनुभव विरूद्ध है। पुन असत्कार्यवाद को स्वीकार कर लेने पर असत् से उत्पत्ति का प्रसग उपस्थित होगा। शास्त्रवार्ता समुच्चय मे परमाणु और द्वयणुक मे अविद्यमान महत् तत्व के खण्डन के आधार पर असत् से उत्पत्ति का निराकरण किया **गया है।**[2] यहॉ उद्धृत है कि जो जिसमे नही होता उससे उस कार्य की निष्पत्ति नही हो सकती है। "परमाणु और द्वयणुक मे यदि महत् तत्व नही है तो उससे त्रयणुक मे भी महत् तत्व का उत्पादन नही हो सकता और यदि ऐसा होना स्वीकार किया जायेगा तब परमाणु को अपने मे अविद्यमान पचमभूत (आकाश) को भी उत्पन्न करना चाहिये।[3] मूलत इन्ही तर्को के आधार पर जैनी असत्कार्यवाद की आलोचना करते है।

---

1 भाषा परिच्छेद – 18

2 नासत्स्थूलत्व मण्वादौ वैभ्य एव तदुद्भवात्।
असतस्तत्क्ष्समुत्पादो न युक्तोऽतिप्रसगत ।। 46

3 पचमस्यापि भूस्य तेभ्योसत्वा विशेषत ।
भवेदुत्पत्ति रेव च तत्व सख्या न युज्यते।।

इसी प्रकार जैन दार्शनिक सत्कार्यवाद की भी आलोचना करते है। ये असत्कार्यवादियो द्वारा सत्कार्यवाद पर लगाये गये इस आरोप से सहमत है कि–यदि कार्य उत्पत्ति पूर्व कारण मे विद्यमान है तो फिर उत्पत्ति की कोई आवश्यकता ही नही है। पुन यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य, कारण मे विद्यमान है तो उसकी उस रूप मे उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु ऐसा होता नही है।[1] इस विषय मे यदि सत्कार्यवादी यह कहे कि कार्य के रहने पर भी उसका आविर्भाव न होने से, उत्पत्ति के पूर्व उसकी उपलब्धि नही होती तो यह नही कहा जा सकता क्योकि आविर्भाव के अभाव का निर्वचन अशक्य है।[2] पुन उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता मानने पर उत्पत्ति पदार्थ का ही विलय हो जायेगा।[3] क्योकि आद्यक्षण के साथ कार्य के सम्बन्ध को ही उत्पत्ति कहा जाता है। किन्तु यदि कार्य पहले से ही विद्यमान रहेगा तो उसका कोई आद्यक्षण ही नही होगा क्योंकि किसी कार्य का आद्यक्षण वही हो सकता है जिसके पूर्व कार्य का अस्तित्व न हो। लेकिन सत्कार्यवाद मे यह सम्भव नही है।[4]

इसप्रकार जैन दर्शन के अनुसार सत्कार्यवाद एव असत्कार्यवाद दोनो सिद्धान्त दोषपूर्ण है। इनका कहना है कि दोनो सिद्धान्तो द्वारा एक–दूसरे पर लगाये गये आरोप एक दृष्टि से यथार्थ है। **सिद्धसेन सूरि** का कहना है कि सत्कार्यवाद पर बौद्धौ व वेशेषिको द्वारा लगाये गये दोष तथा असत्कार्यवाद

---

1 एव सत्कार्यवाद साम्राज्यापत्ति, तथा च कार्यात्प्रागपि तदुपलब्धिप्रसग।
 – शास्त्रवार्ता पृष्ठ–142

2 न अनाविर्भावस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात 1 वही

3 वही पृष्ठ –143

4 वही पृष्ठ – 143

पर साख्य दार्शनिकों द्वारा लगाये गये दोष पूर्णतया सत्य है।[1] वस्तुत कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कारण मे असत्व माने तो पचमभूत के समान उसकी अनुत्पत्ति का दोष और यदि उत्पत्ति के पूर्व कारण मे कार्य का सत्व माने तो उत्पत्ति से पूर्व कार्य की उपलब्धि की आपत्ति तथा उत्पन्न पदार्थ के विलय का बन्धन दृष्टिगत होता है। अत उत्पत्ति के पूर्व कारण मे कार्य के सत् या असत् कुछ भी मानने पर भी दोष साफ–2 दिखता है, फलत कारण–कार्य की समस्या दु समाधेय है। परन्तु जब सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद की व्याख्या अनेकान्तवादी दृष्टि से की जाती है तब यह कारणतावाद का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त बन जाता है। इसी लिये जैन दार्शनिक सत्कार्यवाद एव असत्कार्यवाद के समन्वय रूप मे सदसत्कार्यवाद को स्वीकार करते है, जो दोनो दृष्टिकोणो पर आधारित होते हुये भी दोनो से भिन्न है।

सदसत्कार्यवाद के अनुसार उत्पत्ति से पूर्व कार्य का पूर्णरूपेण सत्व अथवा पूर्णरूपेण असत्व मानने मे उक्त दोष अवश्य उपस्थित होता है। अत इन दोनो एकान्त पक्षो को छोडकर इस अनेकान्त पक्ष को स्वीकार करना चाहिये कि कार्य उत्पत्ति से पूर्व कथचित् सत् होता है और कथचित असत् भी होता है।[2] वस्तुत जैन अपने तत्वमीमांसीय विवेचन मे भी एकान्तिक दृष्टि नही रखते और कहते है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है।[3] साथ ही इनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय (चार धर्म – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) और परचतुष्टय की अपेक्षा से उभयस्वभावात्मक है।[4] स्वचतुष्टयकी अपेक्षा से

---

1 जे सतवायदोसे सक्कोलुआ भणन्ति सखाण।
सखा स असव्वाए, तेसि सव्वे वि तेसच्चा ।।
– सम्मतितर्क प्रकरण

2 कथचित् सदसत्कार्यवादे दोषभावात् । शास्त्रवार्ता – पृष्ठ 143

3 अनन्त धर्मात्मकमेव तत्व, अस्तेन्यथा सत्वमस्पपादम्।
अन्ययोगव्यवच्छेद त्रिशिका ।, धर्म और दर्शन – पृष्ठ 122

4 सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूप्यदि चतुष्टस्यात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न ऋतिष्ठते ।। आप्तमीमासा, श्लोक 15

वस्तु अस्तित्ववान और परचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु नास्तिरूप होती है। इसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व कार्य के सत्व–असत्व के विषय मे भी जैनियो का मानना है कि एक दृष्टि से उत्पत्ति के पूर्व कार्य का सत्व है तथा अन्य दृष्टि से कार्य का असत्व भी है। अपने सदसत्कार्यवाद की मीमासा करते हुये जैनियो का कहना है कि प्रत्येक कार्य मे दो अश होते है – एक द्रव्य और दूसरा पर्याय।[1] द्रव्य रूप मे कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी सत् होता है और इस द्रव्य रूप मे उसकी उपलब्धि भी होती है। जबकि पर्याय रूप मे कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् होता है और इस रूप मे उस समय उसकी उपलब्धि नही होती।[2] जैसे – घट मे दो अंश होते है– एक मृत्तिका और दूसरा जलधारण की क्षमता का सम्पादक उसका आकार। इनमे मृत्तिका द्रव्य है और घट का आकार पर्याय। मृत्तिका के रूप मे घट पहले से ही विद्यमान होता है और इस अर्थ मे जैन दार्शनिक सत्कार्यवाद के इस मत से सहमत है कि सत् का अभाव नही हो

---

1 नोट जैन दर्शन मे प्रत्येक पदार्थ के दो अश मानते है – पहला शाश्वत् अश और दूसरा अशाश्वत् अश। प्राचीन जैन ग्रन्थों मे शाश्वत् अश को द्रव्य ओर अशाश्वत् अश को पर्याय कहा गया है। परन्तु परवर्ती जैन ग्रन्थो मे पदार्थ मे दो अश – गुण व पर्याय स्वीकार किये गये। जहाँ गुण मूलस्वरूप होता है तथा समस्त परिवर्तनो के मध्य अक्षुण्य बना रहता है, वही पर्याय निरन्तर परिवर्तित होते रहते है। प्राचीन और परवर्ती जैन दार्शनिको मे दृष्टिगत इस विभेद का स्पष्टीकरण करते हुये **प्रो0 जैकोबी** कहते है – "प्राचीन जैन ग्रन्थो मे केवल द्रव्यो और पर्यायो का ही उल्लेख है और जो उनमे इसके अतिरिक्त गुणो का उल्लेख मिलता है, वह सूत्रो मे बहुत कम मिलता है। इसका नियमित प्रयोग अपेक्षाकृत आधुनिक ग्रन्थो मे ही हुआ है। यह जैन दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त है जिसका प्रवेश उसमे न्याय वैशेषिक की विचारधारा और शब्दावली के धीरे–2 हिन्दुओ के विचारो पर छा जाने से हुआ।" – सेक्रेट ब ु0 जि0 45, पृ0153

परवर्ती जैन दार्शनिक उमास्वाती का कहना कि एक ही आधार मे (द्रव्य मे) गुण व पर्याय (क्रमश अनिवार्य व आगन्तुक धर्म) को स्वीकार करना समीचीन प्रतीत होता है। (गुण पर्यायवद् द्रव्यम्) –तत्वार्थ सूत्र 5/37

2 द्रव्यरूपेण प्राकसत पर्यायरूपेणायक्षणसम्बन्ध रूप पर्यायोत्पत्ते सुधत्वाच्चा।।
– शास्त्रवार्ता, पृष्ठ–143

सकता और असत् का उत्पाद नही हो सकता है।[1] परन्तु यह बात एक दृष्टि (गुण दृष्टि) से ही सत् है, अन्य दृष्टि (पर्याय दृष्टि) से असत् का उत्पाद होता है। जैसे घट अपने आकार रूप मे मृत्तिका मे पहले से विद्यमान नही रहता है। किन्तु जिस क्षण इस आकार का उदय होता है, वह आकारात्मक घट का आद्यक्षण है। यह उत्पत्ति एक नवीन उत्पत्ति है क्योकि यह अपने कारण मे उत्पत्ति से पूर्व नही थी।[2] इसप्रकार जैन दार्शनिक सत् के स्वरूप के आधार पर (गुण व पर्याय के माध्यम से) उत्पत्ति पूर्व कार्य के कारण मे सदसत् (सत्+असत्) का सम्यक् निरूपण करते है और यही कारण है कि इनके कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त को सद्सत्कार्यवाद के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

ज्ञातव्य है कि, जैन दर्शनमे कारण मात्र अनन्यथा सिद्ध नियतपूर्ववर्ती ही नही है अपितु उसमें अर्थक्रियाकारित्व अथार्त कार्य की उत्पत्ति की शक्ति का विचार भी निहित है।[3] इस दर्शन के अनुसार कार्य अपने कारण मे शक्ति रूप से विद्यमान है। इस शक्ति के कारण ही नियत कारण से नियत कार्य की उत्पत्ति होती है। उल्लेखनीय है कि जैनी अपने कारणतावाद मे **भेदाभेद दृष्टि** अपनाते है।

जहॉ तक मीमासा दर्शन मे कारणता की बात है तो इस दर्शन के दोनो सम्प्रदायो मे मतभेद है। वस्तुत कुमारिल मीमासा ही सदसत्कार्यवाद को स्वीकार करते है। कुमारिल का कहना है कि प्रत्येक द्रव्य नित्य है और रूप गुण के परिवर्तित होने पर भी मूलत द्रव्य वही बना रहता है।[4] इसप्रकार ये कार्य की नवीन उत्पत्ति स्वीकार नही करते, परन्तु इस बात का विरोध भी

---

1 भावस्सणत्थिणासोर्णथ अभावस्य चैव उत्पादौ। पचास्तिकाय – 15

2 शास्त्रवार्ता, पृष्ठ 144

3 प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृष्ठ 530

करते है कि वस्तुये बिल्कुल भेदशून्य है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य, कारण से भिन्न कोई नवीन तत्व नही है, बल्कि कारण के गुण ही परिवर्तित होकर कार्य रूप को प्राप्त होते है। जैसे – एक मृत्पिण्ड कभी घडे का और कभी सकोरे का स्थान ग्रहण कर सकता है। इसीप्रकार वह कभी भूरा और कभी लाल हो सकता है, किन्तु इन सभी रूपान्तरो मे उपादान वही बना रहता है, केवल उसके रूप ही परिवर्तित होते है।[2]

उल्लेखनीय है कि कुमारिल मीमासको का मानना है कि कारण–कार्य, अवयव–अवयवी का सम्बन्ध हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर है। वस्तुत अवयवी न तो अवयवो से बिल्कुल भिन्न है जैसा कि नैयायिक मानते है और न ही बौद्धो के समान अवयवी अवयवों से भिन्न कोई अस्तित्व ही नही है। बल्कि इनका कहना है कि एक दृष्टि से वस्तु हमे अवयवों के सयोग रूप मे दिखायी देती है, किन्तु दूसरी दृष्टि से **वहीं वस्तु** हमे सम्पूर्ण अवयवी के रूप मे दिखायी देती है, जिसके कई अवयव हो सकते है।[3] इसप्रकार हम कह सकते है कि कुमारिल के अनुसार कारण कार्य मे भेदाभेद सम्बन्ध है। ज्ञातव्य है कि प्रभाकर मीमांसक समवाय को एक भिन्न पदार्थ के रूप मे स्वीकार करते है और ऐसा स्वीकार ने का मतलब भेदाभेदसम्बन्ध का निषेध करना ही है।[4] वास्तव मे प्रभाकर नैयायिको के समान कारण–कार्य के बीच भिन्नता स्वीकार करते है और इनके बीच समबाय सम्बन्ध की कल्पना करते है।[5]

---

1 वहीं सम्बन्ध क्षेपवाद– 32

2 वही '''''''''''''' 32

3 भारतीय दर्शन का इतिहास (I)– दासगुप्ता पृष्ठ – 357

4 मानमेयोदय, 267

5 मानमेयोदय, 267

साथ ही मीमासको के कारणता सिद्धान्त मे उल्लेखनीय बात यह है कि वे किसी वस्तु की उत्पत्ति मे सभी प्रकार के कारणो का योगदान आवश्यक नही मानते है। इनके अनुसार किसी कार्य की प्रकृति की व्याख्या के लिये एक ही कारण पर्याप्त है। ज्ञातव्य है कि नैयायिक कारण–कार्य की प्रक्रिया मे तीन प्रकार के कारण की बात करते है– उपादान, निमित्त और असमवायि।[1] साथ ही इनका कहना है कि किसी कार्य की उत्पत्ति के लिये सभी तीनो प्रकार के कारणो की आवश्यकता होती है। किन्तु मीमासको का मानना है कि किसी कार्य की उत्पत्ति के लिये सभी तीनो प्रकार के कारणो की कोई आवश्यकता नही होती है। वस्तुत इनका कहना है कि कार्य की उत्पत्ति के लिये कारण मात्र की कल्पना आवश्यक है, भले ही तीनो कारणो मे से कोई एक ही हो। जहॉ तक कर्त्ता (निमित्त) की बात है तो इसे हम वही अगीकार करते है जहॉ उसका अनुभव करते है।[2] मीमासको के कहने का आशय यह है कि यद्यपि ये तीनों कारणो को मान्यता तो देते है, किन्तु प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मे सभी को आवश्यक नही मानते है। अत कार्य की उत्पत्ति के लिये सभी कारण आवश्यक नही है।

इस सम्बन्ध में मेरा मानना है कि नैयायिकों की अपेक्षा मीमांसकों का मत ज्यादा तार्किक व वैज्ञानिक है। प्राय हम ऐसी बहुत – सी घटनाओ को देखते है जिसमे निमित्त कारण की भूमिका नही होती है। जैसे $0^{o}C$ पर पानी का जमना, गर्मी के दिनो मे कठोर चट्टानो का स्वत टूटना, ज्वालामुखी से लावा का निकलना आदि। वस्तुत इन घटनाओ के अवलोकन से हम स्पष्ट निष्कर्ष निकाल सकते है कि यहॉ किसी कर्त्ता की कोई भूमिका सम्भव नही है। यही नही, एक ही कार्य की अलग–2

1 नारायण–मानमेयोदय, सूर्य नारायण शास्त्री द्वारा अग्रेजी अनुवाद के साथ सम्पादित, थियोसोफिकल पब्लिशिग हाउस, अडयर मद्रास, पृष्ठ – 169

2 वही पृष्ठ –169–170

परिस्थितियो मे कही कर्ता की आवश्यकता होती है और कही नही होती है। जैसे कार्य है – चट्टान का टूटना यह कार्य दो अलग–2 ढग से सम्पादित हो सकता है। **पहला** – वातावरणीय ताप से चट्टान मे प्रसार होता है, फलत चट्टान मे टूट–फूट होती है और इसप्रकार यहॉ किसी निमित्त की आवश्यकता नही पडती है। **दूसरा** – एक कर्ता स्वय अपने प्रयास से चट्टान को तोडता है और इसप्रकार यहॉ कार्यसम्पादन मे निमित्त की भूमिका स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। अत इन विवेचनाओ को आधार बनाते हुये हम कह सकते है कि मीमासको का यह मत ठीक ही है कि प्रत्येक कार्य के सम्पादन मे तीनो कारणो की भूमिका साथ–2 होना आवश्यक नही है।

शक्ति सिद्धान्त :– कुमारिल एवं जैन

कुमारिल मीमासको और जैन दर्शन के कारणता सिद्धान्त के स्वरूप को अच्छी तरह से समझाने के लिये यह आवश्यक है कि इनके शक्ति सिद्धान्त का स्पष्ट विश्लेषण करे। जहॉ तक मीमासको का सवाल है तो इनके दोनो सम्प्रदाय कारण मे एक प्रकार की शक्ति स्वीकार करते है जिसके प्रभाव से कोई कार्य अस्तित्व मे आता है। किन्तु इस शक्ति के स्वरूप और इसके लिये प्रस्तुत प्रमाण के बिन्दु पर कुमारिल व प्रभाकर मे मतभेद दिखता है। **प्रभाकर इस शक्ति को एक पृथक पदार्थ के रूप में स्वीकार करते है और इसके लिये अनुमान प्रमाण उपस्थित करते है।[1] जबकि कुमारिल शक्ति को गुण मानते है तथा इसके लिये अर्थापत्ति प्रमाण की स्थापना करते है।[2]** शक्ति के सम्बन्ध मे स्वरूपगत व प्रमाणगत मतभेद के बावजूद दोनो सम्प्रदायो का कहना है कि शक्ति के अभाव मे कारण रूप वस्तु के विद्यमान होने पर भी कार्योत्पादन रूप क्रिया सम्भव नही हो सकती। शास्त्रदीपिका[3] मे शक्ति को

---

1 प्रकरणपचिका, पृष्ठ 78
2 मानमेयोदय पृष्ठ – 248
3 शास्त्रदीपिका, पृष्ठ –80

प्रमाणित करने के लिये अन्वय–व्यतिरेक को आधार बनाते हुये कहा गया है कि बीज के विद्यमान होने अकुरोत्पत्ति होती है तथा बीज के अभाव मे अकुर का भी अभाव हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि बीज एव अकुर मे कार्यकारण सम्बन्ध है। किन्तु कभी–कभी हम देखते है कि बीज के विद्यमान होने पर भी अकुरोत्पत्ति नही होती है। (जब बीज को भून दिया जाता है) तो प्रश्न उठता है कि एक ही बीज मे कारण और अकारण नामक विरोधी गुणो की व्याख्या हम किस प्रकार करेगे। वस्तुत मीमासको का कहना है कि इस प्रश्न का समाधान शक्ति नामक पदार्थ के आधार पर किया जा सकता है। उनका कहना है कि कारण मे एक प्रकार की अदृश्य शक्ति होती है, जिसके कारण ही वह कार्योत्पादन मे समर्थ होता है और इस शक्ति के अक्षुण्य रहने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु जब यह शक्ति प्रतिबन्धित कर दी जाती है (यानि जब बीज को भून दिया जाता है) तब अंकुरोत्पत्ति रूपी कार्य की उत्पत्ति नही होती है। अत कारण मे एक प्रकार की शक्ति मानना ठीक ही है।

इसी बात को स्पष्ट करते हुये **मानमेयोदयकार** का कहना है कि जब **अग्नि के समक्ष मणि मंत्र आदि प्रतिबन्धक विद्यमान रहते है** तब अग्नि दाह रूप कार्य नही करती और जब इस प्रतिबन्धक का अभाव होता है तब दाह रूप कार्य प्रारम्भ हो जाता है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि अग्नि मे एक दहन रूपी शक्ति है जो जलने का कारण बनती है और जब मणि, मन्त्र से इस शक्ति कौ प्रतिबन्धित कर देते है तो अग्नि जलने का कारण नही बनती, जबकि अग्नि का बाह्रय रग रूप पूर्ववत ही रहता है। अत अग्नि मे एक पृथक शक्ति है जो जलने का कारण है। वस्तुत इस शक्ति को कुमारिल भट्ट गुण कहते है और इसकी अनुमानगम्यता का खण्डन करते है। इनका कहना है कि 'शक्ति' मे गुण के लक्षण घटित होते है अत इसकी गणना गुण मे करना

---

1 गुणोक्त लक्ष्म सद्भावादस्याश्च गुणतामता'' – मानमेयोदय श्लो0 45

ठीक है।[1] यह शक्ति तत्व सभी द्रव्यो मे रहने के कारण सामान्य गुण माना जाता है।[1] किन्तु इस बात का खण्डन करते हुये प्रभाकर मीमासको का कहना है कि – शक्ति केवल द्रव्य मे नही रहती, गुणादि मे भी रहती है, अत उसे गुण नही कहा जा सकता है। क्योकि गुण के आश्रय को द्रव्य कहते है और द्रव्याश्रितत्व गुणो में रहता है।[2] किन्तु इस सन्दर्भ मे भाट्ट मीमासक कहते है कि "हमारे मत मे गुणाश्रयोद्रव्य,, द्रव्य का लक्षण नही किया गया है, अपितु हमारे अनुसार गुण का लक्षण है – "अनुपादान सत्वे सति कर्म भिन्नत्वे सति द्रव्याश्रितत्वम" –' चूँकि यह लक्षण शक्ति मे घटित हो जाता है अत शक्ति को गुण मानना ठीक है।[3]

इसीप्रकार भाट्ट शक्ति के पक्ष मे प्रस्तुत अनुमान प्रमाण का खण्डन करते हुये कहते है कि प्रत्यक्ष के द्वारा शक्ति का ग्रहण नही किया जा सकता क्योकि अदृश्य होती है और न ही अनुमान द्वारा ग्रहण सम्भव है क्योकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है।[4] आगे भट्ट मीमासको का कहना है कि अनुमान ज्ञान मे वही लिग अनुमापक माना जाता है जिसका सहचार–दर्शन प्रत्यक्ष हो है। परन्तु शक्ति के सन्दर्भ मे ऐसा लिग सम्भव नही है क्योकि शक्ति अदृश्य है, इसलिये अर्थापत्ति के द्वारा ही शक्ति का ज्ञान ग्रहण किया जा सकता है।[5] इसी बात की विवेचना करते हुये इनका कहना है कि प्राय अग्नि सयोग से हम दाह कार्य होते देखते है, किन्तु जब कभी मन्त्र या मणि आदि का योग हो जाता है तो अग्नि संयोग होने के बावजूद भी दाह कार्य नही होता है।[6] अत

---

1 वही पृष्ठ 249

2 वही

3 वही, पृष्ठ 250

4 तत् (प्रत्यक्ष) पूर्वक अनुमान। न्यायसूत्र 1/1/5

5 वही, पृष्ठ–248

6 यादृशादग्निसयोगात् सर्वदा दाह दर्शनम्।
तादृशादेव मन्त्रादिप्रयोगे तददर्शनात्।।

इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि अग्नि सयोग के अतिरिक्त **"कुछ अवश्य है"** की कल्पना करनी होगी, तभी यह विरोधात्मक स्थिति दूर हो सकेगी। निश्चय ही यह अदृश्य कारण **शक्ति** है।[1] इसप्रकार प्रभाकर व भट्ट– दोनो ने शक्ति को विधिवत् प्रमाणो द्वारा सिद्ध किया है।

किन्तु मीमासको के इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हुये नैयायिको का कहना है कि कार्योत्पादन के लिये कारण मे शक्ति की कल्पना निरर्थक है। वस्तुत कारण का यह स्वभाव ही है कि वह कार्य उत्पादन मे समर्थ होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अग्नि मे दाह रूपी शक्ति नही होती है बल्कि दाहकत्व अग्नि का स्वभाव ही है, फलत शक्ति को पृथक पदार्थ नही माना जा सकता है।[2] किन्तु नैयायिको के इस आक्षेप का उत्तर देते हुये मीमासको का कहना है कि वस्तु का स्वभाव यावद्वस्तुभावी होता है।[3] अर्थात् वस्तु का स्वभाव वस्तु के साथ सदैव रहता है किन्तु अग्नि के साथ मणि, मन्त्र आदि के सम्बद्ध हो जाने पर अग्नि, दाहकत्वरूप कार्य से विरत हो जाती है। इसका मतलब यह है कि अग्नि के रहने पर भी उसमे दाहकता नही रहती है। इसलिये अग्नि से पृथक **दाहकत्व रूप शक्ति** को मानना अनिवार्य है।[4] और **यह शक्ति प्रतिबन्धक** (मणि, मन्त्रादि) के योग से प्रतिबन्धित की जा सकती है। पुन शक्ति का खण्डन करते हुये नैयायिको का कहना है कि कार्य की उत्पत्ति के लिये सकल सहकारियो के भाव के साथ–साथ विकल सहकारियो का अभाव भी आवश्यक है।[5] अत किसी कार्य के उत्पन्न होने के लिये वस्तु

---

1 अदृश्य कारण किचिंत् साशक्तिरिति गीयते। श्लोक –45

2 न्यायकुसुमाजलि 1/9–10

3 मानमेयोदय, पृष्ठ – 246

4 वही, पृष्ठ 247

5 न्यायकुसुमाजलि 1/9–10

विकल सहकारी का अभाव भी होना चाहिए और यह विकल सहकारी ही प्रतिबन्धक है। वस्तुत जब तक यह प्रतिबन्धक विद्यमान रहेगा तब तक कारण से कार्योत्पादन नही हो सकता है। इसप्रकार न्यायवैशेषिक दर्शन मे प्रतिबन्धक ससर्गाभाव भी एक मुख्य कारण माना जाता है। किन्तु मीमासक प्रतिबन्ध ससर्गाभाव (ससर्ग+अभाव) का खण्डन करते हुये कहते है कि प्रतिबन्धकाभाव एक प्रकार का अभाव है और अभाव किसी भाव पदार्थ का कारण नही हो सकता है।[1] अत. पदार्थ मे शक्ति को मानना आवश्यक है और जब तक यह शक्ति अक्षुण्य रहती है तभी तक बीज से अकुर अथवा अग्नि से दाह कार्य हो सकता है, अन्यथा नही।

जहॉ तक जैनदर्शन **में** शक्ति सिद्धान्त की बात है तो मीमास्को की तरह जैनी भी अपने मत के पक्ष मे प्रबल तर्क देते हुये नैयायिको के दृष्टिकोण का खण्डन करते है। इनका कहना है कि प्रतिनियत निश्चित किसी एक सामग्री से प्रतिनियत निश्चित कोई एक कार्य होता हुआ देखकर अतीन्द्रिय शक्ति की सिद्धि होती है।[2] आगे जैनाचार्यो का कहना है कि यदि ऐसा न माना जाय तो फिर प्रतिबन्धक मणि मन्त्रादि के सन्निधान होने पर अग्नि अपने स्फोट कार्य को क्यो नही करती, जबकि सभी सामग्री विद्यमान रहती है। क्या प्रतिबन्धक मणि मन्त्र के द्वारा अग्नि का स्वरूप नष्ट किया जाता है अथवा सहकारी कारणों का विनाश किया जाता है ? यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार करे तो यह साक्षात प्रत्यक्ष विरूद्ध होगा क्योकि प्रतिबन्धक के विद्यमान होने पर भी अग्नि का स्वरूप वैसा ही दिखायी देता है। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प को भी स्वीकार नही किया जा सकता क्योकि उस समय जलती हुयी अग्नि के समक्ष सभी सहकारी कारण भी विद्यमान रहते है। अत ऐसा मानना उपयुक्त ही है कि प्रतिबन्धक मणि मन्त्रादि के द्वारा अग्नि की शक्ति ही नष्ट

---

1 न च प्रतिबन्धकाभावादेव दाहइतिवाच्यम्, अभावस्य सर्वत्राप्य कारकत्वात्
– ज्ञानमेयोदय – 247

कर दी जाती है।[1]

वस्तुत नैयायिक जो प्रतिबन्ध ससर्गाभाव को कारण रूप स्वीकार करते हुये शक्ति का खण्डन करते है, के विषय मे जैन आचार्यो का मत वैशिष्ट्य पूर्ण है। इनका कहना है कि यदि प्रतिबन्धकाभाव को कारण रूप स्वीकार किया जाय तो मणि मन्त्रादि के सानिध्य से अग्नि मे जो दाह रूप कार्य होता है, वह नही हो सकेगा। किन्तु हम देखते है कि प्रतिबन्धक (मणि, मन्त्र) के विद्यमान रहने पर भी उत्तंभक के सानिध्य से अग्नि दाह रूप कार्य करती है। अत प्रतिबन्धकाभाव को कारण रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता है।[2] पुन अभाव कभी भी कार्य का सहकारी नही बन सकता है क्योकि वह सर्वथा अभाव रूप है और यदि वह सहकारी है तो उसे भाव रूप होना पडेगा।[3] इसप्रकार हम देखते है कि जैन व मीमासा दोनो दर्शनो मे कारण मे एक प्रकार की शक्ति को स्वीकार किया गया है और यह स्वीकारोक्ति इन दोनो दर्शनो की अपनी मौलिक विशेषता है।

ध्यातव्य है कि मीमासा दर्शन मे यह शक्ति स्वत· उत्पन्न बतायी गयी है तथा कारणता की प्रक्रिया मे किसी अन्य द्वारा उत्पन्न नही की जा सकती है।[4] श्लोकवार्तिक मे भी कहा गया है कि – जिनमे स्वत. शक्ति नही है तो अन्य कारण से भी उसमे वह शक्ति नही आ सकती है।[5] इसप्रकार स्पष्ट है कि मीमासा स्वत प्रमाण्यवाद को स्वीकार करता है, जिसके अनुसार प्रमाण

---

1 अत शक्तेरेवानेन प्रतिबन्धोभ्युयगन्तव्य। वही पृष्ठ 530

2 वही पृष्ठ 531

3 वही पृष्ठ 532

4 प्रमेय कमल मार्तण्ड – पृष्ठ 416

5 न हि स्वतोऽसती शक्ति कर्तुमन्येन शक्यते। श्लोकवार्तिक – चोदनासूत्रम् 47

मे प्रमाण्यभूत शक्ति स्वत होती है।[1] किन्तु श्लोकवार्तिक के इस विचार से सत्कार्यवाद की आहट सुनायी पडती है। इस बात का खण्डन करते हुये मीमासक कहते है कि ऐसी शका करना समीचीन नही है क्योकि कार्य का स्वभाव भी उसमे अपने कारण से आता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य जैसे ही कारण से उत्पन्न होता है, उसका स्वभाव भी उसमे उत्पन्न हो जाता है। जैसे—मृत्पिण्ड मे जो रूप आदि गुण है, वह घट रूप कार्य के उत्पन्न होने के साथ ही उसमे आ जाते है। किन्तु कार्य के कुछ गुण कारण से न आकर स्वत ही उत्पन्न होते है। जैसे कार्य रूप घट मे जल आहरत्व का गुण। यह गुण घट रूप कार्य का ही विशिष्ट गुण है मृतिपण्ड रूप कारण का नही। श्लोकवार्तिक मे भी कहा गया है कि पदार्थ उत्पत्ति मात्र मे कारणो की अपेक्षा रखते है और जब वे उत्पन्न हो जाते है तो उनकी अपने कार्यो मे प्रवृति स्वय ही होती है।[2] जैसे मृत्पिण्ड, दण्ड, कुम्हार तथा चक्र आदि कारण घट की उत्पत्ति मे तो आवश्यक है, परन्तु घट के जल आहरत्व रूपी कार्य मे इन कारणो की अपेक्षा नही रहती है (मृत्पिण्ड, चक्र, दण्ड आदि)। बल्कि घट मे जल आहरत्व रूपी शक्ति स्वय आती है।[3] अत मीमासा दर्शन शक्ति को स्व उत्पन्न स्वीकार करता है। **वास्तव में मीमांसा दर्शन का यह मत सांख्य के सत्कार्यवाद से भिन्न है। स्पष्ट है, सांख्य के सत्कार्यवाद में कार्य के सभी गुण कारणोत्पन्न माने गये है, जबकि मीमांसादर्शन में कार्य के कुछ गुण स्वोत्पन्न बतलाये गये हैं।**

---

1 स्वत सर्वप्रमाणाना प्रामाण्यमितिगम्यताम्। वही

2 आत्मलाभे हि भावाना कारणापेक्षिता भवेत्।
लब्धात्मना स्व् कार्येषु प्रवृत्ति. स्वयमेव तु ।। वही पृष्ठ—48

3 मृत्पिण्ड दण्ड चक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते
उदकाहरणे त्वस्य तदपेक्षा न विद्यते।
प्रमेय कमल मार्तण्ड पृष्ठ — 417

☆☆☆

अध्याय–६

असत्कारणवाद

बौद्ध दर्शन मे कारणता की समस्या का विवेचन अन्य भारतीय दर्शनो मे प्रतिपादित कारणता की समस्या के विवेचन से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। अन्य भारतीय दर्शनो मे कारणतावाद का विवेचन मुख्यत उपादान कारण तथा कार्य के मध्य सम्बन्ध की समस्या को लेकर उद्भूत होता है तथा उसका मुख्य प्रयोजन सृष्टि समस्या की व्याख्या करना है, वही प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन मे सृष्टि समस्या अव्याकृत मानी गयी है।[1] इस सन्दर्भ मे यह भी ध्यातव्य है कि बुद्ध का प्रयोजन तत्वमीमासा की समस्याओ को तर्क की सहायता से सुलझाना नही था अपितु दु ख से त्रस्त मानवमात्र को मध्यममार्ग का निर्देश देकर उन्हे दु खो से मुक्ति के उपाय बतलाना था।[2] यह अलग बात है कि मध्यम मार्गीय इन आचार शास्त्रीय सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि मे सुव्यवस्थित दार्शनिक मान्यताएँ भी थी। बौद्ध दर्शन मे कारणतावाद की समस्या भी इस आचार शास्त्रीय (दु ख का कारण एव उसके निरोध के उपाय) सदर्भ मे मुख्य रूप से विवेचित हुई है। यद्यपि उसमे कारणतावाद की दार्शनिक समस्या भी अपने मूल सैद्धान्तिक रूप मे विद्यमान है। यहाँ भी बौद्ध दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों से विभेद रहा है। अन्य भारतीय दर्शनो में कारणतावाद के आधार पर उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति की व्याख्या की गयी है, जैसे–न्याय असत्कार्यवाद के आधार पर उत्पत्ति की व्याख्या करता तथा साख्य सत्कार्यवाद के आधार पर कारण की परिणति के रूप मे कार्य को स्वीकार करता है। बौद्ध दर्शन का कारणतावाद न तो कारण से कार्य की उत्पत्ति की व्याख्या करता है और न ही कारण से कार्य की अभिव्यक्ति की अपितु उसके अनुसार कारण–कार्य विश्व घटना क्रम की दो धटनाएँ है जो निरन्तर एक दूसरे का अनुगमन करती है।[3] "कारण के होने पर ही कार्य होता

---

1 चूलमालुक्यसुत्त 63, मज्झि0 पृ0 251–53 बौद्ध दर्शन मीमासा, पृ0 47 पर उद्धृत।

2 दीघ (पी0टी0एस0) 71 पोट्ठपादसुत 1/9

3 बौद्धन्याय I, पृ0 142

है तथा कार्य सदैव कारण का अनुगमन करता है।" अत कारण–कार्य मे आवश्यक पूर्ववर्तिता और अनुवर्तिता का सम्बन्ध है।[1] कारण के विद्यमान होने पर कार्य स्वत उत्पन्न हो जाता है और इसी सिद्धान्त से यह भी निगमित होता है कि कारण के निरूद्ध हो जाने से कार्य भी निरूद्ध हो जाता है। "अस्मिन सति इद भवति, इमस्मि निरोधा इम्म तिरूझ्झति" –(मज्झिम 3/2/5)। वस्तुत यह समस्त बौद्ध दर्शन का आधार स्तम्भ है। यही प्रत्ययो (कारण) पर आश्रित उत्पत्ति का सिद्धात है, जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते है। किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद विशुद्ध रूप से कारणता सिद्धान्त है– इस बात पर मतभेद है। ऐसी स्थिति मे हमे बौद्ध दर्शन मे कारणता विषयक मत के निर्धारण मे सर्वप्रथम इस बिन्दु पर विचार करना चाहिये कि इस दर्शन का केन्द्रीय सिद्धात क्या है ? और वे कौन से सिद्धात है जो कारणता से सीधे ताल्लुक रखते है। निश्चय ही इस प्रश्न का उत्तर यह है कि **क्षणभंगवाद** व **प्रतीत्यसमुत्पाद**–बौद्ध दर्शन के केन्द्रीय सिद्धान्त है जिसे किसी न किसी रूप मे सभी बौद्ध दार्शनिक सवीकार करते है। इसलिये बौद्ध दर्शन मे कारणता सिद्धात को सम्पूर्णता के साथ देखने पर यह बात उभर कर सामने आती है कि इस सन्दर्भ मे ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जिसमे दोनो विचारो (प्रतीत्यसमुत्पाद व क्षणभगवाद) का समन्वय हो। तो निश्चय ही हम इस दर्शन के कारणता सम्बन्धी मत को असत्कारणवाद कह सकते है क्योकि इसमे–'इसके होने पर यह होता है' और 'प्रत्येक की सत्ता क्षणिक है'–इन दोनो का समन्वय है। इसप्रकार हम बौद्ध दर्शन के कारणता विषयक मत को **असत्कारणवाद, सापेक्षकारणवाद** या **हेतु–प्रत्ययवाद** कह सकते है।

ध्यातव्य है कि बौद्ध दर्शन मे अनेक सम्प्रदाय हुए है किन्तु हम अपने विवेचन को मुख्यत चार बौद्ध सम्प्रदायो तक सीमित रखेगे, जो निम्न है–1 वैभाषिक 2 सौतान्त्रिक 3 योगाचार विज्ञानवाद 4 माध्यमिक या शून्यवाद। उल्लेखनीय है कि इन सम्प्रदायो मे कारणता का विश्लेषण करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम प्रतीत्यसमुत्पाद का ठीक–ठीक अर्थ का परिचयात्मक विवेचन कर ले।

---

1 भारतीय दर्शन की समस्याए (शर्मा)–पृष्ठ–130

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ :-

प्रतीत्यसमुत्पाद, दो शब्दो का योग है–पहला–प्रतीत्य और दूसरा–समुत्पाद। 'प्रतीत्य', शब्द की व्युत्पत्ति है– "प्रति +इण+गतौ+ल्यप् = "प्रतीत्य"। इस प्रकार इसका अर्थ है "प्राप्त करके"। जबकि 'समुत्पाद' का अर्थ है–प्रादुर्भाव अथवा उत्पद्यमान (सम+उत्+पाद)। इसप्रकार– प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है–किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति" इसे ही "प्रत्ययो के प्रति गमन करके उसका उत्पाद होना कहते है।"[1] अत शब्दश प्रतीत्य–समुत्पाद का अर्थ हुआ "प्रत्ययो पर आश्रित उत्पत्ति का सिद्धान्त।" प्रत्ययो पर आश्रित उत्पत्ति का यह सिद्धान्त सामान्यतया यह द्योतित करता है कि **पूर्व परिस्थितियों के विद्यमान् होने पर ही कोई कार्य अस्तित्व, में आता है[2] तथा उन परिस्थितियों के निरूद्ध हो जाने पर कार्य भी निरूद्ध हो जाता है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट यह प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त उस काल में प्रचलित दो अतिवाद–नियतिवाद अथवा भाग्यवाद एवं यदृच्छावाद अथवा स्वभाववाद के मध्य मध्यम मार्ग का निर्देश देता है।[3]** नियतिवाद के अनुसार सब कुछ पूर्व निर्धारित है इसमे कर्त्ता के प्रयत्न की कोई आवश्यकता नही है। इसीप्रकार यदृच्छावाद के अनुसार समस्त परिवर्तन आकस्मिक है। यह सिद्धान्त भी कर्त्ता के प्रयत्न को निरर्थक मानता है। बुद्ध दोनो मार्गो का अतिक्रमण कर मध्यममार्ग का निर्देश करते हुए कहते है कि न स्वत न परत और न अहेतुक ही वस्तुएँ उत्पन्न होती है, वह तो प्रतीत्य–समुत्पन्न होती है[4] अर्थात् दूसरे पर आश्रित होकर उत्पन्न होती है। इससे यह प्रगट होता है कि यदि कुछ उपाधिया विद्यमान है तो एक चीज (कार्य) उत्पन्न होगी। साथ ही यह बात भी गर्भित है कि कार्य को बनाये रखने वाले कारणो को पृथक कर देने से सन्तति का निरोध किया

---

1 बौद्ध धर्म दर्शन पृ0 230

2 इमस्मि सति इद होति। मजिझ0 3/2/5

3 बौ0अ0भा0द0 पृ0 373

4 नस्वतो नपरतो नअहेतुत, प्रतीत्यतत्समुत्पन्नम् नोत्पन्न तत् स्वभावत। बौद्ध न्याय 1, पृ0 145 पर उद्धृत।

जा सकता है। यह बात "उसके निरोध से इसका निरोध हो जाता है" मे स्पष्ट रूप से कही गयी है। यहॉ बौद्ध दर्शन का स्वभाववाद, आकस्मिकवाद तथा नियतिवाद से स्पष्ट विरोध है। स्वभाववाद तथा नियतिवाद मे जो होना है वह होकर रहेगा, हम चाहे या न चाहे किन्तु बौद्ध दर्शन मे मनुष्य के प्रयत्न की पूरी सभावना है क्योकि एक सन्तति यदि प्रारम्भ हो गयी तो उसे समाप्त भी किया जा सकता है, जरूरी केवल इतना है कि हम कारणो को जान ले ताकि उन्हे हटाया जा सके।[1] इसप्रकार प्रतीत्य–समुत्पाद का शाब्दिक अर्थ तथा उसका सामान्य रूप हमे यह बताता है कि प्रत्येक अस्तित्ववान् वस्तु सहेतुक है, जिससे वह वैसी ही है अन्य तरह की नही। इस सामान्य सिद्धान्त के आधार पर बुद्ध ने दु.ख के कारण तथा दुःख निरोध रूप **द्वादश निदान** की व्याख्या की है।

I. वैभाषिक मत में कारणतावाद–

वैभाषिक एव सौत्रान्तिक मतो मे कारणतावाद के सन्दर्भ मे इस महत्वपूर्ण विभेद का कारण, उनकी सत्ता विषयक अवधारणाओ मे निहित है। **वैभाषिक सत्ता मीमांसा की दृष्टि से सर्वास्तिवादी है।[2] वे भूत तथा भौतिक, चित्त तथा चैतसिक सभी धर्मो का ज्ञान एवं स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं, तथा सभी वस्तुओं का अस्तित्व सभी अतीत, वर्तमान और अनागत कालों में मानते हैं।[3]** उनके अनुसार कोई भी वस्तु उत्पन्न होती है स्थित रहती है और नष्ट हो जाती है, अर्थात् प्रत्येक क्षण वस्तु अतीत से प्रत्युत्पन्न तथा प्रत्युत्पन्न से अनागत मे परिवर्तित होती रहती है। अतीत से प्रत्युत्पन्न तथा प्रत्युत्पन्न से अनागत मे यह परिवर्तन धर्मों के कारण होता है।[4] अत वैभाषिक सम्प्रदाय मे कारणता की व्याख्या मे "धर्म" की अवधारणा का महत्वपूर्ण स्थान है।

---

1 बोधिचर्यावतार पजिका छ 25–26 एव 31–32

2 ये हि सर्वम् अस्तीति वदन्ति अतीतम् अनागतम् प्रत्युपृन्नच, ते सर्वास्तिवादी। अभिधर्म भाष्य–5/25

3 अभिधर्मकोश – 5/24

4 बौद्ध दर्शन मीमासा पृ0 82

बौद्ध दर्शन मे धर्म से अभिप्राय **भूत और चित्त के सूक्ष्म तत्वों से है जिनका पृथककरण नहीं हो सकता।**[1] इन धर्मो की सख्या के विषय मे बौद्ध दर्शन सम्प्रदायो मे मतभेद पाया जाता है। परन्तु इन धर्मो का सस्कृत धर्म तथा असस्कृत धर्म रूप विभाग सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते है। सस्कृत धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न है, तथा वैभाषिक मत मे इनका लक्षण **जाति, जरा, स्थिति** तथा **अनित्यता** है।[2] इनके कारण ही धर्मो का त्रैविध्य सचार होता है। जाति के बल से धर्मों का अनागत से प्रत्युत्पन्न मे सचार होता है। जरा और अनित्यता पुन प्रत्युत्पन्न से अतीत मे सचार कराते है। धर्मो की अनित्यता जहा उसके परिवर्तनशीलता की द्योतक है, वही स्थिति के कारण वस्तु परिवर्तनशील होने पर भी स्थित रहती है। अत इस मत मे एक ही वस्तु मे दो विरूद्ध धर्मो को सम्भव माना गया है।

धर्मों के लक्षण मे "अर्नियता" से "क्षणिकता" का सिद्धान्त उद्भूत होता है। अत वैभाषिक भी क्षणभगवाद को स्वीकार करते है परतु क्षणभंगवाद को स्वीकार करने के साथ–साथ सर्वास्तिवाद को स्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि क्षणभगवाद मे जहा वस्तु की सत्ता क्षणिक मानी गयी है वही सर्वास्तिवाद मे तीनो कालो मे वस्तु का अस्तित्व है। वैभाषिक उक्त विरोधत्व का परिहार "क्षण" की विशिष्ट परिभाषा से करते है। उनके अनुसार वस्तु की तीन अवस्थाये है–**उत्पद्यमानावस्था, स्थिति की अवस्था तथा भंगावस्था एवं इन तीनों अवस्थाओं का सम्मिलित नाम "क्षण" है।**[3] उत्पद्यमानवस्था वस्तु के अनागत अस्तित्व की, स्थिति अवस्था उसके वर्तमान अस्तित्व की तथा भगावस्था उसके अतीत अस्तित्व की द्योतिका है। अत. "क्षण" मे तीनों काल अन्तर्भुक्त हो जाते है। इसप्रकार सर्वास्तिवाद से क्षणभगवाद का कोई विरोध नही है। सौत्रान्तिको

---

1 वही

2 लक्षणानित्तथा जाति7जर्रा–स्थितिरनित्यता। अभिधर्मकोश 2/45

को चिन्तन प्रक्रिया कुछ भिन्न प्रकार की है। उनके अनुसार स्थिति और विनाश परस्पर विरोधी स्वभाव के है, और दो परस्पर विरोधी स्वभाव एक वस्तु मे नही हो सकते। अत वे उत्पाद समानान्तर ही विनाश मानते है बीच की स्थिति अवस्था उनके दर्शन में मान्य नही है।[1]

वैभाषिक मत के अनुसार यदि स्थिति को स्वीकार नहीं किया जायेगा, तब क्षणिक वस्तुवों में कारणात्मक सातत्य की व्याख्या सम्भव नहीं हो सकती। यदि वस्तु क्षणिक है अर्थात् जैसे ही उत्पन्न होती है, वैसे ही नष्ट हो जाती है तब उसके अर्थक्रियाकारित्व का ज्ञान सम्भव नही हो सकता। अत वैभाषिक क्षणिक वस्तुवो मे कारणात्मक सातत्य की व्याख्या के लिए धर्म की अवस्थाओ मे ही परिवर्तन स्वीकार करते है, मूल द्रव्य मे नही। उनके अनुसार वस्तु तथा उसकी अतीत वर्तमान तथा अनागत अवस्थाओ मे भेद है। कोई भी वस्तु अनागत से वर्तमान मे परिवर्तित होती है तथा वर्तमान से अतीत मे। **यह परिवर्तन मात्र वस्तु की अतीत वर्तमान** और **अनागत अवस्थाओं में होता है, मूल धर्म में नहीं।**[2]

वैभाषिक सस्कृत लक्षण के आधार पर तीनो कालावधियो मे धर्म को **द्रव्यत· सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार** सभी संस्कृत धर्म हेतु प्रत्यय जनित है, जिनका लक्षण है–**जाति, जरा, स्थिति** और **अनित्यता**। जाति से वस्तु की उत्पत्ति, "स्थति" से उसकी स्थापना, "जरा" से उसका ह्रास और अनित्यता से उसका नाश अभिप्रेत है।[3] कोई भी वस्तु इन चार अवस्थाओ मे अनुवृत्त है। ये चारो सस्कृत लक्षण किसी धर्म पर एकसाथ सक्रिय होते है अर्थात् एक क्षण मे ही चारो संस्कृत लक्षण विद्यमान होते है। इन्हे **"सहभू"** कहा जाता है। इन्ही के कारण एक ही क्षण मे एक ही वस्तु मे स्थिति एव अनित्यता साथ–साथ सम्भव होती है। तथा तीनो कालावधियो मे धर्म परिवर्तित होने पर भी द्रव्यत विद्यमान रहते है, क्योकि आपातत विरूद्धकारी होने पर भी ये सस्कृत लक्षण (जाति,

---

1 अभिधर्म कोश– 2/45

2 अभिधर्म कोश– 5/25

3 अभिधर्म कोश– 2/45

जरा, स्थिति तथा अनितयता) किसी एक तत्व पर एकसाथ सहयोगपूर्वक वयापार करते है। इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि–भविष्य से भूत की ओर जाता हुआ समय का मार्ग जिस वर्तमान के मोड पर प्रकट होता है वही ये चार लक्षण बटमारो के समान नित्य सबद्ध रहते है। उत्पाद लक्षण कालाध्वा के यात्री धर्म को अनागत से खीचकर वर्तमान मे लाता है, स्थिति–लक्षण उसे पकडे रहता है, व्यय लक्षण उसे मारता है एव निरोध लक्षण उसे अतीत मे डाल देता है।[1] इस प्रकार वैभाषिक तीनो कालो मे धर्म को द्रव्यत सत् मानते हुए 'सहभू' एव सम्प्रयुक्त हेतु के आधार पर 'कारित्र' के द्वारा 'कारणता' की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत करते है, जो साख्य के परिणामी नित्यत्ववाद से प्रभावित प्रतीत होता है।

(II) सौत्रान्तिक मत में कारणतावाद :

सौत्रान्तिक मत मे भी कारणता की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। परन्तु सौत्रान्तिक कारणता की व्याख्या क्षण सन्ततिवाद के आधार पर करते है। वैभाषिक मत मे भी वस्तुमात्र की क्षणिकता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया था, परन्तु वैभाषिक सस्कृत लक्षण 'स्थिति' को स्वीकार करने के कारण क्षणभगवाद से शाश्वत्वाद मे परिवर्तित होता हुआ प्रतीत होता है। अत सौत्रान्तिको ने सस्कृत लक्षण 'स्थिति' को अस्वीकार कर[2] बौद्ध दर्शन को जहॉ एक ओर पुन_ उसके मूल रूप में प्रत्यावर्तित करने का प्रयास किया वही महायान विज्ञानवादी परम्परा के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया। इस विषय मे सौत्रान्तिको का तर्क है कि यदि एक क्षण के लिए भी 'स्थिति' को स्वीकार करेगे तो तर्क के आधार पर धर्म नित्य भी हो सकते है। अत क्षणिक धर्मो के बीच कोई स्थितिक्षण नही होता।[3] हमें किसी वस्तु मे जो स्थिरता, निरन्तरता

---

1 बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 270

2 अभिधर्म कोश– 2/45

3 अभिधर्म कोश– 2/45

अथवा एकता दिखायी देती है, वह मात्र क्षणिक वस्तुओ की सन्तति है, जो निरन्तर प्रवाहमान है। वैभाषिको ने जाति, जरा स्थिति और अनित्यता लक्षणो से समन्वित धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह अविभाज्य आकाश को विभक्त करने के समान है।[1] वस्तुत सौत्रान्तिको के अनुसार अगुत्तरनिकाय मे जो यह कहा गया है कि "भिक्षुओ सस्कृत के यह तीन सस्कृत लक्षण है"[2]–(1) सस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात होता है। (2) व्यय भी प्रज्ञात होता है। (3) उसका स्थित्यन्यथात्व भी प्रज्ञात होता है, उससे धर्मो की स्थिरता सिद्ध नही होती, बल्कि इस सूत्र से यह प्रदर्शित किया जाता है कि क्षण नही प्रत्युत क्षण–प्रवाह सस्कृत है, अर्थात् वही प्रतीत्यसमुत्पन्न है। ऐसे प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म के तीन लक्षण है, जो प्रज्ञात होते है। यदि ये लक्षण 'क्षण' के स्वीकार किये जाय (जैसा कि वैभाषिक मानते है) क्षण प्रवाह के नही, तो उसके उत्पाद, जरा और व्यय प्रज्ञात नही होगे और जो अप्रज्ञायमान है, वह वस्तु के लक्षण होने की योग्यता नही रख सकता। इसके विपरीत सन्तति–प्रवाह या क्षण–प्रवाह मे ही ये लक्षण घटते है।[3] जिसप्रकार प्रवाह का प्रारम्भ उत्पत्ति है, उसकी निवृत्ति विनाश (व्यय) है, और इनके बीच अनुवर्तमान जो प्रवाह है वही स्थिति है। उस प्रवाह के मध्य परिवर्तनशील जो पौवापर्य है, वह स्थिति का अन्यथात्व है।[4] इसप्रकार उत्पत्ति तथा विनाश के लिए स्थिति को मानना अनिवार्य नही है।

वस्तुत सस्कृत धर्म के स्वभाव मे क्षणमात्र के लिए भी यदि कही स्थिरता का योग हो जाय तो उसकी शाश्वत् सत्ता अस्वीकार नही की जा सकती क्योकि स्वभावगत धर्म को उसके स्वभाव से अलग करना कदापि सम्भव नही होता है। अत सौत्रान्तिक आदि वस्तुवादी किसी भी सहेतुक धर्म की स्थिति

---

1 प्रतीत्यसमुत्पाद (सम्यक् वाक–1) परिवर्तन पृ0 26

2 अगुत्तर निकाय 1/251

3 प्रतीत्यसमुत्पाद (सम्यक् वाक) पृ0 26

4 प्रतीत्यसमुत्पाद (सम्यक् वाक) पृ0 26

या उसका स्थिर आकार नही मानते। उनके मत मे धर्मो का उत्पाद अथवा व्यय 'स्थिति' के बिना सम्भव है क्योकि समस्त धर्म व्ययशील है। 'विनाश' उसका स्वभाव है, स्वभाव होने के कारण विनाश के लिए किसी अतिरिक्त हेतु की अपेक्षा नही होती। उत्पन्न होने के अनन्तर वस्तु स्वभावत नष्ट हो जाती है। इस प्रकार क्षणिकवाद के अनुसार विनाश अहेतुक है अर्थात्, विनाश बिना हेतु के स्वय से होता है,[1] परन्तु उत्पाद सहेतुक है। उत्पाद अपने पूर्ववर्ती प्रत्ययो की अपेक्षा रखता है, इसीलिए इसे 'प्रतीत्य–समुत्पाद' कहा जाता है, जिसका तात्पर्य–'हेतु प्रत्ययापेक्षा से भावो का उत्पाद है।'[2] पूर्वपक्षी शका करते हुए कहते है कि जब क्षणिकवाद के अनुसार समस्त धर्म बिना स्थिति के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते है और यह विनाश अहेतुक व निरन्वय होता है, यानि विनाश के बाद उसका कुछ भी अवशेष नही बचता तब किसी भाव के उत्पाद के लिए हेतु प्रत्ययो की अपेक्षा कैसे की जा सकती है क्योकि 'हेतु प्रत्ययापेक्षा' से यही द्योतित होता है कि 'पूर्व प्रतीत्य पश्चात् उत्पद्यते' अर्थात् अकुरादि कार्य प्रथमतया हेतु–सामग्री को प्राप्त करके तत्पश्चात् उत्पन्न होते है।'' परन्तु सौत्रान्तिक मत में 'उत्पाद' क्रिया से पूर्व अंकुरा या किसी भी कार्य की उपस्थिति सम्भव नहीं है क्योंकि उत्पाद क्रिया से पूर्व यदि कार्य की विद्यमानता मानेगे, तो उत्पन्नभाव के पुनरूत्पाद का प्रसग आ जायेगा।[3]

उपर्युक्त आक्षेप का परिहार करते हुए सौत्रान्तिक कहते है कि हेतु प्रत्ययापेक्षा से भावों के उत्पाद का तात्पर्य यह नही है कि अकुरादि कार्य का उत्पाद बीजादि को प्राप्त करने के बाद होता है, अर्थात् अकुरादि कार्य प्रथमतया बीजादि हेतु प्रत्ययों को प्राप्त करके उसके बाद अर्थात् प्राप्ति क्रिया सम्पन्न होने

---

1 अहेतुको निस्वय विनाश, तत्व सग्रह पजिका पृ0 612

2 हेतु प्रत्ययापेक्षी भावानामुत्पाद प्रतीत्यसमुत्पाद मध्यमक शास्त्रम् पृ0 4 एव, प्रत्ययप्राप्य प्रदुर्भाव, अभिधर्म व्या0 पृ0 454

3 प्रत्येति पूर्वमुत्पादात् यद्यसत्त्वान्न युज्यते।

पूर्वकाल–विधानत, वही।

के बाद, उसके उत्तरकाल मे जाकर आत्मलाभ करते हो। प्रतीत्य एव समुत्पाद या प्राप्ति एव उत्पाद का अभिप्राय है कि धर्म जिस अवस्था मे उत्पन्न होता है उसी अवस्था मे गमन करता है।[1] इसमे उत्पत्ति अवस्था एव उत्पत्ति क्रिया मे कोई कालिक क्रम नही होता। जिस अवस्था मे अकुरादि वस्तु का उत्पाद होता है, उसी अवस्था या काल को प्राप्त करके उसकी उत्पत्ति क्रिया भी निष्पन्न होती है। यह अवस्था अकुरादि की 'उत्पादाभिमुखी अनागततावस्था' है।[2] अत यह नही कहा जा सकता कि वस्तु का उत्पाद प्रत्ययो की प्राप्ति क्रिया निष्पन्न होने के बाद उत्तरकाल मे होती है। 'प्रतीत्य' एव 'समुत्पाद'–दोनो क्रियाओ मे 'क्त्वा प्रत्यय' का विधान होने से पूर्वापर क्रम मानते है।[3] परन्तु वाक्य रचना एव शब्द विन्यास की दृष्टि से शब्दो का प्रयोग जिस क्रम से होता है, उसी क्रम के अनुरूप उन शब्दो के अभिधेय वस्तुओ मे भी कालगत क्रम विद्यमान हो, यह आवश्यक नही है।[4] अत प्रतीत्य एवं समुत्पाद (या प्राप्ति एव उत्पाद) का अर्थ 'प्राप्त होकर प्रादुर्भाव है'[5] जिसमे दोनो क्रियाओं के वस्तुगत कालिक क्रम नही होता। इसप्रकार सौत्रान्तिक मत मे किसी भाव का उत्पाद हेतु प्रत्ययापेक्षा से स्वीकार किया गया है जिसमें पूर्व प्रत्ययो के विनाश के बाद उत्तरवर्ती प्रत्यय का उत्पाद हेतु सामग्री की समग्रता से होता है। पूर्ववर्ती प्रत्ययो के विनाश और उत्तरवर्ती प्रत्यय के उत्पाद के मध्य कोई स्थितिक्षण नही होता। अपितु हेतु प्रत्ययो की समग्रता के तत्काल बाद कार्य का उत्पाद हो जाता है। जैसा कि स्वय बुद्धवचनो को उद्धृत करते हुए कहा गया है–बीज पुनर्निरूह्यते, तदैवाकुरश्चोत्पद्यते तस्मान्न शाश्वतत' (शालिस्तम्ब 8) अर्थात् बीज के निरूद्ध

---

1 अभिधर्म भाष्य पृ0 455

2 वहीं 454

3. वही

4 वही

3 प्रत्येति पूर्वमुत्पादात् यद्यसत्त्वान्न युज्यते।

पूर्वकाल–विधानत, वही।

के बाद, उसके उत्तरकाल मे जाकर आत्मलाभ करते हो। प्रतीत्य एव समुत्पाद या प्राप्ति एव उत्पाद का अभिप्राय है कि धर्म जिस अवस्था मे उत्पन्न होता है उसी अवस्था मे गमन करता है।[1] इसमे उत्पत्ति अवस्था एव उत्पत्ति क्रिया मे कोई कालिक क्रम नही होता। जिस अवस्था मे अकुरादि वस्तु का उत्पाद होता है, उसी अवस्था या काल को प्राप्त करके उसकी उत्पत्ति क्रिया भी निष्पन्न होती है। यह अवस्था अकुरादि की 'उत्पादाभिमुखी अनागततावस्था' है।[2] अत यह नही कहा जा सकता कि वस्तु का उत्पाद प्रत्ययो की प्राप्ति क्रिया निष्पन्न होने के बाद उत्तरकाल मे होती है। 'प्रतीत्य' एव 'समुत्पाद'–दोनो क्रियाओ मे 'क्त्वा प्रत्यय' का विधान होने से पूर्वापर क्रम मानते है।[3] परन्तु वाक्य रचना एव शब्द विन्यास की दृष्टि से शब्दो का प्रयोग जिस क्रम से होता है, उसी क्रम के अनुरूप उन शब्दो के अभिधेय वस्तुओ मे भी कालगत क्रम विद्यमान हो, यह आवश्यक नही है।[4] अत प्रतीत्य एव समुत्पाद (या प्राप्ति एव उत्पाद) का अर्थ 'प्राप्त होकर प्रादुर्भाव है'[5] जिसमे दोनो क्रियाओ के वस्तुगत कालिक क्रम नही होता। इसप्रकार सौत्रान्तिक मत मे किसी भाव का उत्पाद हेतु प्रत्ययापेक्षा से स्वीकार किया गया है जिसमे पूर्व प्रत्ययो के विनाश के बाद उत्तरवर्ती प्रत्यय का उत्पाद हेतु सामग्री की समग्रता से होता है। पूर्ववर्ती प्रत्ययो के विनाश और उत्तरवर्ती प्रत्यय के उत्पाद के मध्य कोई स्थितिक्षण नहीं होता। अपितु हेतु प्रत्ययों की समग्रता के तत्काल बाद कार्य का उत्पाद हो जाता है। जैसा कि स्वय बुद्धवचनो को उद्धृत करते हुए कहा गया है–बीज पुनर्निरूह्यते, तदैवाकुरश्चोत्पद्यते तस्मान्न शाश्वतत' (शालिस्तम्ब 8) अर्थात् बीज के निरूद्ध

---

1 अभिधर्म भाष्य पृ0 455

2 वही 454

3 वही

4 वही

5 वही 455

होने के तत्काल बाद अकुर का उत्पाद होता है इसमे कुछ भी शाश्वत् नही है। इसी आधार पर सौत्रान्तिक आचार्य श्री लाभ भी कहते है कि प्रतिक्षण विनश्वर अर्थात् बिना कही स्थिर रहे विनाश की ओर जाने वाली वस्तुओ का उत्पाद हेतु सामग्री की समग्रता से ही होता है।"[1] इसप्रकार सौत्रान्तिक मत मे क्षणिकवाद को स्वीकार करते हुए भी कारण–कार्य की व्याख्या प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर की गयी है।

III. योगाचार विज्ञानवाद मत में कारणतावाद :

"योगाचार विज्ञानवाद" मे कारणतावाद की व्याख्या क्षणसन्तितिवाद के रूप मे की गयी है। योगाचार विज्ञानवाद प्रत्ययवादी दर्शन है, अत वहा वस्तुवादियो के विपरीत कारणता सम्बन्ध को मानसिक, काल्पनिक या सम्प्रर्त्यामक स्वीकार किया गया है।[2] वस्तुवादी वैभाषिक एव सौत्रान्तिक मत मे क्षणिकवाद को स्वीकार करते हुए भी वास्तविक उत्पत्ति तथा कारण–कार्य सम्बन्ध को वास्तविक स्वीकार किया गया था। **परन्तु विज्ञानवादियों के अनुसार 'क्षणिकवाद' को स्वीकार करने के साथ–साथ न तो उत्पत्ति को वास्तविक माना जा सकता है और न ही कारणकार्य–सम्बन्ध की वस्तु सत्ता स्वीकार की जा सकती है।**[3] क्षणसन्ततिवाद को स्वीकार करने पर जब प्रथम क्षण के निरन्वय विनाश के पश्चात् द्वितीय क्षण का अभूत्वाभाव उत्पाद होता है।[4] तब प्रथम क्षण जिसका द्वितीय क्षण के उत्पाद से पूर्व अभाव है,

---

1 ता ता कारणसामग्री प्रति इत्याना समवायेनोत्पाद प्रतीत्य समुत्पाद इति। अभिधर्म भाष्य पृ0 456

2 नास्ति स्कन्धेष्वात्मा, न सत्त्वो न च पुद्गला उत्पद्यते चविज्ञान विज्ञान च निरूद्धयते। लकावतार 10/60

3 आलम्बन परीक्षा 5–6

4 अभूत्वाभवति भूत्वा च प्रतिगच्छति। तत्व सग्रह पजिका पृ0 631

द्वितीय क्षण का वास्तवकि कारण नही बन सकता। इसी प्रकार कार्य–काल मे कारण के न रहने पर दोनो मे वास्तविक सम्बन्ध भी स्वीकार नही किया जा सकता। इसका तात्पर्य यह नही है कि विज्ञानवादी अ–कारणवादी है, अर्थात् कारण–कार्यवाद का निषेध करते है। विज्ञानवादी कारण–कार्य की व्याख्या क्षणिक धर्मो मे अनिवार्य पौर्वापर्य क्रम के आधार पर करते है।[1] उनके अनुसार समस्त धर्म क्षणिक होते हैं, तथा प्रथम क्षण के बाद द्वितीय क्षण का प्रादुर्भाव होता है। इनमे प्रथम क्षण को कारण तथा द्वितीय क्षण को कार्य कहा जाता है।[2] इन दोनो क्षणो के बीच नियत अनिवार्य पौर्वापर्य क्रम होता है। प्रथम–क्षण (कारण) के नाश के बाद ही द्वितीयक्षण का प्रादुर्भाव होता है, अत कार्यकाल मे कारण की सत्ता नही रहती[3] इसीलिए कमलशील वैभाषिको द्वारा स्वीकृत एककालिक हेतुत्व (सहभू हेतु) की सम्भावना का निराकरण करते है। कमलशील के अनुसार यदि कारण और कार्य को 'सहभू' स्वीकार किया जाये तो कारण के उत्पन्न होते ही कार्य को उत्पन्न हो जाना चाहिए और ऐसी स्थिति मे कारण से कार्य की उत्पत्ति बोधगम्य नही होगी क्योकि कारण कार्य सम्बन्ध अनिवार्य रूप से पौर्वापर्य सम्बन्ध पर आधारित होता है।[4] सहभूकारण तभी सम्भव है, जब कारण और कार्य दोनो स्थिर हो और उनके कारणत्व की एक मानवत्वारोपित आधार पर सचालित होते रहने की कल्पना की जाय। जैसे–वस्तुवादी दर्शन (न्याय) मे कुम्हार की घट के साथ एक कालिक सत्ता हो सकती है।[5] परन्तु क्षण–भगवादी दर्शन क्षण–क्षण मे नष्ट होने वाले धर्मो की एककालिक सत्ता

1 वही पृ0 217

2 प्रथमक्षण भावि कारणम् द्वितीयेक्षणे कार्य प्रजायते। वही

3 कार्यसत्ता काल च कारणमनुवर्तते। वही

4 तत्व सग्रह पजिका पृ0 217

5 ननु कार्याकारण भावोहि कर्मकर्तृभाव स च भिन्नकालो विरूद्धयते। न हि घट कुलालयोरयौगपद्येसति। वही पृ0 219

स्वीकार नही कर सकता। अत यहा समनन्तर हेतु के आधार पर पूर्वक्षण के विनाश के बाद ही उत्तरक्षण (कार्य) के उत्पाद को स्वीकार किया गया है। इस पूर्व क्षण एव उत्तरक्षण मे नियत साहचर्य है, अर्थात् इस पूर्वक्षण (कारण) के पश्चात् यही उत्तरक्षण (कार्य) होगा।[1] अत पूर्व क्षण (कारण) एव उत्तरक्षण (कार्य) मे अनिवार्य पौर्वापर्य क्रम मात्र है। इस प्रकार कारण से कार्य की उत्पत्ति का तात्पर्य यह नही है कि कारण कार्य को वस्तुत उत्पन्न करता है, अपितु इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि कार्य कारण का अनुगमन करता है। इसीलिए शान्तरक्षित कहते है कि—वस्तुत कारण, कार्य को किसी भी देश (स्थान) से नही पकडता। न उसे खीचकर बाहर अस्तित्व मे लाता है और न ही कार्य अपने कारण द्वारा गहन आलिगन से उत्पन्न होता है।[2] कारण और कार्य दोनो क्षणिक घटनाएँ है जिसमे एक के बाद दूसरा नियत क्रम से आता जाता रहता है परन्तु एक से दूसरा उत्पन्न नही होता इसीलिए आचार्य धर्मकीर्ति 'कार्य' को कारण का अनिवार्य सकेत कहते है। उनके अनुसार कार्य कारण का अनिवार्य सकेत है जैसे—सास्नादि गाय का।[3] दोनो मे नियत साहचर्य है। यही साहचर्य कारणता की आधारशिला है।

यह नियत साहचर्य प्रतिगामी और पुरोगामी के भेद से द्विविध है। यह प्रतिगामी इस अर्थ मे है कि यह हमारे समस्त अनुमान अथवा व्यवहित ज्ञान का आधार है और पुरोगामी इस अर्थ मे कि इसी के कारण हमारा समस्त अनुभव जन्य ज्ञान सम्भव होता है एव इसी के आधार पर बुद्धि प्रत्ययात्मक जगत् का सृजन करती है जो वस्तुत अवास्तविक है।[4] यह नियत साहचर्य बाह्य वस्तुवो के बीच नही_ अपितु दो विज्ञानो (प्रत्ययो) के बीच होता है क्योकि बाह्य

---

1 वही पृष्ठ 217

2 न हि तत्कार्यमात्मीय सन्दशेनेव कारणम् नापि गाढ समालिङ्म् प्रकृति जायते फलम् तत्व स0 516

3 तद्भावाभावात् तत्कार्यगतिर्यात्यगुवर्ण्यत ।
सकेत विषयाख्या सा सास्नादे र्गोगतिर्यथा। सम्बन्ध परीक्षा—15

4 सबध परीक्षा 16—17

वस्तुओ का अस्तित्व ही नही है। अत उनके बीच पूर्वापर नियम साहचर्य का प्रश्न ही नही उठता। वस्तुवादी दार्शनिक जो कारणता को वास्तविक स्वीकार करते है वे बाह्य वस्तुओ के बीच पूर्वापर नियत साहचर्य के रूप मे कारणता सम्बन्ध को स्वीकार करते है। धर्मकीर्ति इन सिद्धान्तो की आलोचना करते हुए कहते है कि कारणता–सम्बन्ध न तो प्रत्यक्ष का विषय है न अप्रत्यक्ष का। यह इन्द्रियातीत है क्योकि अनुमान द्वारा ही इसका ज्ञान होता है।[1] अत यह मानसिक तथा प्राग्नुभविक है।[2] तादात्म्य की भाति यह अविनाभाव का आधार है, जो अनुमिति को सम्भव बनाता है।[3] अत यह सम्बन्ध प्रत्ययात्मक (मानसिक) है। तार्किक दृष्टि से विवेचन करने पर भी कारणता सम्बन्ध मानसिक सिद्ध होता है।

समस्त बौद्ध दर्शन मे कारणता 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है। प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्षता अर्थात् अन्योन्याश्रितता है। अन्योन्याश्रितता या सापेक्षता एक मानसिक सम्बन्ध है, अत कारणता का सम्प्रत्यय भी वास्तविक न होकर मानसिक है। **कारणता को अवास्तविक स्वीकार करने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह सम्बन्ध असत् अथवा मिथ्या है जैसा कि माध्यमिक स्वीकार करते हैं। अपितु यह सम्प्रत्ययात्मक अवधारणा है जो विज्ञान तथा उसके प्रवाह के मध्य कार्य–कारण सम्बन्ध का प्रतिपादन करती है। वस्तुतः योगाचार विज्ञानवाद ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवादी दर्शन है।** जो बाह्य वस्तु जगत् की यथार्थ सत्ता का निराकरण करते हुए 'विज्ञान' 'चित्त' अथवा 'विज्ञप्तिमात्रता' को ही अन्तिम रूप से सत् मानता है।[4] इसके अनुसार जगत् की वस्तुएँ हमारी चेतना की प्रतिमाएँ है जिन्हे हम अनादि अविद्या वासना से ग्रस्त होने के कारण सत्य मानते है परन्तु अन्तिम सत्य विज्ञप्तिमात्रता चित्त अथवा विज्ञान ही है, तथा सब कुछ इसीका परिणाम है।

---

1 वही 15

2 विवक्षामात्र सम्भूतसकेतानुविधायिन । तत्व स0 519

3 प्रमाणवार्तिक 1/33

4 विज्ञान परिणामोऽय विकल्पो यद्विकल्प्यते।

बौद्ध दार्शनिक कमलशील क्षणभगवाद को स्वीकार करने पर तार्किक दृष्टि से विश्व को 'निर्व्यापार' सिद्ध करते है। उनके अनुसार वस्तुत न तो कारण और न ही कार्य कुछ करते है, ये शक्तिहीन और निर्व्यापार होते है।[1] कालान्तराभाव के कारण उनके पास कुछ भी करने का समय नही होता।[2] कारण से किसी कार्य की जो उत्पत्ति कही जाती है वह उत्पत्ति मात्र साकेतिक अभिव्यक्ति है।[3] वस्तुत हमे कहना चाहिए कि 'कार्य किसी वस्तु पर (अपने कारण पर) क्रियात्मक आश्रित्य से उत्पन्न होता है।[4] यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उत्पत्ति मात्र साकेतिक अभिव्यक्ति है तब 'कारणव्यापार' निरर्थक होगा। इस विषय मे कमलशील का मत है कि कारण सत्ता के समनन्तर ही कार्य अस्तित्व मे आता है।[5] इनमे क्षणिक व्यवधान भी नही है। अत कारण और 'कारणव्यापार' एक ही है पृथक–पृथक नही। दोनो मे तादात्म्य है।[6] वस्तु स्वय हेतु है, अत अलग से किसी विलक्षण व्यापार की कल्पना करने की आवश्यकता नही होती।[7] इस प्रकार इन क्षणिक धर्मों मे नियत क्रम के आधार पर कारणता की व्याख्या की गयी है।

कारणता की उपर्युक्त व्याख्या मे स्पष्टत हमे दो विरोधी प्रतीत होने वाले सिद्धान्त मिलते है। प्रथम मत के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद चल होता है।

---

1 निर्व्यापारमेवेदं विश्वम् . तत्व सग्रह पजिका पृ0 219

2 वही

3 जनयतीत्युपलक्षणम् वही

4 वही

5 कारणसत्ता समनन्तरमेव कार्यस्य निष्पन्नत्वादकिञ्चित्कर वही पृ0 220

6. सत्तैव व्यापार शब्द वाच्याऽस्तु तत्वस 520

7 विलक्षण व्यापार रहित वस्तुमात्रं हेतु रस्त्वित्य तत्व सग्रह 520

अर्थात् सत्ता गत्यात्मक होती है।[1] दूसरा मत है कि समस्त धर्म निर्व्यापार होते हैं[2] अर्थात् गति असम्भव है।

प्रो0 शेरेबात्स्की ने अपनी पुस्तक **बुद्धिस्ट लॉजिक** के प्रथम खण्ड मे इस विरोधत्व का परिहार करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार क्षणिक धर्मो मे क्रियाकारित्व सत्ता से पृथक नही है क्षणिक धर्मो का उत्पाद और विनाश ही उनका अर्थक्रियाकारित्व है। उससे भिन्न कोई गति नही, कोई क्रिया नही । अत इन दो वाक्यो मे कोई विरोध नही है।[3]

वस्तुत क्षणिक धर्मों मे नियत क्रम के अतिरिक्त और कुछ नही है। घडी के पैण्डुलम की तरह एक क्षण के बाद दुसरा क्षण नियत क्रम मे आता जाता रहता है। इन क्षणो मे किसी प्रकार की शक्ति का आदान–प्रदान नही होता।[4]

प्रत्येक क्षण अपने पीछे एक वासना छोड जाता है और यह वासना दूसरे क्षण मे हस्तान्तरित हो जाता है, यह क्रम तब–तक चलता रहता है जब–तक वाछनीय वस्तु की उत्पत्ति न हो जाय।

---

1 चल .प्रतीत्य समुत्पाद वही–1

2 तत्व सग्रह पजिका, पृ0 219

3. बौद्धन्याय 1 पृ0 149–151

4 बुद्धिस्ट फिलासफी ऑफ युनिवर्सल फ्लक्स, पृ0 71

☆☆☆

खण्ड (ब)

पाश्चात्य मत

अध्याय–७

कारणता का सामान्य विवेचन

वास्तव मे कोई भी चिन्तन अपने भौगोलिक, सामाजिक और सास्कृतिक परिवेश के अनुरूप ही अपना स्वरूप ग्रहण करता है। यही कारण है कि सनातन हिन्दू धर्म जिसकी उत्पत्ति एक उष्णकटिबन्धीय भूभाग मे हुयी, फलत इसमे शव को जलाने की प्रथा प्रचलित हुयी। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ सघन वृक्षो की पेटी पायी जाती है, इसलिये शव को जलाना तर्कत ठीक था। जबकि इसके विपरीत इसाई व मुस्लिम धर्म मे शव को दफनाने की प्रथा मूलत भौगोलिक परिस्थितियो के कारण ही स्वीकृत की गयी। इसीप्रकार किसी भूभाग के चिन्तन को वहाँ की सामाजिक व सास्कृतिक परिवेश भी काफी प्रभावित करता है। कहने का आशय यह है कि कारणता–सिद्धान्त का विवेचन प्राच्य व पाश्चात्य–दोनो जगहो पर हुआ है किन्तु भिन्न परिवेश के कारण दोनो के विवेचन मे आधारभूत वैषम्य दिखता है। जैसे भारतीय दर्शन में कारणता सिद्धान्त को केन्द्रीय रूप से उपादानात्मक दृष्टिकोण से देखा गया है। अर्थात् कार्य–सामग्री, कारण सामग्री (उपादान) मे सत् है या असत् है। जो सम्प्रदाय कारण मे कार्य को सत् (उपस्थित) मानते है वे सत्कार्यवादी और जो असत् मानते है वे असत्कार्यवादी कहलाते है। किन्तु पाश्चात्य–चिन्तन मे कारणता सिद्धान्त के विवेचन का स्वरूप कुछ भिन्न है। वस्तुत यहाँ कारण और कार्य के बीच निहित सम्बन्ध (अनिवार्य या संभाव्य) ही कारणता सिद्धान्त के केन्द्र मे है। अत यहाँ कारणता सिद्धान्त सम्बन्धात्मक दृष्टिकोण से अभिप्रेरित है। इसलिये पाश्चात्य दर्शन मे कारणता सिद्धान्त का व्यापक विवेचन से पहले यह आवश्यक हो जाता है कि हम पहले यह जान ले कि कारण क्या है या कारण का स्वरूप क्या है एव यहाँ पर कारण–सम्बन्ध का सामान्य स्वरूप क्या है ?

७.१ कारण क्या है ?

जब कहते है कि हवा का चलना ठडक का कारण है या माचिस को झाडना रोशनी का कारण है, अथवा सखिया खाना मृत्यु का कारण बन जाता है,

तब "कारण" शब्द से हमारा क्या मतलब होता है ? जब हम यह कहते है कि क ख का कारण है, तब वह ठीक क्या बात है जो हम कारण क का कार्य ख के साथ जो सबध है उसके बारे मे कह रहे होते है ?

हमारी पहली प्रतिक्रिया यह कहने की हो सकती है "बात आसान है। किसी चीज का कारण होना उसे पैदा करना, उसे अस्तित्व मे लाना है।" निस्सदेह यह ठीक है, लेकिन सवाल का जवाब यह नही है। यह तो सवाल को टालना मात्र है पैदा करने का क्या मतलब है ? यह तो मोटे तौर से "कारण" शब्द का पर्याय ही है, और इस प्रकार जहॉ से हम चले थे वही हम वापस पहॅुच जाते है। "पैदा करना" और "कारण होना" की एक–दूसरे के द्वारा परिभाषा देने के बजाय हमे यह बताना चाहिए कि इन दोनो का क्या अर्थ है। हम जानना यह चाहते है कि क मे वह कौन–सी विशेषताऍ हो जिनसे वह ख का कारण बने।

कालिक पूर्ववर्तिता–सबसे सरल इद्रियानुभविक कथन वे होते है जिनका सीधे प्रेक्षण से सत्यापन हो सके "मै बैठा हूँ", "मेरी मेज पर तीन किताबे है"। हम यह भी प्रेक्षण से जान सकते है कि कुछ घटनाऍ अन्य घटनाओ से पहले या बाद मे घटती है उदाहरणार्थ, मेरी सिगरेट से धुऑ उसके जलाए जाने के बाद निकलता है, पहले नही, और नशा शराब को पीने के बाद आता है, न कि पहले। पर क्या यह भी हम प्रेक्षण से जानते हे कि एक घटना दूसरी का कारण है ? यदि हॉ, तो जब हम यह प्रेक्षण करते है तब वह क्या होता है जिसका हम प्रेक्षण करते है ? हम देखते है कि कोई माचिस झाडता है और वह जल उठती है, परतु जब हम देखते हैं (यदि वाकई हम देखते है तो) कि माचिस झाडना उसके जल उठने का कारण है, तब हम देखते क्या है ?

यह कहना कि क ख का कारण है, मात्र यह कहना नही है कि क ख के पहले होता है। अनेक घटनाऍ अन्य घटनाओ के पहले घटती है पर उनके कारण नही होती। शायद एक क्षण पहले अमेरिका के राष्ट्रपति ने छीका था, पर

यह बिल्कुल भी इस तथ्य का कारण नही है कि मै इस समय अपनी कार के अदर जा रहा हूँ। यदि आज सुबह मैने 7–30पर नाश्ता किया था और आपने 7–31 पर नाश्ता किया था, तो मेरा नाश्ता करना आपके नाश्ता करने का कारण नही था।

अत यह कहना पर्याप्त नही है कि क ख से पहले होता है। कोई उस बात को सत्य मानने का विरोध तक कर सकता है कि जब भी क ख का कारण बनता है तब क ख से पहले होता है।[1] आपका शीशे के सामने खडा होना उसमे आपके प्रतिबिब के दीख पडने का कारण है। क्या ये दोनो साथ–साथ होनेवाली बाते नही है ? नही। प्रकाश 186000 मील प्रति सेकड की गति से चलता है। इसलिए समय $स_2$ मे शीशे मे दीख पडनेवाले आपके प्रतिबिब का कारण समय $स_1$ मे आपका शीशे के सामने खडा होना है, जो कि एक सेकड के बहुत ही अल्प अश पहले होता है। जो भी हो , अधिकतर उदाहरणो मे कारण कार्य से पहले होता है (हालॉकि सदैव बहुत थोडे पहले)। क्या सदैव ही ? यदि आप झूमाझूमी के तख्ते के एक सिरे के ऊपर कूद पडे तो दूसरा सिरा एकदम ऊपर चढता है या थोडे बाद मे ? यहॉ भी तर्क से यह दिखाया जा सकता है कि कार्य के होने मे कुछ समय लगता है, क्योकि गति को पूरे तख्ते मे एक सिरे से दूसरे तक पहुॅचना होगा। परन्तु यह बात प्रकाश वाली बात से अधिक सदिग्ध है। प्रकाश से तथा विकिरण के अन्य रूपो के प्रसग मे जिस तरह समय लगता है उस तरह गुरूत्वाकर्षण के प्रसग मे भी समय लगता हो, यह ज्ञात नही है। यदि आप हवा मे एक गेद फेके, तो उसे वापस पृथ्वी पर आने मे समय लगता है, पर (जहॉ तक हम जानते है) उसपर गुरूत्वाकर्षण का असर होने मे कोई समय नही लगता। यदि हम आक्षेप से बिल्कुल बचना चाहते है तो हम यह नही कहेगे कि कारण सदैव कार्य के पहले होता है बल्कि यह कहेगे कि कारण कभी कार्य के बाद नही होता।

---

1 ठीक–ठीक इस बात की सत्यता का कहना होगा कि एक वर्ग क की घटनाएँ सदैव एक अन्य वर्ग ख की घटनाओ से पहले होती है। इस अतर का महत्व इस अध्याय मे बाद मे प्रकट होगा। तब तक हम इस चर्चा को इस अतर के अनुरूप तकनीकी भाषा के प्रयोग से मुक्त रखेगे।

इससे भी किसी–किसी ने इन्कार किया है, परतु यह इन्कार एक गलतफहमी की वजह से मालूम पडता है। मान लीजिए, मेरा एक लक्ष्य है, जैसे एक परीक्षा पास करना। क्या भविष्य का यह लक्ष्य वर्तमान मे मेरे कुछ कामो का कारण बनेगा, जैसे पास होने के लिए अध्ययन करने का ? नही, भविष्य की घटना (परीक्षा मे पास होना) अभी घटी नही है और अभी उसका अस्तित्व न होने से वह कारण बन ही नही सकती। बल्कि वास्तव मे यह भी हो सकता है कि कभी घटे ही नही। लक्ष्य से प्रेरित व्यवहार के क्षेत्र मे जो चीज आपके अध्ययन इत्यादि का कारण बनती है वह है उस लक्ष्य का आपका वर्तमान विचार तथा उसे प्राप्त करने की आपकी वर्तमान इच्छा। ये अवस्थाऍ इस समय अस्तित्व रखती है, हालॉकि लक्ष्य स्वय नही। यदि इस समय उसका अस्तित्व होता तो आप उसे प्राप्त करने का प्रयत्न ही न करते। सामान्य रूप से केवल वही चीज कारण बन सकती है जो पहले से मौजूद हो। आज होने वाली वर्षा पिछले दिन फसल को नही बचा सकती। मगलवार को विष खाना उसी सप्ताह के सोमवार को किसी के मरने का कारण नही बन सकता।[1]

तो फिर कारण कभी अपने कार्य के बाद नही होता। पर यह सीधी–सी बात हमको अधिक जानकारी नही देती। हमे इससे भी कही अधिक जानना है। किसी चीज के किसी अन्य चीज के पहले होने मात्र से वह उसका कारण नही बन जाती। क के ख का कारण होने और क के ख के पहले मात्र होने मे किस बात का अन्तर है ? अब हम एक बडे विवाद मे उतर गए है।

अनिवार्य सम्बन्ध– हमारी भाषा और हमारी विचार–प्रणाली मे यह धारणा बहुत गहरी बैठी हुई है कि जब कारण क कार्य ख को पैदा करता है तब क और ख के मध्य कोई "अनिवाय सम्बन्ध" होता है–कि जब क होता है तब ख को किसी अर्थ मे अनिवार्य रूप से होना चाहिए। शायद हमारे इस प्रश्न का उत्तर ढ़ूँढने में कि "कारण क्या है?" यह बात हमें कुछ रास्ता बताएगी। पर यह कहने का क्या अर्थ है कि एक कार्य को अवश्य होना चाहिए ? यहॉ

1 दर्शनिक विश्लेषण परिचय, जॉन हॉस्पर्स, पृष्ठ–410

"चाहिए" का क्या अर्थ है ? यहॉ हम इस शब्द के कुछ मुख्य अर्थ बताने की कोशिश करते है।[1]

(i) "तुम्हे मध्यरात्रि से पहले अदर आ जाना चाहिए, अन्यथा ________"। यह "चाहिए" का आदेशात्मक अर्थ हे, वह अर्थ जो आदेशो और नियमो (कानूनो) के सन्दर्भ मे उपयुक्त होता है। एक आदमी को यह बताया जाता है कि यदि वह एक निर्दिष्ट काम नही करता तो कुछ दण्ड उसे भुगतना होगा। पर "चाहिए" का यह अर्थ प्रकृति की घटनाओ के सन्दर्भ मे उपयुक्त नही है। जब हम कहते है कि लकडी को जलना ही चाहिए या पानी को नीचे की ओर बहना ही चाहिए, तब लकडी और पानी को कोई आदेश नही दिया जा रहा है।

इससे पहले अर्थ से बहुत मिलता–जुलता अर्थ तब होता है जब हम कहते है, "मुझे रूपया लौटा देना चाहिए, क्योकि यह मैने उधार लिया था", हालॉकि ऐसा न करने पर मुझे कोई दण्ड नही मिल रहा है। यहॉ हमारा अभिप्राय केवल यह है कि हम रूपया लौटाने के लिए अपने को नैतिक दृष्टि से बॅधे हुए मानते है।

अब कोई कहता है, "आपको आज मेरी पार्टी मे आना ही चाहिए (या पडेगा या होगा)" तब उसका यह अभिप्राय नही है कि वह नैतिक रूप स बॅधा हुआ है या यदि वह नही आता तो उसे दण्ड मिलेगा। उसके कहने का कुछ ऐसा मतलब है "यदि आप नही आते तो आप इन चीजो (क, ख, ग) से वचित रहेगे। आपको आना ही चाहिए, अर्थात्, यदि नही आते तो आप क, ख, ग का आनन्द नहीं ले पाएँगे।"

इसी अर्थ का एक रूपभेद कुछ और भी हल्का है "कल पिकनिक के लिए बहुत ही अच्छा मौसम रहना चाहिए।" यहॉ प्रकृति को कोई आदेश नही दिया जा रहा है। इस रूप मे वाक्य केवल एक अभिलाषानुसारी विचार को

---

1 दर्शनिक विश्लेषण परिचय, जॉन हॉस्पर्स, पृष्ठ–411

प्रकट किया जा रहा है "मेरी अभिलाषा है कि कल मौसम बहुत अच्छा रहता ।"

(ii) प्राय "चाहिए" अनुमान के सन्दर्भ मे कहा जाता है। "यदि प सत्य है, और प फ को आपादित करता है, तो फ को सत्य होना चाहिए।" यहाँ हमारा मतलब यह है कि फ दी हुई आधारिकाओ से तर्कत निगम्य है। हम यह नही कह रहे है कि फ को अपने आप ही सत्य होना चाहिए हम यह कह रहे है कि फ को उस दशा मे सत्य होना चाहिए जब प सत्य हो और प फ को आपादित करता हो। "चाहिए" यहाँ किसी भी वाक्य का अग नही है, निष्कर्ष तक का नही। "चाहिए" का सम्बन्ध (तार्किक अनिवार्यता) आधारिकाओ और निष्कर्ष के मध्य होता है। निष्कर्ष को "इसलिए फ को सत्य होना चाहिए", इस रूप मे न कहकर "इसलिए बात यह होना चाहिए कि फ सत्य है", इस रूप मे कहना ठीक होगा।

ऊपर के उदाहरण मे अनुमान निगमनात्मक है और "चाहिए" तार्किक अनिवार्यता का सूचक है। परन्तु कभी–कभी हम अनुमान के आगमनात्मक होने पर भी "चाहिए" को प्रयोग करते है "हत्यारा वही होना चाहिए" ऐसा हम कहते है, जिसका अर्थ केवल यह होता है कि ऐसा हम आगमनात्मक रूप से अनुमान करते हैं, कि साक्ष्य इस बात की ओर सकेत करता है।

(iii) प्राय "चाहिए" का प्रयोग अनिवार्य शर्त बताने के लिए किया जाता है। अ ब की अनिवार्य शर्त तब होता है जब अ के अभाव मे ब कभी नही होता। आक्सीजन मानव–जीवन की एक अनिवार्य शर्त है– अर्थात् आक्सीजन के अभाव मे मानव–जीवन असभव होता। सूर्य का ताप और प्रकाश पृथ्वी पर जीवन के होने के लिए अनिवार्य शर्ते है–अर्थात् यदि पृथ्वी को सूर्य से ताप और प्रकाश न मिलते तो यहाँ जीवन न होता। हम "चाहिए" का प्रयोग प्राय इस इद्रियानुभविक सबध को व्यक्त करने के लिए करते है जीवन के अस्तित्व के लिए आक्सीजन होना चाहिए, सूर्य से ताप और प्रकाश प्राप्त होने चाहिए।

इन विवेचनाओ के उपरान्त यह प्रश्न उठता है कि कारण का ठीक–ठीक अर्थ क्या है ? वस्तुत इस प्रश्न के सम्बन्ध मे कई विचार प्रस्तुत होते है, जो अधोलिखित है –

(1) कारण, नियत सयोजन, के रूप मे

(2) कारण सकल्प, के रूप मे

(3) कारण पर्याप्त उपाधि, के रूप मे–

(i) कारणो की अनेकता

(ii) कारणो के बारे मे हमारा ज्ञान

(4) कारण के अन्य विश्लेषण–

(a) व्यक्तियो के मध्य कारण सम्बन्ध

(b) व्यक्ति और वस्तु के मध्य कारण सम्बन्ध

(1) कारण "नियत संयोजन" के रूप में–यदि हमे यह कहने का अधिकार नही है कि कारण का कार्य द्वारा अनुसरण किया जाना "चाहिए" यदि "अनिवार्य सबध" (प्रकृति के प्रक्रमो का) एक कल्पना है या एक निरर्थक शब्दो का योग है, तो कारणात्मक सबध को हम निश्चित रूप से क्या बताऍगे ? डैविड ह्यूम (1711–1777) एक दार्शनिक था जिसने अनिवार्य–सबध के सिद्धात का सबसे अधिक विरोध किया था। उसने भी कारण–सम्बन्ध का एक नया विश्लेषण प्रस्तुत किया था। उसके कहने का मतलब यह था कि कारणता केवल एक "नियत सयोजन" है– दूसरे शब्दो मे, "क ख का कारण है", का वही मतलब है जो "क ख के साथ नियत रूप मे सयुक्त रहता है" का है, अथवा और भी भिन्न शब्दो मे (कार्य को कारण के बाद होनेवाला मानते हुए), जो "क के बाद नियमित रूप से ख होता है" का है। ह्यूम पूछता है वह कौन–सी बात है जो हमे यह कहने का अधिकार देती है कि क ख का कारण है, बिजली गर्जन पैदा करती है या बवडर पेडो को गिरा देता है ? और उसने जवाब दिया था कि इंद्रियो के द्वारा किया जानेवाला प्रेक्षण। किन्तु प्रेक्षण हम किसका करते है ?

प्रेक्षण हम इस बात का करते है कि क ख के पहले होता है। पर यह बात सचमुच काफी नही है। तो फिर वह कौन–सा प्रेक्षण है जो हमे यह कहने का अधिकार देता है कि क ख का करण है ? क्या वह प्रकृति मे घटनाओ के मध्य होनेवाले किसी अनिवार्य सबध का प्रेक्षण है ? ह्यूम के कथनानुसार, नही , क्योकि ऐसी किसी चीज का हम कभी प्रेक्षण नही करते। हम जिस बात का प्रेक्षण करते है, वह सदैव यह होती है कि चीजे किसी एक तरीके से होती है, इस बात का कदापि नही कि उन्हे उस तरीके से होना चाहिए। चाहे जितनी कोशिश करो, हम प्रकृति के कार्यकलाप मे "चाहिए" कदापि नही पाते। ऐद्रिय प्रेक्षण से हमे कदापि "क का ख से अनिवार्य सबध है", "ख को होना चाहिए", "ख को होना पडेगा" इत्यादि वाक्यो का प्रयोग करने का अधिकार नही मिलता।

परतु यदि कारणता अनिवार्य सबध नही है तो क्या है ? तब हम क्या देखते है जब क ख का कारण होता है ? आइए, पता करे[1] जब हम किसी भी क्षण अपने आसापास की दुनिया को देखते है, तब हम अनेक घटनाओ को होते हुए पाते है, कुछ अन्यो के साथ–साथ होती है, कुछ पहले होती है, कुछ बाद मे होती है। परतु अपने चारो ओर की घटनाओ की इस बदलती हुई दृश्यावली में घटनाओ के कुछ अनुक्रमो का दोहराया जाना हमारा ध्यान आकर्षित करने लगता है—कुछ क होते है जिनका कुछ ख नियमित रूप से अनुसरण करते है। क क बाद ख एक बार होता है, दो बार होता है, दस बार होता है, हजार बार होता है—और जब हम देखते है कि क के बाद ख नियमित रूप से होता है तब हम कहते है कि क ख का कारण है। दूसरे शब्दो मे कारणता घटनाओ का नियत सयोजन है। क और ख के मध्य एक कारणात्मक सबध देखना केवल यह देखना है कि क और ख नियमित रूप से साथ चलते है—वे सदैव सयुक्त रहते हैं। निश्चय ही, एक बार का प्रेक्षण हमे यह कहने का अधिकार देने के लिए पर्याप्त नहीं होता कि क ख का कारण है। ऐसा कह सकने से पहले क का ख के साथ अनेक बार सयोजन देख लिया जाना चाहिए और जितनी ही अधिक बार देख लिया जाए उतना ही अच्छा है। क का ख के द्वारा एक बार

---

1 दार्शनिक विश्लेषण परिचय–जान हास्पर्स, पृष्ठ

अनुसरण और क का ख का कारण होना, इन दो बातो मे अतर यह है कि दूसरी मे क और ख का सयोजन नियमित या सतत है। दूसरे शब्दो मे, "यदि क तो सदैव ख"।

इस सदर्भ मे ह्यूम के दो आधुनिक अनुयायियो का कहना है कि बिजली की करेट चुम्बकीय सुई के विक्षेप का कारण बनती है, यह अर्थ रखता है कि जब भी बिजली की करेन्ट होती है तब सदैव चुम्बकीय सुई का विक्षेप हो जाता है। अतिरिक्त शब्द "सदैव" कारणात्मक सबध का आकस्मिक सपात से भेद करता है। एक बार ऐसा हुआ कि जब एक सिनेमा के पर्दे पर लकडी के एक ढेर का विस्फोट दिखाया जा रहा था तब एक हल्के से भूकप ने सिनेमाघर को हिला दिया। दर्शको को एक क्षण के लिए ऐसा महसूस हुआ कि परदे पर होने वाला विस्फोट सिनेमाघर के हिलने का कारण बना। जब हम इस व्याख्या को मानने से इन्कार करते है तब हमारा सकेत इस तथ्य की ओर होता है कि जो घटना–सपात देखा गया वह ऐसा नही था जिसकी पुनरावृत्ति होती।

चूॅकि केवल पुनरावृत्ति ही वह चीज है जो कारणात्मक नियम का सपात मात्र से भेद करती है, इसलिए कारण–कार्य–सबध का अर्थ है निरपवाद पुनरावृत्ति। यह मान बैठना अनावश्यक है कि इससे अधिक कोई अर्थ है। यह धारणा कि कारण कार्य के साथ किसी तरह की अदृश्य रस्सी से बॅधा होता है, कि कार्य कारण का अनुसरण करने के लिए बाध्य होता है, मूलत मानवत्वारोप की प्रवृत्ति की उपज है और इसे छोड़ा जा सकता है। कारणात्मक संबध का अर्थ सिर्फ यदि–तो–सदैव है। यदि सिनेमाघर पर्दे पर विस्फोट के दिखाए जाने पर सदैव हिलता तो इनमे कारण–कार्य–संबध होता।[1]
एक कालिक अनुक्रम मात्र और एक कारणात्मक अनुक्रम मे अतर इस बात का होता है कि दूसरा नियमित या एकरूप होता है। यदि क के बाद नियमित रूप से ख होता है तो क ख का कारण है; यदि ख केवल कभी–कभी ही क के बाद होता है तो ऐसे अनुक्रम को मात्र सयोग या यदृच्छा कहते हैं। और चूॅकि (जैसा कि हमने अभी देखा है) नियमितता का प्रेक्षण ही एकमात्र वह काम है जो किया

1 हन्स राइकेनबाक, दि राइज ऑफ साइन्टिफिक फिलॉसिफी, पृ0 157–58

गया था, इसलिए कारण और कार्य की बात कहने का एकमात्र हेतु अनिवार्य रूप से वही है, वही उसका पर्याप्त हेतु है। दैनिक प्रयोग मे "कारण" शब्द से अनुक्रम की नियमितता के अलावा कुछ भी विवक्षित नही होता, क्योकि जिन प्रतिज्ञप्तियो मे यह आता है उनके सत्यापन मे इसके अलावा किसी चीज का उपयोग नही किया जाता।[1]

इस प्रकार, यह जानना कि क ख का कारण है यह जानने के बराबर है कि ख नियमित रूप से क का अनुसरण करता है। यदि ख केवल कभी–कभी ही क का अनुसरण करता है तो उनका सबध कारणमूलक नही है। कारणमूलक सबध अनुक्रम का नियमित होना ही है, न इससे कम और न इससे अधिक। हमे यह कहने का अधिकार कि क ख का कारण है केवल क और ख के बीच नियमितता का सबध होने से प्राप्त होता है। कालिक पूर्ववर्तिता के सहित यह बात "कारण" की परिभाषा को बनाती है। क ख का कारण केवल तभी होगा जब (1) क ख से पहले हो और (2) क तथा ख नियमित रूप से सबद्ध हो।

इससे स्पष्ट हो गया होगा कि ह्यूम की व्याख्या के अनुसार कारणो का प्रागनुभविक ज्ञान जैसी कोई चीज नही है। कौन किसका कारण है, इस बात का ज्ञान अनुभव के पहले हमे नही हो सकता, क्योकि अनुभव हुए बिना हम नही जान सकते कि किन घटनाओं के बाद नियमित रूप से कौन–सी अन्य घटनाएँ होगी। ह्यूम ने लिखा है "कोई भी चीजे ऐसी नही है जिन्हे हम सर्वेक्षण मात्र से, अनुभव को पूछे बिना, किन्ही अन्य चीजो के निश्चयात्मक रूप से कारण कह सकें, और कोई भी चीजें ऐसी नहीं है जिन्हे हम इसी प्रकार निश्चयात्मक रूप से कारण नहीं है, यह कह सकें।"

जब हम दो रेलगाड़ियों को एक ही पटरी के ऊपर सौ फुट की दूरी पर एक–दूसरे की ओर तेजी से आती हुई देखते है तब क्या हम पहले से नही

---

1 ई0 स्प्रेग तथा पी0 टेलर द्वारा संपादित नॉलेज ऍंड वैल्यू (प्र0स0) मे मॉरित्स शिलक का "कॉजेलिटी इन एवरीडे लाइफ ऍंड इन साइन्स" शीर्षक लेख, पृ0 195 (न्यूयार्क हॉर्कोर्ट, ब्रेस ऍंड वर्ल्ड द्वारा प्रकाशित)।

कह सकते कि उनकी टक्कर होगी ? यहाॅ भी उत्तर "नही" है। इस बात का अनुभव होने से पहले कि ठोस चीजे किस प्रकार व्यवहार करती है, हमे इस बात की कतई कल्पना नही हो सकती कि जब वे एक–दूसरी की ओर आती है तब क्या होगा। केवल पहले के अनुभव के आधार पर ही हम यह भविष्यवाणी कर सकते है कि क्या होगा। जबसे हमने घटनाओ को याद करना शुरू किया है तबसे बहुत पहले से हम गतिमान पिण्डो के व्यवहार से परिचित है, परन्तु यदि हम पहली बार ऑखे खोलकर दुनिया को देख रहे हो और दो रेलगाडियो को एक–दूसरी की ओर आती पाते हो तो हमारे पास इस बात का कोई विशेष प्रमाण नही होगा कि वे एक–दूसरे की बगल से निकलने, विस्फोट से उड जाने, हवा बन जाने, लुप्त हो जाने, नष्ट हो जाने या उडकर चद्रमा मे पहुॅ जाने के बजाय एक–दूसरे से टकरा जाऍगी। अनुभव और केवल अनुभव ही हमे बता सकता है कि कौन किसका कारण है। प्रागनुभविक रूप से घटनाओ का कोई भी योग समानत प्रसभाव्य होता है, अनुभव से हमे सीखना होता है कि कौन–सी घटनाऍ है जो वास्तव मे सयुक्त रूप से घटती है।

(2) **कारण "संकल्प" के रूप में–संकल्प कारण के रूप में**–परन्तु यह आपत्ति की जा सकती है "जो आप कहते है वह शायद बाहरी दुनिया मे घटनेवाली घटनाओं के बारे में सच हो, लेकिन कुछ घटनाएँ, जिनमें हमारा सकल्प सक्रिय रहता है, ऐसी है जिनके प्रसग मे हमे अनिवार्य सबध की चेतना होती है। मुझे फ्यूज के जलने और विस्फोट के बीच किसी अनिवार्य सबध का बोध नही होता बल्कि केवल इस बात का होता है कि इन दो घटनाओ का सदैव साथ रेंहता है परतु जब मैं किसी बता का संकल्प करता हूॅ और तत्पश्चात वह काम कर डालता हूॅ, तब मुझे ऐसा बोध होता है कि यहाॅ कारण और कार्य के मध्य सचमुच ही अनिवार्य सम्बन्ध है।"

ह्यूम का उत्तर यह है कि आपके शरीर मे गति उत्पन्न करने वाला आपका संकल्प अन्य उदाहरणों से बिल्कुल भिन्न नहीं है। अन्तर यहाॅ केवल इस बात का है कि कारण (संकल्प) में उत्पन्न किए जानेवाले कार्य का प्रत्यय शामिल है। परन्तु फिर भी हमे कौन किसका कारण है, यह नियत सयोजनों का

प्रेक्षण करके ही जानना पडेगा। अनुभव से मै जानता हूँ कि बॉह को हिलाने का सकल्प करने के बाद मेरी बॉह हिलती है, परन्तु मेरे अपने यकृत, गाडी या चद्रमा को हिलाने के सकल्प के बाद ये कोई नही हिलते। नवजात शिशु शायद यह मान बैठे कि हर बात उसके सकल्प के नियत्रण मे हे, परतु अनेक नियत सयोजनो का होना रूक जाना उसे यह कडुवा सबक सिखा देता हे कि बात ऐसी नही है।[1] यह क्या–क्या काम कर सकता है, इस बात का पता उसे यह देख–देखकर चलता है कि कौन–से काम उनको करने से सकल्पो के साथ नियत रूप से जुडे हुए है जैसे, टॉग के निचले भाग को पीछे की ओर मोडना न कि आगे की ओर।

एक और शर्त की भी पूर्ति होनी चाहिए और वह यह कि अग काम करने के लिए स्वस्थ हो, क्योकि यदि ऐठन या लकवे की बीमारी हो गई है तो कोई कितना ही सकल्प करे वह अपने अगो को वाछित रूप मे नही हिला पाएगा। इस तरह असली नियत सयोजन क–1 (बॉह को उठाने का सकल्प) धन क–2 (अगो का स्वस्थ होना) तथा ख (बॉह का उठना) के मध्य है। तो फिर सकल्प और काम के बीच अनिवार्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है, जब कुछ स्थितियो मे काम सकल्प का अनुसरण नही करता ?

जिस आदमी की टॉग को एकाएक लकवा मार गया है, या जिसके ये अग हाल ही मे नष्ट हो गए है, वह शुरू मे बार–बार उन्हे हिलाने और उनसे उनका स्वाभाविक काम लेने की चेष्टा करता है। यहॉ ऐसे अगो को आदेश देने की शक्ति की आदमी को उतनी ही चेतना है जितनी पूर्णत स्वस्थ एक आदमी को अपने स्वाभाविक स्वस्थ अवस्था मे रहनेवाले किसी अग को सचालित करने की अपनी शक्ति की होती है। न तो पहले मे और न दूसरे ही प्रसग मे हमे कभी किसी अनिवार्य सबध की चेतना होती है। अपने सकल्प के प्रभाव का ज्ञान हमे केवल अनुभव से ही होता है और केवल अनुभव ही हमे सिखाता हे कि कैसे एक घटना दूसरी का सतत अनुसरण करती है।[2]

---

1 दा0वि0 परिचय–हास्पर्स पृष्ठ 426

2 डेविड ह्यूम, ऐन इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अडरस्टैडिग भाग 7

ह्यूम की व्याख्या के विरूद्ध आपत्तियॉ– यह रही ह्यूम की कारणता की व्याख्या। परतु आकर्षक होने पर भी वह अपने वर्तमान रूप मे पर्याप्त नही है। (1) अनेक उदाहरण नियत सयोजन के ऐसे मिलते है जिनमे कारण–कार्य का सबध नही होता। चौराहे पर हरी बत्ती जलती है फिर लाल बत्ती जलती हे तब हरी और, इसी प्रकार नियत रूप से चलता है पर हरी बत्ती लाल बत्ती के जलने का कारण नही है। रात और दिन नियत रूप से एक–दूसरे का अनुसरण करते है, पर फिर भी एक–दूसरे को पैदा नही करते। शिशुओ मे बालो के उगने के बाद दॉत निकलते है, पर बाल दॉतो के पैदा होने के कारण नही है। (2) अनेक उदाहरण ऐसे लगते है जिनमे कारण–कार्य का सबध होता है पर नियत सयोजन नही होता। हम कहते है कि माचिस को रगडने से वह जल उठती है, परतु रगडी हुई माचिस सदैव नही जलती। मसालेदार भोजन खाना व्रणो की उत्पत्ति का कारण होता है, पर ऐसा भोजन करने से व्रण सदैव उत्पन्न नही होते। मुक्केबाजी मे आपको देखना मेरे आश्चर्य का कारण हो सकता है, पर यदि दुबारा मै आपको वहॉ देखूँ तो मुझे आश्चर्य शायद न हो। मै अपनी भुजा उठाने का निश्चय करता हूँ और वह उठ जाती है, पर यदि इसके बाद एकाएक मुझे लकवा मार जाता है और मै भुजा को नही उठा सकता तो यह बात फिर भी सत्य होगी कि मेरा उसे उठाने का निश्चय ही पिछली बार उसके उठने का कारण था। ह्यूम के जैसा कोई विश्लेषण शायद फिर भी पर्याप्त हो, पर ह्यूम का विश्लेषण नही।

"नियत सयोजन" के अर्थ का हम कुछ अधिक सावधानी के साथ विश्लेषण कर ले। क्या इसका यह मतलब है कि जब भी क होता है तब ख होता है ? क्या यह मतलब है कि यदि ख होता है तो हम अनुमान कर सकते है कि क हो चुका है ? क्या इसका यह अर्थ है कि यदि क नही होता तो ख नही होगा ? यहॉ हम एक ऐसे बिन्दु पर आ गए है जिसका कारणता के विषय मे बात करने मे महत्व है यह बिन्दु है अनिवार्य और और पर्याप्त उपाधि का अन्तर, क्योकि "नियत सयोजन" कहने से यह स्पष्ट नही होता कि सकेत अनिवार्य उपाधि की ओर है या पर्याप्त उपाधि की ओर या दोनो की ओर।

(अ) **अनिवार्य उपाधि–** जब हम यह कहते है कि क ख क हाने की एक अनिवार्य उपाधि है तब हमारा अभिप्राय यह नही होता कि क और ख के बीच कोई अनिवार्य सबध है, हालॉकि कहते हम कभी–कभी यह है कि "ख के होने के लिए क को जरूर होना चाहिए।" हमारा मतलब सिर्फ यह होता है (या होना चाहिए) कि क के अभाव मे ख कभी नही होता, जो कि एक इद्रियानुभविक तथ्य मात्र है। इसप्रकार आक्सीजन के अभाव मे आग कभी नही जलती। आक्सीजन की उपस्थिति किसी भी तरह आग की उपस्थिति की एक तर्कत अनिवार्य उपाधि नही है। असल मे यह बात स्वतोव्याघात के बिना सोची जा सकती है कि आक्सीजन से बिल्कुल भिन्न कोई चीज, जैसे एक हाथी की उपस्थिति, आग की एक अनिवार्य उपाधि हो। केवल अनुभव से हम जान सकते है कि वे उपाधियॉ कौन–सी है जिनकी अनुपस्थिति मे वाछित घटना नही होती। इस प्रकार "आक्सीजन आग के लिए अनिवार्य है" एक मामूली इद्रियानुभविक कथन है जिसकी अनुभव से जॉच की जा सकती है।

यदि आक्सीजन (क) आग (ख) के लिए आवश्यक है तो हम यह भी कह सकते है कि यदि आग है तो आक्सीजन मौजूद है। इसप्रकार हम कह सकते है कि जब क ख की एक अनिवार्य उपाधि होता है तब

यदि क नही है तो ख नही है,

अथवा दूसरी तरह से,

यदि ख है तो क है।

परतु हम इनमे से कोई बात नही कह सकते

यदि क है तो ख है।

यदि ख नही है तो क नही है।

(ब) **पर्याप्त उपाधि–** क को ख के होने के लिए पर्याप्त कहा जाता है यदि सदैव जब भी क होता है तब ख होता है। "यदि सडक के ऊपर वर्षा हो रही है तो सडक गीली हो जाती है।" वर्षा का होना सडक के गीली

होने के लिए पर्याप्त है, पर वह अनिवार्य नही है यदि वर्षा न भी हुई हो तो भी सडक गीली हो सकती है, जैसे तब जब पानी छिडकनेवाली गाडी उधर से गुजरी हो। क को ख के लिए पर्याप्त कहना यह कहना है कि –

यदि क है तो ख है।

अथवा दूसरी तरह से,

यदि ख नही है तो क नही है।

परतु हम इनमे से कोई बात नही कह सकते

यदि क नही है तो ख नही है।

यदि ख है तो क है।

इस प्रकार अनिवार्य उपाधि और पर्याप्त उपाधि एक–दूसरे के विपरीत है।

(3) **कारण पर्याप्त उपाधि के रूप मे**– इस अतर को देखते हुए यह पूछा जा सकता है कि क्या "कारण" की अनिवार्य उपाधि के रूप मे परिभाषा देना ठीक होगा ? स्पष्ट है कि नही ऐसी अनेक अनिवार्य उपाधियॉ है जिन्हे हम कारण नही कहेगे। उदाहरणार्थ, यदि कोई आपसे पूछे कि "आपने यह पाठ्यक्रम क्यो लिया है ?" और आप जवाब दे कि "क्योकि मै पैदा हुआ हूँ", तो आपका जवाब सतोषजनक नही माना जाएगा। फिर भी आपका पैदा होना आपके इस क्षण यहॉ या अन्यत्र होने की अनिवार्य उपाधि है। किसी भी घटना के होने के लिए यह एक अनिवार्य उपाधि है कि जगत् का अस्तित्व हो, परतु यदि एक निर्दिष्ट घटना का आपसे कारण पूछा जाए तो जवाब यह नही होगा कि जगत् का अस्तित्व है। **इसलिए कारण और अनिवार्य उपाधि, एक ही बात नही है।** अनिवार्य उपाधि का कारणता के साथ कुछ सबध जरूर है हम प्राय अनिवार्य उपाधिक को एक कारक (कारण नही) कहते है जैसे, इसके पहले कि कोई चीज जल सके आक्सीजन का होना जरूरी है आक्सीजन जलने की एक अनिवार्य उपाधि है। इसे जलने का एक

कारक कहा जा सकता है (इस बात मे यह जलनेवाली वस्तु के रग से भिन्न है जो कारक बिल्कुल नही है), पर निश्चय ही कारण यह नही है।[1]

पर पर्याप्त उपाधि के बारे मे क्या कहा जाएगा ? कारणता की ह्यूम द्वारा दी गई व्याख्या की कमियो को दूर करने की कोशिश करते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1873) ने "कारण" को पर्याप्त उपाधि बताया था। जलने के लिए कौन–सी उपाधियॉ पर्याप्त होती है ? (1) एक चीज होनी चाहिए जो जल सके। (11) एक अपेक्षित तापमान होना चाहिए जब चीज को एक निश्चित मात्रा तक गर्म किया जाता है तब वह जल उठती है (अलग–अलग चीजो के लिए अलग–अलग तापमान चाहिए)। (111) आक्सीजन होना चाहिए। जब ये सब उपाधियॉ मौजूद होती है तब चीज जल उठती है, ये उपाधियॉ सम्मिलित रूप से पर्याप्त है। यह ध्यान देने की बात है कि इनमे से प्रत्येक उपाधि पृथक उपाधि पृथक रूप से अनिवार्य है, पर कोई भी स्वत पर्यापत नही है। जब ये तीनो उपस्थित हो तभी हमारे पास पर्याप्त उपाधि होगी। उपाधियो का वह समुच्चय जो पर्याप्त हो, घटना का कारण है।

जलने का उदाहरण बहुत ही सरल है केवल तीन ही उपाधियॉ इसके लिए पर्याप्त है। कार ठीक तरह से चले, इसके लिए क्या पर्याप्त है ? यहॉ उपाधियॉ सख्या मे कही अधिक है पहिए जुडे होने चाहिए, धुरियो को टूटी नही होना चाहिए, मोटर और जनरेटर तथा अनेक अन्य भागो का काम सुचारू होना चाहिए, और उन्हे कुछ उपयुक्त तरीको से जुडे होना चाहिए, इत्यादि। अनिवार्य उपाधियो की सूची हजारो मे पहुॅच जाएगी। और इन हजारो मे से प्रत्येक को पर्याप्त उपाधि के अशो की सूची मे रखना होगा, क्योकि उन सबके समुच्चय से कम कोई भी बात कार को ठीक तरह से चलाने के लिए पर्याप्त नही है। पर यह उदाहरण जीव–जगत् के उदाहरणो की तुलना मे वस्तुत सरल है, और मानवीय व्यवहार के उदाहरणो की तुलना मे तो और भी सरल है उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति किसी दार्शनिक चर्चा मे आनद ले सके, इसके लिए

1 दर्शनिक विश्लेषण परिचय, जॉन हॉस्पर्स, पृष्ठ–429

कौन–सी शर्ते (उपाधियॉ) पूरी होनी चाहिए ? यहॉ शर्ते आश्चर्यजनक रूप से जटिल है, और अनेक बातो की सूची बनाने पर भी शायद हमे पर्याप्त उपाधि नही प्राप्त हो सकेगी। सामान्यत पर्याप्त उपाधियो (वे उपाधियॉ जिनकी उपस्थिति मे घटना सदैव घटती है) की तुलना मे अनिवार्य उपाधियो (वे उपाधियॉ जिनकी अनुपस्थिति मे घटना कदापि नही घटती) की सूची देना कही आसान होता है।

अत, पर्याप्त उपाधियॉ सरल बिल्कुल ही नही होती। जिन्हे आसानी से बताया जा सकता है वे केवल वे है जो "अभवात्मक घटनाओ" को पेदा करती है– अर्थात् किसी बात के न होने को। आपका बिजली से चलनेवाला रेडियो बजे नही, इसके लिए प्लग को निकाल देना पर्याप्त है। किसी एक ट्यूब को निकाल देना भी पर्याप्त है। यहॉ उपाधियॉ बहुत है जिनमे से प्रत्येक अकेली पर्याप्त है। परतु भावात्मक घटना के होने के लिए–रेडियो के ठीक से बजने के लिए–पर्याप्त उपाधियो का कोई सरल समुच्चय नही है। सूची लबी हे, पर कम से कम यहॉ रेडियो की मरम्मत करनेवाला उन उपाधियो के पूरे समुच्चय को जानता है जिनपर रेडियो का बजना निर्भर होता है, क्योकि वह (प्राय) रेडियो को ठीक कर सकता है और रेडियो निश्चय ही तब तक नही चलेगा जब तक उसके ठीक चलने के लिए पर्याप्त उपाधि–समुच्चय मौजूद न हो। सौ वर्ष की आयु तक शरीर के स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए पूरा उपाधि–समुच्चय ज्ञात नही है।

मिल ने लिखा है "अत कारण, दार्शनिक दृष्टि से, भावात्मक और अभावात्मक दोनो ही प्रकार की उपाधियो का पूरा समुच्चय है, हर तरह की ऐसी घटनाओ का पूरा समूह है जिनके होने पर वह घटना नियत रूप से होती है।" मिल के अनुसार, "कारण" की यह सही वैज्ञानिक परिभाषा है। कारण (पूरा कारण) उपाधियो का वह समुच्चय है जो घटना को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हो–अर्थात् उन शर्तो का समूह जिनके पूरे होने पर घटना सदैव होती है। किसी घटना के कारण को बताना उपाधियो के पूरे समुच्चय को गिन देना है।[1]

---

1 वही, पृष्ठ 431

किसी घटना को पैदा करनेवाली कोई अकेली घटना नही होती। एक घटना (कार्य) का कारण उपाधियो का एक पूरा समुच्चय होता है, जिनमे से कुछ घटनाएँ (जैसे फ्यूज को जलाना) होती है पर अन्य द्रव्य की अवस्थाएँ (बारूद का सूखा होना) होती है और कुछ पर्यावरण की अवस्थाएँ (हवा मे आक्सीजन का होना)। कारण के द्वारा कार्य की उत्पत्ति सामान्यत स्थायी वस्तुओ के इतिहास मे होनेवाली एक बात है, जिन्हे हम द्रव्य कहते हे, या लोकप्रिय भाषा मे, चीजे। (पर शायद हर प्रसग मे ऐसा न हो आकाश मे चमकनेवाली बिजली [वज्र] किसी की मृत्यु का कारण बन सकती है पर क्या वज्र एक द्रव्य है ?) इस प्रकार मिल ह्यूम के मत के विरूद्ध प्राय उठाई जानेवाली इस आपत्ति के निराकरण का प्रयत्न करता है कि घटनाएँ स्वत अन्य घटनाओ को उत्पन्न नही करती। ह्यूम ने कभी नही कहा कि वे उन्हे उत्पन्न करती है, परतु उसका कारण और कार्य के नियत योग की बात को इस प्रकार बार–बार दोहराना जैसे कि मानो कारण एक घटना हो और कार्य दूसरी घटना, अनेक आलोचको के इस निष्कर्ष का आधार बन गया कि ह्यूम एक घटना के कारण को सदैव अन्य घटना मानता है।[1]

क्या मिल की व्याख्या का देनिक जीवन मे "कारण" शब्द का हम जो प्रयोग करते है उससे मेल बैठता है ? पूरा नही। मिल ने प्रयत्न "वैज्ञानिक व्याख्या" देने का किया था जिसमे उन सब उपाधियो की सूची देना जरूरी था जिनके ऊपर घटना निर्भर होती है। परन्तु दैनिक जीवन मे हम कहते है कि माचिस झाडने से वह जल उठी, आर्सेनिक खाना उसकी मृत्यु का कारण था, फ्यूज का जलाया जाना बारूद के विस्फोट का कारण था, सीढी से गिर पडने से आदमी की टॉग टूट गई। सबधित घटना के होने के लिए इनमे से कोई भी उपाधि पर्याप्त नही है। प्रत्येक के होने के लिए असख्य अन्य उपाधियो की उपस्थिति आवश्यक है, जिन्हे उपस्थित मान लिया गया है। जिन उपाधियो के समुच्चय से पर्याप्त उपाधि बनती है उनकी विशाल सख्या मे हम एक को चुन

---

1 वही, पृष्ठ 432

लेते है और उसे कारण कहते है, हालॉकि वे सबधित घटना के होने के लिए समान रूप से अपरिहार्य है, और सभी पर्याप्त उपाधि के समान रूप से अश है। जिसे हम चुनते है उसे इसलिए चुनते है कि (1) कार्य की उत्पत्ति से पहले वह अतिम शर्त है जिसे पूरा करना है, या (2) वह ऐसी शर्त है जिसके बारे मे हम समझते है कि श्रोता पहले से नही जानता, अथवा (3) वह ऐसी शर्त है जिसका कार्योत्पादन मे हिस्सा सबसे स्पष्ट होता है। इस प्रकार, बारूद अपनी जगह पर है, हवा मे आक्सीजन मौजूद है, इत्यादि और फ्यूज को जलाना बारूद का विस्फोट करने के लिए की जानेवाली अतिम बात है। हम कहते हे कि आर्सेनिक का खाया जाना उसकी मौत का कारण बना, हालॉकि यदि उसका पेट लोहे का बना होता तो दसगुना आर्सेनिक खाने के बाद भी उसे कुछ न हुआ होता। पर हम मान लेते है कि श्रोता पहले से जानता है कि उसक पेट वैसे नही बना हुआ है, और इसलिए इस बात को हम कारण नही गिनते, हालॉकि यह भी कार्योत्पत्ति के लिए उतनी ही आवश्यक है जितना आर्सेनिक का खाया जाना। हम कहते है कि उसकी टॉग सीढी से उसके गिरने के कारण टूटी, पर हम यह नही बताते कि वह दलदल मे न गिरकर ठोस भूमि के ऊपर गिरा या उसका शरीर हवा से ज्यादा भारी था (जिसके अभाव मे वह सीढी से फिसलने पर भी भूमि पर न गिरा होता)। अत दैनिक जीवन मे हम इस प्रकार बोलते है जैसे कि मानो एक घटना अकेली ही दूसरी घटना का कारण बनती हो, पर वास्तव मे यह बात नही होती विभिन्न व्यावहारिक हेतुओ से हम एक उपाधि को पृथक् कर लेते है और ऐसे बात करते है जैसे कि वही कारण हो, हालॉकि वास्तव मे अनेक उपाधियॉ हो सकती है जिन सबके होने से ही पर्याप्त उपाधि बनेगी।

जब कारक अत्यधिक बडी सख्या मे होते है, जैसे मानवीय व्यवहार के क्षेत्र मे, तब हमारी इस तरह बात करने की सबसे अधिक प्रवृत्ति होती है। इस चोरी का क्या कारण था ? एक आदमी कहता है कि ताला कमजोर था। दूसरा कहता है कि घर मे कोई प्राणी नही था। "मकान सडक से बहुत पीछे था।'

"रात अधेरी थी और चॉद नही था जिससे चोर को पकडना और पहचानना कठिन था।" "चोर थोडे समय पहले ही जेल तोडकर भागा था।" 'उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि पर विचार कीजिए–असली कारण वही मिलेगा। ये सभी कारक है, इस मामले मे कार्योत्पादन मे इन सभी का कुछ–कुछ हाथ हो सकता है, परन्तु हम केवल एक को ले लेते है ओर ऐसे बात करते है जैसे कि वही कारण हो।

प्राय हम उस एक कारक को 'कारण' कहते हे और शेष सबको "उपाधियॉ" । परन्तु मिल ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि यह अन्तर निराधार है कार्य की उत्पत्ति के लिए सभी कारक काम करते है।[1]

कारण की घटना–क–के–अनतर–घटना–ख–का–होना के रूप मे शुरू मे जो व्याख्या दी गई थी उसमे से अधिक शेष नही रहता। प्राय होता यह है कि जिस घटना के बाद नियमित रूप से एक घटना होती है वह उसके कारण का एक अश तक नही होती। क और ख का नियत सयोजन किसी ऐसी चीज का परिणाम हो सकता है जो उन दोनो ही का कारण हो। हरी बत्ती के बाद बिल्कुल नियमित रूप से लाल बत्ती जलती है और लाल बत्ती के बाद हरी बत्ती, परन्तु इनमे कोई कारण–कार्य का सबध नही है बत्तियो के अनुक्रम का जो रूप है उसका नियत्रण एक यात्रिक क्रिया के द्वारा होता है, और यदि वह यात्रिक क्रिया बद हो जाए तो न हरी बत्ती जलेगी और न लाल। इसी तरह रात भी दिन का या दिन रात का करण नही है, हालॉकि इनका सतत सयोजन रहता है। दिन और रात नियमित रूप से एक के बाद एक आते है, और इस एकातरण का कारण यह है कि (1) पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है, (11) सूर्य निरन्तर प्रकाश देता रहता है (यदि न देता होता तो पृथ्वी का उसकी ओर मुडना दिन निकलने की दृष्टि से व्यर्थ होता), तथा (111) पृथ्वी और सूर्य के मध्य कोई ऐसा अपारदर्शी पदार्थ नही है जो सूर्य के प्रकाश को रोक दे। ये वे उपाधिया है जो इकट्ठी रात और दिन के एकातरण के लिए पर्याप्त है, ओर इनमे से प्रत्येक एक अनिवार्य उपधि है।

---

1 वही, पृष्ठ 433

(1) **कारणो की अनेकता**—अनेक उपाधियो के एक साथ मिलने से एक पर्याप्त उपाधि बनती है, पर क्या उनमे से प्रत्येक सदैव अनिवार्य होती है? शायद उपाधि 1, 2 और 3 मिलकर ख को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हे, पर शायद उपाधि 4, 5 और 6 भी मिलकर ख की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त है, भले ही 1, 2 और 3 का अभाव हो। उस दशा मे ख की पर्याप्त उपाधियॉ दो हे। अथवा शायद यहॉ कुछ अतिव्यापिता है 1, 2 ओर 3 ख के लिए पर्याप्त हो सकती है और 1, 2 और 4 भी ख के लिए पर्याप्त हे। ऐसी दशा मे उपाधि 1 और 2 अनिवार्य है, क्योकि ख इनके अभाव मे नही होता, पर उपाधि 3 ओर 4 नही है, क्योकि कभी—कभी ख उनके अभाव मे हो जाता है।

निश्चय ही ऐसा लगता है कि जैसे प्राय कारण अनेक होते है। एक ही कार्य उपाधियो के एक भिन्न समुच्चय से उत्पन्न हो सकता है। यदि हम एक कपडे से कोई धब्बा मिटाना चाहते है तो हम पेट्रोल, कार्बन टेट्राक्लोराइड इत्यादि रासायनिक अभिकर्मको की एक बडी सख्या मे से किसी भी एक का प्रयोग कर सकते है। हम कुछ कार्बनिक यौगिको का निर्माण या तो जीवित प्राणियो के अन्दर रासायनिक प्रतिक्रियाएँ प्रेरित करके कर सकते है या उनके तत्वो अथवा सरल यौगिको से उनका सश्लेषण करके कर सकते है। आप कालेज की पत्रिका मे भडकानेवाली सामग्री देकर, प्रिन्सिपल की मेज के नीचे बम रखकर या कोई और बात करके कालेज से निकाले जा सकते है।

दूसरी ओर प्राय यह होता है कि कारणो की अनेकता केवल आभासी होती है। (1) कभी—कभी पर्याप्त उपाधि मे जरूरत से अधिक शामिल कर लिया जाता है। यदि रेडियो का बजना रोकने के लिए प्लग को निकाल लेना काफी है तो प्लग को निकालना + चन्द्रमा का पूर्ण होना भी काफी है जब भी आप प्लग को निकालते है और चन्द्रमा पूर्ण होता है तब सदैव रेडियो का बजना रूक जाता है। परन्तु हम चन्द्रमा को कारण का अश नही मानते, क्योकि रेडियो का बजना प्लग को निकाल देने से बन्द हो जाता है, चाहे चन्द्रमा पूर्ण हो या नही। इस उदाहरण मे चन्द्रमा की असबद्धता आसानी से समझ मे आ जाती है,

परतु अन्य उदाहरण इतने स्पष्ट नही होते। इस प्रकार हम कह सकते है कि बिलियर्ड गेद ब के एक निश्चित दिशा मे चलने का कारण न केवल बिलियर्ड गेद अ का उससे टकराना है बल्कि आपकी कोहनी का उससे छूना या मेज का हिलना या एक हल्का–सा भूकम्प भी है। परतु इसे कारणो की अनेकता का एक सच्चा उदाहरण शायद ही माना जाएगा गेद के इस दिशा मे जाने के लिए आवश्यक और पर्याप्त यह है कि उसपर इस दिशा मे बल की कोई मात्रा लगाई जाए , इससे कोई फर्क नही पडता कि बल कौन लगाता है, और इसलिए उन उपाधियो की सूची मे जिनपर यह घटना निर्भर है इन बातो का उल्लेख करने की जरूरत नही है। इस प्रकार दो पैरा पहले सख्याओ के साथ उपाधियो का जो उल्लेख किया गया था उसमे 3 और 4 को शामिल करना जरूरत से अधिक होगा ख को उत्पन्न करनेवाली असली चीज घटक क है जो 3 और 4 मे समान है। यदि ऐसा है तो कारणो की अनेकता की बात समाप्त हो जाती है, क्योकि दोनो ही प्रसगो मे उपाधियो का पूरा समुच्चय 1, 2 और क है। (2) कभी–कभी एक ही सामान्य प्रकार का कार्य विभिन्न उपायो से पैदा किया जा सकता है मकान बिजली गिरने से, चूल्हे की आग से, आगजनी इत्यादि से जल सकता है। यदि "मकान का जलकर राख हो जाना" कार्य है तो निश्चित ही यह उपाधियो के विभिन्न समुच्चयो से हो सकता है। परतु बीमा–कम्पनी का निरीक्षक खडहरो की बारीकी से जाच करके प्राय यह पता लगा लेती है कि आग बिजली से लगी है या चूल्हे से। दोनो दशाओ मे कार्य कुछ भिन्न होता हे और "आग से नष्ट होना" एक सामान्य बात है जिसमे कई तरह के विशिष्ट कार्य आ जाते है। शायद यदि हम कार्यों का भी कारणो की ही तरह सावधानी से विश्लेषण करे तो अत मे कारणो की अनेकता बिल्कुल ही समाप्त हो जाएगी।

हम कारणो की अनेकता से सबधित प्रश्न का निर्णय करने की चेष्टा नही करेगे यह इद्रियानुभव से जॉच करके निर्णय करना वैज्ञानिको का काम हे, हमारा काम केवल इसके अर्थ को स्पष्ट कर देना है। हम कारणता के बारे मे कारणो की अनेकता को लेकर किसी का पक्ष न लेते हुए बात करेगे। जब हम यह कहेगे कि कारण क कार्य ख के लिए पर्याप्त है तब हम स्वय को इस पक्ष

से नही बॉधेगे कि वही उपाधियो का ऐसा एकमात्र समुच्चय है जिसका अनुसरण नियत रूप से ख के द्वारा होता है।

(11) **कारणो के बारे मे हमारा ज्ञान**–चूँकि हमे इस बात का प्रागनुभविक ज्ञान नही होता कि कौन किसका कारण हे, इसलिए 'तो हम केसे जानते है कि कौन किसका कारण है ?" का उत्तर आसान लगेगा इद्रियो के द्वारा प्रेक्षण करके। परतु यह उत्तर बहुत विशिष्ट नही है। किस प्रकार के प्रेक्षण से हम जानेगे कि कौन किसका कारण है ? प्रेक्षण से हम बता सकते है कि एक घटना दूसरी के पहले होती है–बिजली गर्जन से पहले चमकती है। क्या हम एक प्रेक्षण से यह बता सकते है कि कौन किसका कारण है ?

मान लीजिए कि आपने असख्य बार यह देखा है कि एक कागज का टुकडा आग मे डाले जाने पर जल जाता है। आपने मान लिया कि किसी दाह्य पदार्थ को एक निश्चित मात्रा मे गरमी देना उसके जलने के लिए पर्याप्त होता है। तब आपने एक ऐसे कमरे मे प्रयोग किया जिसमे आक्सीजन नही थी और देखा कि कागज का टुकडा नही जला। शायद आपने कभी यह न सोचा हो कि आक्सीजन की उपस्थिति भी एक उपाधि है, क्योकि हमारे अनुभव मे आक्सीजन सामान्यत उपस्थित रहता है। परतु यदि उसका अभाव हो तो आग जलाने की कोशिश करके आप देख लेगे कि वह एक अनिवार्य उपाधि है। प्रागनुभविक रूप से आप नही जान सकते थे कि जलने का कारण कोई और बात न होकर आक्सीजन है केवल बार–बार दोहराये जाने वाले प्रयोगो से ही आप जानते है। इसीप्रकार, यदि आप यह जानना चाहते है कि एक वैक्सीन गिनीपिगो को एक रोग से मुक्त रखने के लिए पर्याप्त है तो उन्हे उसकी सुई लगाइए और देखिए कि रोग का उनपर प्रभाव होता है या नही। (यदि केवल कुछ पर ही प्रभाव होता है तो अन्य उपाधिया काम कर रही है जिनका अभी आपको पता नही हुआ है। (आप असल मे एक प्रयोग से केवल तभी एक उपाधि क को ख का कारण जान सकते है जब आप जानते हो कि प्रत्येक अन्य बात ज्यो–की–त्यो बनी हुई है। यदि मै एक बटन को दबाता हूँ और एक बत्ती जल

जाती है तो इन दोनो मे कारणात्मक सबध होने का अनुमान मै केवल तभी कर सकता हूँ जब मुझे ज्ञात हो कि परिस्थिति मे हर अन्य बात यथावत् बनी हुई है। पर यह मै केवल एक ही प्रयत्न मे कैसे जान सकता हूँ? ठीक उस क्षण मे, जब मैने बटन दबाया था, कोई अन्य ऐसी बात हो सकती है जो वास्तविक कारण (कम–से–कम पर्याप्त उपाधि का एक अश) रही हो। यदि मै उसे बार–बार दबाता हूँ, और हर बार बत्ती जल जाती है, तो यह बात उत्तरोत्तर अधिक प्रसभाव्य होती जाती है कि वह एक कारक है (कुछ अन्य स्थायी कारको के सहित, जैसे सरकिट का न टूटना तथा बिजली–सयत्र का सक्रिय बना रहना)। यदि आप यह जानना चाहते है कि क ख के लिए अनिवार्य है तो उपाधियो को बदलते रहिए और देखिए कि कभी ख क के बिना प्राप्त होता है या नही । यदि आप यह जानना चाहते है कि क ख के लिए पर्याप्त है तो उपाधि क का बार–बार प्रयोग करके देखिए कि ख सदैव होता है या नही।

"सदैव" का क्या अर्थ है ? प्रकटत "सदैव" को शाब्दिक अर्थ मे लेना है जिसका मतलब है भूत, वर्तमान और भविष्य सभी उदाहरणो मे। परतु यदि ऐसी बात है तो आप इस समय यह नही जान सकते कि क ख का कारण है, क्योकि आपने कोई भविष्य उदाहरण नही देखे है (और न असख्य अतीत उदाहरण देखे है) इसके बावजूद, जैसा कि प्रकृति के किसी भी नियम मे होता है, यह सब शामिल रहता है जब आप कहते है कि आक्सीजन की उपस्थिति मे किसी जल सकनेवाली सामग्री को ताप देने से वह जल उठती है, तब यह विवक्षित होता है कि यदि ये शर्तें पूरी हो तो न केवल आज ऐसा होता है और कल हुआ था बल्कि कल फिर होगा। और यह बात सही अर्थ मे आप जान नही सकते आपको प्रसभाव्यता की केवल न्यूनाधिक मात्राएँ ही प्राप्त हो सकती है। हमारा पूरा अतीत का अनुभव हमे यह विश्वास देता है कि यदि आक्सीजन है तो कल कागज आग मे डाले जाने पर जल उठेगा इन परिस्थितियो मे सदैव ऐसा हुआ है और हम कोई और भी ऐसी परिस्थितियॉ नही सोच सकते जो अनिवार्य हो। व्यावहारिक प्रयोजन के लिए इतना ही हमे चाहिए और प्राप्य भी केवल इतना ही है। हमे केवल यही कहने की आवश्यकता है कि "अब तक का

हमारा अनुभव केवल यही बताता है कि क ख की उत्पत्ति का कारण है और हमे कोई ऐसा अनुभव नही हुआ है जो इस बात मे सदेह पैदा करे।" कल क के बाद ख होगा या नही, यह हम कल से पहले निश्चयात्मक रूप से नही जानते।

(111) <u>कारणता के अन्य विश्लेषण</u>–यहाँ तक हमने 'कारण' की इस परिभाषा का प्रतिवाद नही किया है कि वह "पर्याप्त उपाधि" है। पर बहु–से इस परिभाषा से असहमति प्रकट करेगे। उन्हे शायद इस अर्थ मे मिल के "कारण" शब्द के प्रयोग के अधिकार पर कोई आपत्ति न होगी, पर वे कहेगे कि दैनिक जीवन मे इस शब्द का हम ऐसा प्रयोग नही करते ओर कि साधारणत इससे हमारा मतलब बिल्कुल भिन्न होता है। मिल वैज्ञानिक परिभाषा देने की कोशिश कर रहा था–अर्थात् ऐसी परिभाषा जो वैज्ञानिक छानबीन मे यह शब्द जिस रूप मे प्रयुक्त होता है उसके अनुसार हो, और शायद इस शब्द का मिल वाला प्रयोग अवश्य ही वैज्ञानिक प्रयोग के निकट है। परतु कहा जाता है कि हमारे दैनिक वार्तालाप मे "कारण" का अर्थ वह नही होता जो मिल ने बताया है। तो फिर दैनिक जीवन मे इसका क्या अर्थ है ?

(a) **व्यक्तियो के मध्य कारण–सबध**– आर0जी0 कॉलिगवुड (1889–1943) के अनुसार "कारण" का मूल, आधारभूत, आदिम अर्थ मनुष्यो के अन्य मनुष्यो के सम्बन्ध मे किए जानेवाले व्यवहार मे पाया जाता है। जब भी मै आपको कोई काम करने के लिए उकसाता हूँ, प्रेरित करता हूँ या बाध्य करता हूँ, तब मै आपके उस काम का कारण बनता हूँ। मेरे प्रभाव का रूप आप अन्यथा जो किए होते उससे भिन्न तरह से स्वेच्छापूर्वक आपसे काम करवाने से लेकर आपको बाध्य करके काम करवाने तक, कुछ भी हो सकता है। स्पष्ट है कि यदि मै बदूक दिखाकर आपको मजबूर करता हूँ तो मै आपके किसी काम का कारण बनता हूँ (जो अन्यथा आप न किए होते)। परतु जब आप समाचार–पत्र मे यह पढते है कि चर्चिल के भाषण से कॉमन्स–सभा का कार्य स्थगित हो गया, तब मतलब यह नही है कि उसके भाषण ने अध्यक्ष को कार्य रोक देने के लिए बाध्य कर दिया, मतलब यह है कि चर्चिल के भाषण को

सुनकर अध्यक्ष ने स्वेच्छा से सभा का कार्य रोक देने का निश्चय कर लिया। इसीप्रकार, हम कहते है कि वकील के पत्र ने आदमी से ऋण चुकता करवा दिया। कारणता के प्रत्यय का मूल हमे व्यक्तियो के द्वारा अन्य व्यक्तियो के व्यवहार के प्रभावित होने मे खोजना चाहिए

जैसा कि ह्यूम ने ठीक ही पूछा था, यह प्रत्यय किस सवेदन से व्युत्पन्न है ? मै उत्तर देता हूँ कि हमारे सामाजिक जीवन मे मनुष्यो के आपस के व्यावहारिक सबधो से प्राप्त सवेदनो से, विशेषत किसी अन्य आदमी से तब कुछ "करवाने" या उसे कुछ करने के लिए "बाध्य करने" के अनुभव से जब तर्क आदेश, धमकी इत्यादि से हम उसे ऐसी स्थिति मे पहुँचा देते है कि वह अपना इरादा केवल वह काम करके ही पूरा कर सकता है, और विलोमत स्वय कुछ करने के लिए प्रेरित या बाध्य किए जाने के अनुभव से।[1]

कारणता के बारे मे कहते समय हमारी "अनिवार्य सबध" वाली भाषा के प्रयोग करने की जो प्रवृत्ति होती है उसके लिए जिम्मेदार "कारण" का यही आदिम अर्थ है जिसमे एक आदमी सीधे दूसरे के व्यवहार को प्रभावित करता है या उसे बाध्य करता है हम अपने द्वारा दूसरे को प्रभावित या बाध्य किए जाने का अथवा दूसरो के द्वारा स्वय प्रभावित या बाध्य किए जाने का अनुभव करते है, और जब हम भौतिक जगत् की उन वस्तुओ के बारे मे, जिनमे हम अपने व्यवहार के द्वारा परिवर्तन लाते है, ऐसे सोचते है जैसे कि मानो वे भी उन अन्य मनुष्यो की तरह हो जिन्हे हम बाध्य कर सकते है, तब हमारी प्रवृत्ति जीवत्वारोप की बन जाती है—यही वजह है कि क्यो हमारी दैनिक जीवन मे जो कारण विषयक_बातचीत होती है वह जीववाद से ओतप्रोत रहती है।

यद्यपि यही "कारण" का सर्वाधिक मौलिक या आदिम अर्थ है, तथापि यही वह एकमात्र या मुख्य अर्थ नही है जिसमे इस शब्द का आजकल प्रयोग

---

1 आर0जी0 कॉलिगवुड "ऑन दि सोकॉल्ड आइडिया ऑफ कॉजेशन हर्बर्ट मॉरिस द्वारा सपादित फ्रीडम ऐड रिस्पान्सिबिलिटी" मे उद्धृत, पृ0 307 (यह लेख सर्वप्रथम प्रोसीडिग्ज ऑफ दि अरिस्टोलियन सोसाइटी', 1938, पृ0 85–108 मे प्रकाशित हुआ था।

होता है। पर तब भी कॉलिगवुड के अनुसार मिल का कथन गलत है, क्योकि दैनिक वार्तालाप मे इसका मुख्य अर्थ इसी आदिम अर्थ का विस्तार होता है, लेकिन उस सीमा तक नही जहॉ तक मिल का अर्थ है। तो, यह मुख्य अर्थ क्या है ?

(b) **व्यक्ति और वस्तु के मध्य कारण**–सबध– अपने व्यवहार से हम न केवल अन्य मनुष्यो को प्रभावित करते है अपितु प्रकृति के घटनाक्रम को भी बदलते है।

अर्थ$_2$ मे "कारण" शब्द मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित प्रयत्न को अर्थ$_1$ की अपेक्षा कम नही प्रकट करता, परनतु व्यवहार यहॉ अन्य मनुष्यो को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से नही बल्कि "प्रकृति" की वस्तुओ, "भौतिक" वस्तुओ, के नियत्रण के उद्देश्य से किया जाता है इस अर्थ मे प्रकृति मे किसी घटना का "कारण" एक हत्था जैसा है जिसे पकडकर हम उसे सचालित कर सकते है। यदि हम ऐसी चीज को पैदा करना या रोकना चाहते है और तत्काल उसे पैदा नही कर सकते या रोक नही सकते (वैसे जैसे हम स्वय अपने शरीर की कुछ गतियो को पैदा कर सकते है या रोक सकते है) तो हम उसका "कारण" खोजने लगते है। इस प्रसग मे "घटना ख का क्या कारण है ?" पूछने का अर्थ है "हम कैसे ख को जब चाहे तब पैदा कर सकते या रोक सकते है ?"

आजकल के दैनिक प्रयोग मे यह एक बहुत ही सामान्य अर्थ होता है। खरोच का कारण वह ठोकर है जो आदमी के टखने पर पडी थी, मलेरिया का कारण मच्छर का काटना है, नाव के डूबने का कारण उसपर हद से ज्यादा भार लदा होना है, किताबो के टेढी–मेढी हो जाने का कारण उनका सीलन–भरे कमरे मे रखा होना है, आदमी को पसीना आने का कारण यह है कि उसने ऐस्पिरीन की गोली खा ली थी, भट्ठी के रात मे बुझ जाने का कारण यह हे कि हवा के लिए दरवाजा पूरी तरह नही खुला था, पौधे के मर जाने का कारण यह है कि उसे किसी ने पानी नही दिया, इत्यादि।[1]

---

1 वही, पृष्ठ 304–5

इनमे से प्रत्येक प्रसग मे घटना ऐसी है जिसे हम पैदा कर सकते है या रोक सकते है। कारण पकडने का हत्था है जिसके द्वारा हम पैदा करने या रोकने का काम कर सकते है। जैसे हम अन्य मनुष्यो के कामो को बदल सकते है वैसे ही प्रकृति मे कुछ घटनाओ के क्रम को भी बदल सकते है, और कारण वह चीज है जो हम उन्हे बदलने के लिए करते है।

जब पेसिल आपके हाथ से छूटकर नीचे गिर जाती है, तब कोई नही कहेगा कि नीचे गिरते समय उसकी दूसरे क्षण की गति का कारण गिरने की पहले क्षण की गति है, या तीसरे क्षण की गति का कारण दूसरे क्षण की गति है, इत्यादि फिर भी जब तक गुरूत्वाकर्षण का नियम काम करता रहेगा और जब तक गिरनेवाली चीज के रास्ते मे कोई रूकावट न हो, तब तक समय $स_1$ मे उसका एक स्थान पर होना एक सेकड के एक अल्पाश के अनतर समय $स_2$ मे उसके एक मिलिमीटर नीचे होने की पर्याप्त उपाधि है। परन्तु कारणता के बारे मे हम इस रूप मे बात नही करते। इसके बजाय हम कहते है कि मेरे द्वारा पेन्सिल का छोड दिया जाना उसके जमीन पर गिर पडने का कारण था। अथवा यदि हम लोहे के एक टुकडे को आग मे तपाकर गरम करे तो वह लाल हो जायगा, परतु सामान्यत हम यह नही कहते कि हम लोहे को लाल करते हे हम उसे तपाते है (आग मे रखकर) और जब वह काफी तप जाता है तब वह हमारी किसी भी अन्य क्रिया की अपेक्षा किए बिना स्वत ही लाल हो जाता है। दोनो ही प्रसगो मे जिस शर्त का उल्लेख किया गया है वह कार्य की एक अनिवार्य उपाधि है और साथ ही पर्याप्त उपाधि का एक घटक भी, फिर भी हम उसे कारण नही कहते। ऐसा क्यो ?

इस समय हम जिस मत पर विचार कर रहे है उसके अनुसार उत्तर यह है कि हम किसी उपाधि को कारण तब तक नही कहते जब तक उसमे कोई ऐसा काम शामिल न हो जिसे हम कार्य को उत्पन्न करने के लिए कर सकते हो। हमारा यह कहना सही है कि हमारे द्वारा पत्थर को छोड दिया जाना उसके गिरने का कारण है यही वह बात है जो हम पत्थर को गिरने देने के लिए करते है। नीचे गिरते समय दूसरे क्षण मे होनेवाली पत्थर की गति को पैदा

करने के लिए हमने पहले ही क्षण मे जो कर लिया उसके अलावा हम कुछ नही करते। उसे छोड देने के बाद उसके जमीन पर पहुँचने के लिए हमे कुछ करने की जरूरत नही है। पत्थर को छोड देना एक काम है जो हम पत्थर के गिरने के लिए करते है। इसी प्रकार लोहे के उदाहरण मे उसके लाल होने के लिए हमने कोई ऐसा काम नही किया जो हम उसे गरम करने के लिए पहले न कर चुके हो। उसे गरम करने के लिए जो तरीका हमने अपनाया है उसके अलावा कोई और तरीका हमने उसे लाल करने के लिए नही अपनाया। अत हम सामान्यत यह नही कहते कि हम उसे लाल करते है बल्कि केवल यह कहते है कि हम उसे गरम करते है। हम जब उसे आग मे रख देते है तब बाकी बाते हमारे हस्तक्षेप के बिना स्वत ही हो जाती है।

अनादि काल से लोग उन परिस्थितियो मे कारण ओर कार्य की वात करते आए है जिनमे वे कोई चीज करते है जिससे कोई और इच्छित चीज हो जाती है–एक निश्चित प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए वे अपने शरीर को एक निश्चित तरीके से हिलाते–डुलाते है किसी के जबडे पर आघात करने के लिए (कार्य) आप अपने मुक्के को आगे की ओर बढाते है (कारण), खाने को मुँह मे डालने के लिए (कार्य) आप कॉटे को उठाकर मुँह की ओर ले जाते है (कारण), इत्यादि। जिस उपाधि को हम कारण कहते है वह ऐसी होती है जिसमे हम हेरफेर कर सके, पर वह पर्याप्त उपाधि नही होती, कार्य होने के लिए और भी कई उपाधियॉ चाहिए–जैसे, आपकी बॉह को स्वस्थ अवस्था मे होना चाहिए। परन्तु यद्यपि यह उस घटना की एक उपाधि है, तथापि एक कारण नही है। दैनिक जीवन मे हम कारणो और उपाधियो मे स्पष्टत भेद करते है (मिल की विपरीत धारणा के बावजूद)। किसी कार्य के होने से पहले चाहे जितनी शर्तें पूरी करनी पडे, किसी को हम तब तक कारण नही कहते जब तक उसमे हेरफेर की कोई तकनीकि (चलाने के लिए हत्था) न हो जिनके द्वारा हम कार्य को उत्पन्न कर सके।[1]

---

1 माइन्ड, 1957 मे डगलस गैस किग का लेख "कॉजेशन एण्ड रेसिपीन । गैसकिग का कारणता के बारे मे वही मत है जो कॉलिगवुड ने ऊपर उल्लिखित अपने लेख मे "कारण' का दूसरा अर्थ दिया है।

एच0एल0ए0 हार्ट और ए0एम0 हॉनोर[1] इत्यादि कुछ अन्य दार्शनिक भी कारण और उपाधि मे स्पष्ट भेद करते है, परन्तु कुछ अलग तरह से। दैनिक जीवन मे हम प्राय यह कहते है कि क ख का कारण है यद्यपि हमे बिल्कुल भी पक्का यकीन नही होता कि क के अनन्तर ख नियमित रूप से होगा और हम इस सामान्यीकरण से नही बधे होते कि ऐसा होगा ही । हम यह विश्वास कर सकते है, और है भी यह सही, कि अ द्वारा ब की नाक पर आघात किया जाना ब की नाक से खून आने का कारण था, और ऐसा यह विश्वास किए बिना कि किसी के द्वारा किसी अन्य की नाक पर आघात किए जाने के बाद सदैव उसकी नाक से खून निकलने लगता है, तथा यह जाने बिना कि आघात के बाद नियमित रूप से खून बहने के लिए आधात को कितना शक्तिशाली होना चाहिए या नाक की झिल्लियो को कितना कमजोर होना चाहिए। यह सत्य है कि हमे कुछ सामान्यीकरणो की जरूरत होती है, हालॉकि वे कामचलाऊ होते है। यदि कोई कहे कि अ की मृत्यु का कारण सूर्य-कलक थे, तो इस सबध की व्याख्या के लिए हम कोई सामान्यीकरण चाहेगे, क्योकि हमारे अनुभव मे ऐसी कोई बात नही हे जो मृत्यु को सूर्यकलको के साथ जोडे। परन्तु हम निश्चित रूप से, और सही कहते है कि कागजो से भरी रद्दी की टोकरी मे जलती हुई माचिस फेकना आग लगने का कारण है, भले ही हम यह कहना न चाहे कि जब भी कोई कागजो से भरी रद्दी की टोकरी मे जलती हुई माचिस फेकता है तब हमेशा आग लग जाएगी। हवा मे आक्सीजन का मौजूद होना और रद्दी की टोकरी मे कागज का होना आग की उपाधियॉ है (पहली निश्चित रूप से एक अनिवार्य उपाधि है, दूसरी नही), परतु उन्हे हम आग का कारण नही कहते–हम कहते है कि कारण आपका जलती माचिस को फेकना है। **गैसकिग** के अनुसार हम इसे कारण इसलिए कहते है कि इसमे हेरफेर की एक तकनीक है माचिस कोा फेकना एक ऐसा काम है जिसको करने का नतीजा आग का लगना है। परतु **हार्ट और ऑनोर** एक थोडी भिन्न व्याख्या देते है। वे कहते है कि हम घटना का कारण (मात्र उपाधियो के विपरीत) उस बात को बताते है जो प्रकृति

---

1 कॉजेशन इन दि लॉ, विशेषत अध्याय 2

के मानदड–उसकी सामान्य प्रक्रिया या उसके सामान्य व्यापार–से कुछ भिन्नता लिए होती है।

सामान्य अनुभव हमे सिखाता है कि अकेली छोड दी जाने पर चीजे जिनमे हम हेरफेर करते है पर जिनकी अपनी कोई "प्रकृति" होती है अथवा जिनका व्यवहार का एक विशिष्ट तरीका होता है, उन अवस्थाओ से भिन्न अवस्थाओ मे या उन परिवर्तनो से भिन्न रूप मे बनी रहेगी जिन्हे हम अपने हस्तक्षेप से उनमे पैदा करना सीख चुके है। यह धारणा कि कारण तत्वत वह चीज है जो घटनाओ के स्वाभाविक या सामान्य रूप से स्वय होनेवाले क्रम मे हस्तक्षेप करती है, कारण की सामान्य–बुद्धिसुलभ धारणा मे मुख्य अश है, और कम–से–कम उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी मिल तथा ह्यूम द्वारा उतनी अधिक महत्वपूर्ण बताई हुई नियत या सतत अनुक्रम की धारणा। जहाँ आदमी का हस्तक्षेप अक्षरश नही होता ऐसे प्रसगो मे भी प्राकृतिक घटना–क्रम मे आशिक नियत्रण के लिए आदमी के द्वारा जो हस्तक्षेप किया जाता है उससे सादृश्य के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि किसी घटना का कारण किसे बताना है। शाब्दिक अर्थ मे हस्तक्षेप न होते हुए भी कारण सामान्य घटना–क्रम मे किसी अतर का आना है जो परिणाम मे अतर लाता है।[1]

इस प्रकार हम कहते है कि एक जलती हुई सिगरेट आसानी से आग पकडनेवाली सामग्री मे फेक देना इमारत मे आग लगने का कारण है और इमारत का सूखा होना तथा सामग्री का दाह्य होना केवल उपाधियाँ है।

रेल–दुर्घटना मे ऐसे कारक भी होगे जैसे गाडी की सामान्य चाल, उसपर लदा सामान और उसका अपना भार तथा नियमानुसार उसका रोका जाना या चाल का तेज किया जाना। निश्चय ही ये बाते ऐसी है जो उन दोनो ही अवसरो पर समान रूप से मौजूद रहती है जब दुर्घटनाएँ होती है तथा जब वे नही होती, और यही सोचकर हम उन्हे दुघर्टना का कारण नही मानते, हालाँकि यह सत्य है कि इनके अभाव मे दुर्घटना न हुई होती। यह बात अवश्य ही साफ

1 वही, पृ0 27

है कि ऐसी बातो के उल्लेख से कोई स्पष्टीकरण नही होगा जो दुर्घटना तथा सामान्य अवस्था दोनो मे उपस्थित हो ऐसे तत्व दुर्घटना और सामान्य अवस्था के बीच वैसा कोई अतर पैदा नही करते जैसा मुडी हुई पटरी या जलती हुई सिगरेट करती है।

सामान्य स्थितियॉ वे है जो विचाराधीन वस्तु की सामान्य अवस्था या सामान्य व्यापार के अश के रूप मे विद्यमान रहती है ऐसी सामान्य अवस्थाओ मे से कुछ पर्यावरण की जानी–पहचानी, व्यापक विशेषताएँ भी होगी और उनमे से काफी अधिक न केवल दुर्घटना और सामान्य व्यापार दोनो ही मे समान रूप से विद्यमान होगी, अपितु उनका विद्यमान होना कारण की जाच करनेवालो को बहुत ही सामान्य रूप से ज्ञात भी होगा। जो बात इस तरह से असामान्य होती है वह दुर्घटना और व्यापार के यथावत् चलते रहने मे "अतर पैदा करती है।"[1]

इस प्रकार, यदि बलदेव ने विष खा लिया या उसे छुरा मार दिया गया, तो इस बात को हम उसकी मृत्यु का कारण बताते है। यदि उसकी मृत्यु की जॉच की गई और एक वकील कहे कि उसकी मृत्यु का कारण उसकी रक्त–कोशिकाओ का आक्सीजन से वचित होना है तो जज इसमे कोई दिलचस्पी नही लेगा। जो स्थिति बताई गई है वह वस्तुत मरने की सभी घटनाओ के लिए पर्याप्त उपाधि है, परतु जज वह बात नही जानना चाहता जो आदमियो के मरने के लिए आमतौर पर एक पर्याप्त उपाधि है बल्कि यह जानना चाहता है कि इस समय इस आदमी की मृत्यु का क्या कारण था। विज्ञान इस प्रश्न मे रूचि रखता है कि "किन स्थितियो मे इस प्रकार की घटनाएँ सदैव घटती है ?" परतु दैनिक जीवन मे तथा अदालती मामलो मे हमारी दिलचस्पी यह पूछने मे होती है कि "इस घटना का क्या कारण था ?" जिसको प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार इस रूप मे पूछा जा सकता है कि "यह बात क्यो हो गई, जबकि सामान्य अवस्था से यह न हुई होती ?"

1 वही, पृष्ठ 32–33
2 वही, पृष्ठ–445

तो फिर हम स्थायी उपाधियो (वे जो घटना के होने के लिए अनिवार्य होती है पर जिनका घटना के होने की और न होने की दोनो ही अवस्थाओ मे अस्तित्व होता है) का भेदक उपाधियो (वे जो उसमे हुआ है और 'सामान्य व्यापार" मे अतर पैदा करती है) से अतर करते है। परतु परिस्थिति की वह विशेषता जिसे हम कारण कहते है कुछ अस्थिर होती है तथा इस बात पर निर्भर होती है कि हम स्थायी उपाधियॉ किन्हे मानते है। उदाहरण के लिए एक आदमी जिसके पेट मे व्रण है एक दिन मसालेदार खाना खाता है और उसे दर्द का तेज दौरा पड जाता है। उसकी पत्नी दौरे का कारण इस बात को बताएगी कि उसने मसालेदार खाना खाया, जो डाक्टर बुलाया जाता हे वह व्रणो को कारण बता सकता है। दोनो ही सही है, पर दोनो अवस्थाओ मे स्थायी उपाधियॉ कुछ भिन्न है। पत्नी यह पूछ रही है कि "व्रणो के पहले से रहते हुए, आज ही क्यो उसे दौरा पडा जबकि आमतौर पर उसे दौरा नही पडता ?" और इसका उत्तर यह है कि उसने मसालेदार खाना खाया था। परतु डाक्टर यह पूछ रहा है कि "मसालेदार खाना खाने के बाद इस आदमी को दौरा क्यो पडा जबकि अन्य लोगो को नही पडता ?" और इसका उत्तर यह है कि उसके पेट मे व्रण है। (अन्यो को मसालेदार खाना खाने के बावजूद दौरा नही पडेगा)। किन्हे कोई स्थायी उपाधियॉ मानेगा, यह बात सदर्भ–सापेक्ष होती है, और पत्नी का सदर्भ डाक्टर के सदर्भ से कुछ भिन्न है। एक और उदाहरण

एक कार एक स्थल पर मोड लेती हुई फिसलती है, उलट जाती है और उसमे आग लग जाती है। चालक के दृष्टिकोण से दुर्घटना का कारण बहुत तेज रफ्तार से मोड लेना था, और इससे यह सबक मिलता है कि अधिक सावधानी के सॉथ कार चलानी चाहिए। जिला–सर्वेक्षक के दृष्टिकोण से कारण सडक की सतह का दोषपूर्ण होना था, और सबक यह मिलता है कि सडको को ऐसी बनाया जाना चाहिए जिनमे फिसलन न हो। मोटर–निर्माता के दृष्टिकोण से कारण डिजाइन का दोषपूर्ण होना है, और सबक यह मिलता है कि गुरुत्व–केन्द्र को और भी नीचे रखा जाना चाहिए।[1]

1 आर0जी0कॉलिगवुड, आन दि सो–कॉल्ड आइडिया ऑफ कॉजेशन (मॉरिस द्वारा सपादित पूर्वोद्धृत ग्रथ मे, पृ0 306 पर)

परन्तु **हार्ट–हॉनोर** मत के अनुसार यह सही नही हे कि कारण सदैव कोई बात होती है जिसे हम करते है। जब जो बात हम करते है वह "मानक से विचलित होना" होता है, जैसा कि प्राय होता भी है, तभी वह कारण होती है, और ऐसे विचलन प्रकृति मे प्राय मनुष्य के किए बिना भी होते है, जैसे तब जब हम कहते हैकि बिजली गिरने से आग लग गई या बादल के गजरने से मवेशियो मे भगदड मच गई।

इन मतो की ये आलोचनाएँ सभव है– (1) कारणता की ये व्याख्याएँ स्वय कारणपरक भाषा से ओतप्रोत है। ह्यूम और मिल ने कम–से–कम यह प्रयत्न तो किया था कि "कारण" की परिभषा मे ऐसे शब्दो का प्रयोग हो जो स्वय कारणपरक न हो। परतु हेरफेर करना किसी तरह का कार्य उत्पन्न करना है, "हेरफेर की तकनीक" या "चलाने का हत्था इस प्रकार स्वय एक कारणपरक पद है जिसका "कारण" की परिभाषा मे चक्रक–दोष से बचते हुए प्रयोग नही किया जा सकता। फिर, **कॉलिगबुड** ने "कारण" का जो सकल्पपरक अर्थ बताया है उसमे कार्योत्पादन का प्रेरित करना, अनुनय करना इत्यादि से अभेद बताया गया है, जो कि सब कार्योत्पादन के रूप है। अच्छा होगा कि हम रूककर जरा विचार कर ले कि प्रतिदिन कितने ऐसे शब्दो का हम प्रयोग करते है जिनके मूल मे कारण का सप्रत्यय पहले से ही वर्तमान रहता है "काटना" का अर्थ है काट को अस्तित्व मे लाने का कारण बनना, "बदलना' का अर्थ है परिवर्तन के होने का कारण बनना, "तोडना" टूट का कारण बनना है, "छोडना" का अर्थ है ऐसे कामो मे लगना जिनके फलस्वरूप कोई व्यक्ति या वस्तु छूट जाती है, इत्यादि। "कारण" सामान्य शब्द है, लेकिन इसके विशेष रूपो या कार्योत्पादन के विशेष तरीको के लिए हमारे पास अन्य शब्द है, और इनका हम "कारण" कारण की परिभाषा मे चक्रकता–दोष के बिना प्रयोग नही कर सकते।

(11) हेरफेर वाली व्याख्या के अनुसार कारण होना कोई ऐसा काम करना है जिसका परिणाम कार्य हो ("परिणाम" एक कारणपरक शब्द है यदि क ख का कारण है तो क का परिणाम ख है)। परतु हम प्राय उन प्रसगो मे भी

कारण और कार्य की बात करते है जिनमे कुछ भी ऐसा नही होता जिसे हम कार्योत्पत्ति के लिए कर सके। हम न केवल गोला–बारूद के कारखाने मे विस्फोट होने के कारण के बारे मे बात करते है अपितु करोडो–अरबो प्रकाश–वर्ष की दूरी पर किसी अधिनबतारे (सुपर्नोवा) मे होने वाले विस्फोट के कारण के बारे मे भी। इस दूसरे प्रसग मे हम बिल्कुल तटस्थ द्रष्टा ही बने रह सकते है– कोई ऐसा हत्था नही हो सकता जिसको चलाकर हम कोई सबधित परिवर्तन पैदा कर सके। हम कहते है कि हम पानी के एक बर्तन को अधिक ऊँचे तापमान मे रखकर जिससे उसकी बर्फ पिघल जाए, उसके पानी के स्तर को ऊँचा करते है, परतु हम यह भी कहते है कि उत्तरी ध्रुव के सागरो मे बर्फ का पिघलना सभव है जो पृथ्वी के महासागरो मे जल के स्तर के बढ जाने तथा फलत तटवर्ती नगरो मे बाढ आने का कारण बनेगा। ऐसा लगता है कि हेरफेर के लिए एक हत्था होने या न होने से कोई फर्क नही पडता। निश्चय ही कोई यह कह सकता है कि "हेरफेर की तकनीक" मूल अर्थ है और उत्तरी ध्रुव के सागरो तथा सुपर्नोवा इत्यादि के उदाहरण उसके विस्तार है– कि विस्तृत अर्थ सादृश्य के आधार पर मूल अर्थ से निकलता है और मूल अर्थ मे हेरफेर की तकनीकी शमिल है। परतु यदि ऐसा है तो "कारण" का यह विश्लेषण उसे उसकी स्वकीय विशेषता के काफी बडे अश से वचित कर देता है, क्योकि अब "कारण" जो काम हम कर सकते है या जो हेरफेर हम कर सकते है उसी तक सीमित नही रहता।

(111) इसी प्रकार के सवाल कारणता की मानक–से–विचलन वाली व्याख्या को लेकर भी उठाए जा सकते है। यह सत्य है कि दैनिक जीवन मे हम प्राय मानक से विचलन होने की अवस्थाओ के बारे मे प्रश्न पूछते है जब इमारत जलकर धराशयी हो जाती है तब हम पूछते है कि आग का क्या कारण था, पर जब वह बिना कुछ हुए खडी रहती है तब हम नही पूछते कि वह खडी क्यो है। लेकिन हम यह पूछ भी सकते है। वैज्ञानिक वह है जो अनुभव के सबसे साधारण और सुपरिचित तथ्यो के बारे मे कारण–सबधी प्रश्न पूछता है डबल रोटी के फूलने का क्या कारण है ? लोहे पर जग लगने का क्या कारण

है ? पृथ्वी के सूर्य की परिक्रमा करने का क्या कारण है ? रात मे चन्द्रमा के कुछ देर से निकलने और तारो के जल्दी उदय का क्या कारण है ? ऐसे असख्य प्रश्न उन बातो को लेकर पूछे जा सकते है जो मानक से विचलन की अवस्थाएँ किसी तरह नही है बल्कि इसके बजाय बिल्कुल सामान्य घटनाएँ है और प्राय किसी भी अपवाद के बिना होती रहती है।

इस आक्षेप का एक उत्तर यह सभव है प्रश्न को सदैव इस तरह रखा जा सकता है कि प्रश्नाधीन घटना एक अन्य मानक से विचलन का रूप ले ले। मान लजिए कि एक बालक जिसने डबल रोटी को फूलते देख है पूछता है कि आटा फैलता क्यो है? उत्तर यह है कि उसमे खमीर होता है। यह कारण सामान्य है, असामान्य नही, परतु प्रश्न को निश्चय ही यह रूप दिया जा सकता है कि "इस चीज के आकार मे फैलने का क्या कारण है जबकि अन्य चीजे नही फैलती ?" और इसका उत्तर होगा "क्योकि इसमे खमीर है जबकि अन्य चीजो मे नही है।" यदि खमीर का न होना मानक है तो किसी ऐसी चीज के बारे मे उत्तर देना जिसमे खमीर हो एक ऐसा उत्तर है जिसमे इस मानक से विचलन शामिल है। अथवा यदि वह बालक जिसने गेद के पडने से खिडकी के टूटने की घटना देखी है, पूछता है कि इसका कारण क्या है (गेद के जोर से खिडकी का टूटना एक बहुत ही आम घटना है), तो हम उसके प्रश्न को इस रूप मे ले सकते है कि "गेद खिडकी के पार कैसे निकल गई जबकि वह ईंटो की एक दीवार और अधिकतर अन्य ठोस चीजो के पार नही निकलती ?" और तब हम इसका उत्तर यह कहकर दे सकते है कि खिडकी शीशे की है और शीशा भगुर होता है जबकि अधिकतर अन्य ठोस चीजे भगुर नही होती। इस चीज के होने या इस प्रकार की घटना तथा अन्यो मे वैषम्य दिखाने के लिए हमे सदैव कोई आधार मिल सकता है।

परतु प्रश्न को सदैव इस प्रकार दूसरे शब्दो मे रखने की प्रक्रिया रो कि वह इस प्रकार की घटना और अन्य घटनाओ के बीच जो अतर हे उसका कारण बताने की प्रार्थना का रूप ले ले, हमे लाभ ही क्या हुआ ? इससे सिद्धात तो बच जाता है, पर केवल उसका इस तरह विस्तार करके ही कि जिससे

उसकी वह स्वकीय विशेषता नष्ट हो जाती है जो प्रारभ मे उसमे थी। इस सिद्धात के समर्थन मे पहले जो उदाहरण दिए गए थे वे एक मानक से विचलन के सच्चे उदाहरण थे, परतु जो उदाहरण अभी–अभी दिए गए है उन्हे केवल अत्यधिक प्रयत्न और कष्ट से ही किसी–मानक–से–विचलन के उदाहरणो मे बदला जा सकता है, क्योकि वे सब किसी भी साधारण अर्थ मे सामान्य प्रक्रिया अथवा सामान्य व्यापार के ही उदाहरण है। और यह तथ्य फिर भी बना रहता है कि हम इनके भी कारण पूछ सकते है। यह कहना कि ये सब एक मानक से विचलन के अर्थात् अन्य चीजो से विषमता रखने के उदाहरण है, एक सिद्धात को तो बचा देता है पर इन प्रश्नो के उद्देश्य को समाप्त कर देता है। जब हम यह पूछते है कि बर्फ के पिघलने या लोहे पर जग लगने का क्या कारण है, तब एक बिल्कुल ही सामान्य प्रक्रिया, "प्रकृति के काम करने के एक सामान्य तरीके" के बारे मे प्रश्न पूछ रहे होते है और इस तथा अन्य चीजो के बीच रहनेवाला कोई वैषम्य उसमे विवक्षित नही होता–हालॉकि ऐसे वैषम्य सदा ही ढूँढ निकाले जा सकते है।

(IV) इन सिद्धान्तो की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि ये कारणता को सतत सयोजन मानने वाले किसी भी अपरिष्कृत सिद्धात का बिल्कुल ही अपर्याप्त होना सिद्ध कर देते है। दैनिक जीवन मे "क ख का कारण है।" इस बात का समानार्थक नही है कि "क के अनतर सदैव ख होता है।" हम यह कह सकते है और यह सत्य भी होगा कि "आजकल डिप्थीरिया मौत का कारण बहुत कम होता है" परन्तु यह कथन इस कथन से सगति नही रखता कि "जब हम यह कहते है कि डिप्थीरिया मौत का कारण है तब हमारा मतलब यह होता है कि डिप्थीरिया के बाद सदैव मौत होती है।"

फिर भी, क्या यह सचमुच मिल के कारण–सबधी मत की आलोचना है ? मिलने इस बात से इन्कार न किया होता कि डिप्थीरिया से कभी–कभी मौत होती है और कभी–कभी नही होती। वह होती है या नही होती, यह बात कई बातो पर निर्भर करती है, जैसे सक्रमण की मात्रा और सक्रमण से पहले रोगी का स्वास्थ्य। परतु मिल ने यह भी नही कहा होता कि डिप्थीरियामौत का

कारण है। बहुत–सी बाते कारण मे शामिल है, और यदि एक रोगी की मोत होती है जबकि दूसरे की नही होती तो इसकी वजह यह है कि कारणात्मक उपाधियॉ (इस तथ्य के अतिरिक्त कि उसे रोग का सक्रमण हो गया था) भिन्न थी। मिल कहता है कि सब कारणात्मक उपाधियॉ वही हो तो कार्य सदा ही होगा। केवल यही वह अर्थ है जिसमे "यदि क ख का कारण है तो क के अनतर ख सदैव होता है" कहना सत्य होता है। दैनिक जीवन मे (जैसाकि हम पहले देख चुके है) हम प्राय ऐसे बात करते है जैसे कि कारणात्मक उपाधियो मे से एक पूरा ही कारण हो, परतु यदि हम ऐसा करते है तो यह कहना सत्य नही होगा कि "यदि यह कारक उपस्थित है तो कार्य सदैव होगा" क्योकि एकरूपता (कारण के वही होने पर कार्य सदैव वही होगा) केवल कार्य तथा सब कारणात्मक उपाधियो के सबध मे ही होती है।

वास्तव मे यह प्रश्न कि "क्या प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है?"–जो कि अगले परिच्छेद का विषय है–केवल कारणता के मिल के जैसे मत के प्रसग मे ही उठता है। (1) यदि कारण सदैव एक मानक से विचलन के रूप मे होता है तो प्रत्येक घटना का कारण होना जरूरी नही है, क्योकि प्रत्येक घटना ऐसी नही हो सकती कि वह किसी मानक से विचलन हो ही। यदि प्रत्येक घटना एक विचलन हो तो मानक होगा ही क्या ? (2) यदि हम पूछे कि "क्या प्रत्येक घटना जो घटती है, हेरफेर वाली किसी ऐसी तकनीक से युक्त होती है जिससे वह पैदा की जए ?" तो उत्तर स्पष्टत "नही" होगा, बशर्ते "हेरफेर की तकनीक" का हम इस तरह अर्थ–विस्तार न कर दे कि इसमे उनसे कही अधिक बाते शामिल हो जाएँ जिन्हे इसमे शामिल करना मूल उद्‌देश्य था। सूर्य–ग्रहण, सुपर्नोवा के विस्फोट विषव–अयन, अथवा वस्तुत किसी भी अन्य खगोलीय घटना मे तथा अनेक पार्थिव घटनाओ मे कोई भी हेरफेर वाली तकनीक शामिल नही होती।

☆☆☆

अध्याय–८

प्राचीन और आधुनिक मत

पाश्चात्य दर्शन का प्रारम्भ थेलीज के जलदर्शन से होता है, जिसके अनुसार जगत की समस्त वस्तुओ का मूल या उपादान, जल है। इसी से सभी वस्तुओ की उत्पत्ति होती है और अन्तत ये सभी वस्तुये इसी जल' मे विलीन हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह हे कि जैसे ही थेलीज जल को जगत के मूल कारण के रूप मे स्वीकार करता है, वैसे ही जाने–अनजाने कारणता की अवधारणा प्रस्तुत हो जाती है। किन्तु प्राचीन पाश्चात्य दर्शन (ग्रीक दर्शन) मे कारणता का एक सिद्धान्त के रूप मे विवेचन सर्वप्रथम अरस्तू के दर्शन मे ही देखने को मिलता है। इसप्रकार प्राचीन पाश्चात्य दर्शन मे हम केवल अरस्तु के कारणता–विषयक मत की विवेचना करेगे।

किन्तु आगे चलकर एक लम्बे अन्तराल के बाद आधुनिक पाश्चात्य दर्शन मे इस समस्या (कारणता सिद्धात) को लोकप्रिय बनाने का श्रेय ह्यूम को जाता है। ह्यूम की विवेचना के उपरान्त इस समस्या पर वैचारिक बहस दर्शन मे ही नही, वरन् विज्ञान मे भी प्रारम्भ हो गयी। वस्तुत इसके पीछे मूलकारण यह था कि ह्यूम ने कार्य व कारण के बीच किसी प्रकार के अनिवार्य सम्बन्ध की स्थिति का निराकरण किया। इसप्रकार ह्यूम का कारणता विषयक मत आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की एक बडी घटना है, जिसने महान चिन्तक काण्ट को मोहनिद्रा से जगा दिया। फलस्वरूप काण्ट ह्यूम के दृष्टिकोण का खण्डन करते हुये कारणता- का एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उल्लेखनीय है कि ह्यूम की ही परम्परा मे मिल नामक दार्शनिक आये जो ह्यूम के दर्शन की कुछ कमियो को दूर करते हुये अपने विचारो का प्रतिपादन किये। इसप्रकार हम आधुनिक पाश्चात्य दर्शन मे **ह्यूम, मिल** और **काण्ट** के कारणता सिद्धात की व्यापक विवेचना प्रस्तुत करेगे।

ध्यातव्य है कि अरस्तू का कारणता सम्बन्धी विचार, अन्य पाश्चात्य दार्शनिको की अपेक्षा, भारतीय मत के अधिक निकट है। वास्तव मे अरस्तू और

भारतीय दार्शनिक–दोनो ही कारण व कार्य के बीच के उपादानात्मक सम्बन्ध को स्वीकारते है, जबकि अन्य पाश्चात्य दार्शनिक कारण व कार्य के बीच केवल सम्बन्ध–परक विवेचना ही प्रस्तुत करते है।

अब प्रश्न उठता है कि कारणता सिद्धात की मूल समस्या क्या हे ? इस सदर्भ मे हम सभी सामान्यतया यह जानते है कि–

"प्रत्येक घटना का कोई–न–कोई कारण होता है (Every event has a cause)" और यह एक ऐसी मूलभूत वैज्ञानिक मान्यता है जिसे साधारण व्यक्ति भी करीब–2 निरपवाद रूप मे स्वीकार करता है। जैसा कि हम जानते है कि वैज्ञानिक जिन बातो को एक मान्यता के रूप मे स्वीकार कर लेता है, दर्शन उनकी भी छानबीन करता है। इसलिए दार्शनिक यहॉ भी विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट रूप से समझना चाहता है कि आखिर यह कहने का वास्तविक अर्थ क्या है कि प्रत्येक घटना का कोई–न–कोई कारण होता है। फिर, कारण से आखिर क्या तात्पर्य है? किसे हम किसी घटना का कारण कहते है ? कारण मे और घटना मे, जिसे साधारणत कार्य (Effect) कहा जाता है, किस प्रकार का सम्बन्ध होता है ? आदि कई तरह के प्रश्न दार्शनिक के मन मे इस सम्बन्ध मे उठते है जिनका सही उत्तर वह ढूँढना चाहता है। इस सम्बन्ध मे अनेको दार्शनिको ने अपने–अपने मत व्यक्त किये है, परन्तु हम यहॉ चार वैसे मतो को उपस्थित करेगे जो दर्शन मे अपना विशिष्ट महत्त्व रखते है।
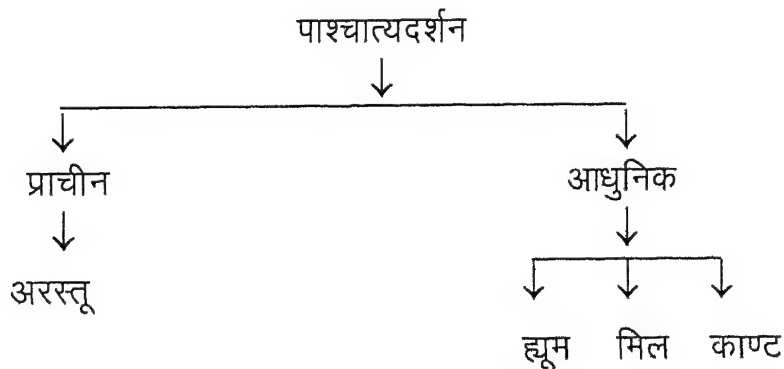
8 1 अरस्तू का मत – सामान्यत जब कभी भी हम किसी घटना क को किसी अन्य घटना 'ख' का कारण मानते है तो ऐसा समझा जाता है कि 'क' तथा 'ख' मे एक ऐसा सम्बन्ध है कि 'क' के उपस्थित होने से 'ख उत्पन्न होता है। इस प्रकार कारण की धारणा आम तौर पर किसी घटना के किसी अन्य घटना की उत्पत्ति की धारणा से सम्बद्ध है। जिससे उत्पत्ति होती है उसे कारण तथा जो उत्पन्न होता है उसे कार्य कहते है। इसी अर्थ मे बादल को वर्षा का, विष को मृत्यु का, ठडक को बीमारी का कारण मानते है। अरस्तू की कारण सम्बन्धी धारणा भी सामान्यत चीजो या घटनाओ की इसी उत्पत्ति–विषयक धारणा के साथ ही सम्बद्ध है, परन्तु फिर भी कारण–सम्बन्धी उनकी धारणा साधारण धारणा से एक महत्त्वपूर्ण रूप मे भिन्न है। कारण की साधारण धारणा इस सम्बन्ध की वैज्ञानिक धारणा से मिलती–जुलती है। विज्ञान चीजो या धटनाओ के सम्बन्ध मे उत्पत्ति–विषयक प्रश्न सिर्फ इस दृष्टि से उठाता है कि उसकी उत्पत्ति कैसे हुई अर्थात् किन–किन पूर्ववर्तियो ने उसे उत्पन्न किया। समय की दृष्टि से पहले आनेवाली वह घटना (या वे घटनाएँ) जो किसी अन्य घटना को उत्पन्न करती है, उस अन्य घटना का कारण समझी जाती है (या समझी जाती है)। परन्तु अरस्तू एक दार्शनिक थे और इसलिए उनका कारण सम्बन्धी धारणा भी दार्शनिक है जिसके अन्तर्गत चीजे या घटनाओ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे 'कैसे?' प्रश्न के अलावा 'क्यो?' प्रश्न भी निहित है। अर्थात् अरस्तू जब किसी घटना की उत्पत्ति के कारण की बात करते है तो वे इस सम्बन्ध मे इन दोनो ही प्रश्नो का समाधान चाहते है कि उस घटना की उत्पत्ति कैसे हुई तथा क्यो हुई ? दूसरे शब्दो मे **अरस्तू की कारण सबधी धारणा मे कारण ,ब्नेमद्ध तथा ,त्मेंवदद्ध हेतु दोनो की धारणाएँ सम्मिलित है। कारण का सबध समय की दृष्टि से पूर्ववर्त्ती से होता है परन्तु हेतु का सम्बन्ध तार्किक या वैचारिक दृष्टि से पूर्ववर्त्ती से होता है जो समय की दृष्टि से पूर्ववर्त्ती नही भी हो सकता है।** आमतौर पर हेतु अथवा क्यो ? का सम्बन्ध घटना की उत्पत्ति के प्रयोजन या लक्ष्य आदि से होता है। अरस्तू दार्शनिक थे और इसलिए उनका मूल प्रश्न विश्व की उत्पत्ति विषयक समस्या को हल करना था जिसके अन्दर ये दोनो ही प्रश्न निहित थे कि विश्व की

उत्पत्ति कैसे हुई तथा क्यो हुई। इसी दृष्टि से कारण के सम्बन्ध मे उन्होने एक व्यापक सिद्धान्त दिया जो दर्शन के क्षेत्र मे बडा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

अरस्तू के अनुसार किसी चीज की उत्पत्ति के पीछे चार प्रकार के कारण होते है जिनमे से किसी एक की ही उपस्थिति से उसकी उत्पत्ति नही हो जाती बल्कि उसकी उत्पत्ति चारो का सयुक्त परिणाम होती है। ये चार कारण है– (1) उपादान कारण (Materıal cause), (2) निमित्त कारण(Efficıent cause), (3) आकारिक कारण (Formal cause) तथा (4) प्रयोजन कारण (Fınal cause)। इनमे से प्रथम दो कैसे ?' प्रश्न का उत्तर देते है तथा शेष दो 'क्यो ?' प्रश्न का। विज्ञान की दृष्टि से सिर्फ प्रथम दो को ही कारण की सज्ञा दी जानी चाहिये, परन्तु अरस्तू चारो को ही कारण के अन्तर्गत लेते है।[1] अब हम एक–एक कर देखे कि अरस्तू इन कारणो से क्या समझते है।

(1) उपादान कारण– किसी भी वस्तु के निर्माण मे जिस उपादान या कच्चे माल (Raw materıal) का व्यवहार होता है उसे ही उसका उपादान कारण कहते है। उदाहरण के लिए घडे के निर्माण मे मिट्‌टी, कुर्सी के निर्माण मे लकडी तथा कपडे के निर्माण मे धागा उपादान कारण है। उसी प्रकार विश्व की उत्पत्ति सम्बन्धी यदि वैज्ञानिक विचारधारा को स्वीकार करे तो कह सकते है कि भौतिक तत्त्वो के परमाणु (Atoms) इसके उपादान कारण है।

(2) निमित्त कारण–उपादान मे शक्ति या गति प्रदान कर उसमे जो परिवर्तन लाता है उसे ही किसी वस्तु की उत्पत्ति का निमित्त कारण कहते है। उपादान मे इस परिवर्तन के द्वारा ही किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिए घडे के निर्माण मे कुम्हार, कुर्सी के निर्माण मे बढई तथा कपडे के निर्माण मे जुलाहा निमित्त कारण है। वस्तुत इसी निमित्त कारण के द्वारा दी गई शक्ति या गति के द्वारा उपादान कारण का कच्चा स्वरूप वस्तु मे

---

1 तत्वमीमॉसा एव ज्ञानमीमॉसा, केदारनाथ तिवारी, पृष्ठ–144

परिवर्तित होता है। विज्ञान के अनुसार सर्वत्र व्याप्त गति (motıon) तथा ईश्वरवादी विचारो के अनुसार ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है।

(3) आकारिक कारण– किसी भी वस्तु का विश्लेषण करने पर उसमे हमे दो चीजे मिलती है–एक तो उसकी विषय–वस्तु (content) तथा दूसरा आकार (Form)। घडे तथा मूर्ति की विषय–वस्तु एक ही है परन्तु आकार भिन्न–भिन्न है। उसी प्रकार कुर्सी तथा मेज मे निहित धातु या कच्चा माल एक ही है– लकडी, परन्तु दोनो के आकार भिन्न–भिन्न है। यह आकार भी किसी वस्तु की उत्पत्ति का कारण होता है और वह इस अर्थ मे कि निमित्त कारण के अन्तर्गत जो कच्चे माल को एक निश्चित रूप या आकार मे ढालने की प्रेरणा होती है उसी के चलते वह कच्चे माल को एक खास दिशा मे मोडता है। कच्चे माल को एक निश्चित दिशा मे गति प्रदान करनेवाला यह आकार ही होता है। जो निमित्त कारण के मन के अन्दर मौजूद रहता है। इस निश्चित रूप या आकार को ही वस्तु का आकारिक कारण कहते है। एक ही उपादान लकडी से कभी कुर्सी और कभी मेज बनाये जाने का कारण यह आकारिक कारण ही होता है। वास्तव मे प्लेटो के प्रत्ययो का दर्शन हमे अरस्तू के आकारिक कारण मे होता है।[1]

(4) प्रयोजन कारण–किसी वस्तु के निर्माण के पीछे जो प्रयोजन अथवा लक्ष्य होता है और जिसकी पूर्ति वस्तु के निर्माण के द्वारा हो जाती है, उसे ही उस वस्तु का प्रयोजन–कारण कहते है। इसप्रकार वस्तु का प्रयोजन–कारण् ही उसके निर्माण की सारी क्रिया को एक निश्चित दिशा मे प्रेरित करता है। कोई भी मूर्ति या कुर्सी आदि जिस अन्तिम रूप मे बनकर तैयार

---

1 ए क्रिटिकल हिस्ट्री आफ ग्रीक फिलोसोफी, पृष्ठ–269

होती है, वही उसके निर्माण का प्रयोजन–कारण है, चूँकि उसी की ओर, उसी की सिद्धि के लिए सारी क्रिया प्रेरित थी।

कारणो के विश्लेषण के सिलसिले मे और आगे चलकर अरस्तू ने इन चार कारणो को दो ही मौलिक कारणो के रूप मे परिवर्तित कर दिया– उपादान तथा आकारिक। उन्होने कहा कि ठीक से देखने पर आकारिक तथा प्रयोजन–कारण एक ही सिद्ध हो जाते है। सचमुच किसी वस्तु का आकार ही उसका वह सार–रूप है जिसमे निमित्त कारण उपादान को ढालना चाहता है। इसलिए मूल रूप से किसी वस्तु के निर्माण का प्रेरक उसका आकार ही होता है जिनके रूप मे अन्तिम रूप से ढलकर वस्तु सामने आती है। इसलिए प्रयोजन कारण तथा आकारिक कारण मूलत एक ही सिद्ध होते है। उसी प्रकार निमित्त कारण भी एक सूक्ष्म दृष्टि से आकारिक कारण से भिन्न नही है। स्थूल रूप मे तो घडे के निर्माण मे निमित्त रूप कुम्हार नजर आता है क्योकि निर्माण–क्रिया मे गति वही प्रदान करता है परन्तु इस गति का मूल स्रोत कहाँ है ? मूल स्रोत तो कुम्हार के मस्तिष्क मे बने घडे के उस नक्शे, प्रारूप या आकार मे है जिसमे वह कच्ची मिट्टी को ढालना चहता है। इसलिए वास्तविक निमित्त कारण भी वही है जो आकारिक कारण है। इस प्रकार मौलिक रूप मे किसी वस्तु के निर्माण के पीछे दो ही कारण बच जाते है–उपादान (Materıal) तथा आकारिक (Formal)।

हमने ऊपर कहा है कि कारण के उपर्युक्त प्रकार के विश्लेषण के पीछे अरस्तू का मूल लक्ष्य था विश्व की वस्तुओ की एक व्यापक दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करना। और यह काम उन्होने यह बतलाकर किया कि किसी वस्तु के निर्माण मे दो ही मूल तत्त्व है–उसका द्रव्य (Matter) तथा उसका आकार (Form)। द्रव्य (Matter) को उन्होने मात्र सभावना (Possıbılıty) की सज्ञा दी तथा आकार को वास्तविकता (Actualıty) की। इसलिए किसी भी वस्तु के निर्माण का अर्थ है मात्र सभावना का वास्तविकता मे परिवर्तन। इसलिए किसी

भी निर्माण का मूल प्रेरक अथवा लक्ष्य उसका आकार हे। सभावना से वास्तविकता मे परिवर्तित होना ही किसी भी निर्माण का लक्ष्य है।[1]

ज्ञातव्य है कि कारण सम्बन्धी अरस्तू की उपर्युक्त धारणा इस सम्बन्ध की आधुनिक वैज्ञानिक धारणा से महत्त्वपूर्ण रूप मे भिन्न है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से अरस्तू के चार प्रकार के कारणो मे से सिर्फ प्रथम दो, यानी उपादान तथा निमित्त कारणो की किसी घटना के कारण के अन्दर सम्मिलित किया जा सकता है, परन्तु आकारिक एव प्रयोजन कारणो का तो वहॉ कोई स्थान ही नही है। उपादान (Matter) तथा गति या शक्ति (Motion) के रूप मे विज्ञान किसी भी घटना या वस्तु की उत्पत्ति के दो कारण मान सकता है। इनमे से पहला अरस्तू का उपादान कारण तथा दूसरा उनका निमित्त कारण कहा जा सकता है। परन्तु निमित्त कारण की भी वैज्ञानिक धारणा अरस्तू की धारणा से एक अर्थ मे भिन्न है। अरस्तू की निमित्त कारण की धारणा एक मन (Mind) से सम्बन्धित है और उनके अनुसार उपादान को गति देने वाली शक्ति का मूल स्रोत वह मन है जहॉ वस्तु के निर्माण का सारा आकार लक्ष्य आदि मौजूद रहता है, परन्तु निमित्त कारण की वैज्ञानिक धारणा मे ऐसे किसी मन का कोई स्थान नही है। यदि कोई निमित्त कारण है तो वह गति, जो एक यान्त्रिक शक्ति है और जो किसी मन आदि से सम्बद्ध नही है।

कारण की आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणा का एक नमूना मिल आदि विचारको के इस मत मे मिलता है कि कारण किसी घटना का नियत, अनौपाधिक पूर्ववर्ती (invariable, unconditional antecedent) है। इसमे अन्य बातो के अलावा एक प्रमुख बात यह है कि कारण को पूर्ववर्ती होना चाहिए, यानी कारण वही है जो कार्य (Effect)से समय की दृष्टि से पहले आता है। इस परिभाषा के अनुसार सिर्फ उपादान तथा निमित्त कारण ही कारण कहे जा सकते है क्योकि वे ही समय की दृष्टि से उत्पन्न कार्य के पहले आते है। कार्य के आकार तथा लक्ष्य (यानी आकारिक एव प्रयोजन कारण) समय की दृष्टि से उससे पहले नही आते बल्कि विचार मे अथवा वैचारिक दृष्टि से, पहले

---

1 वही, पृष्ठ, 146

आते है। बल्कि वे समय की दृष्टि से तो पीछे आते है, क्योकि घडे की वास्तविक आकृति तो तब सामने आती है जब घडा सचमुच बनकर तैयार हो जाता है। ये कारण वैचारिक स्तर पर रहकर उपादान को एक निश्चित दिशा मे एक निश्चित लक्ष्य की ओर परिवर्तित होने के लिए अभिप्रेरित करते हे। विज्ञान मे इस प्रकार के कारणो के लिए कोई स्थान नही है। इसका कारण यह नही है कि विज्ञान इन कारणो को बिल्कुल निरर्थक तथा बेकार मानता है, बल्कि वास्तविकता यह है कि विज्ञान का जो स्वरूप है, उसकी खोज की जो सीमारेखा है उसका जो लक्ष्य है, उराकी परिधि के अन्दर ये कारण नही आते। सीधे शब्दो मे, ये कारण बल्कि (Cause) नही है हेतु (Reason) है ओर विज्ञान घटनाओ के सिर्फ कारण से अपना मतलब रखता है, हेतु से नही। किसी भी घटना की उत्पत्ति क्यो हुई, यह बतलाना विज्ञान का काम नही हे, और यदि है तो सिर्फ इस अर्थ मे कि घटना की उत्पत्ति कैसे अर्थात् किन–2 नियत अनौपाधिक पूर्ववर्तियो के चलते हुई। विज्ञान घटनाओ के सम्बन्ध मे 'क्यो का भी उत्तर 'कैसे' के रूप मे ही देकर सतुष्ट हो जाता है, उससे परे उसके क्षेत्र मे आता ही नही। कारण के अलावा हेतु की भी व्याख्या करना दर्शन का काम है। अरस्तू एक दार्शनिक है इसलिए घटनाओ या वस्तुओ की उत्पत्ति की व्याख्या मे कारण के साथ–साथ उनके हेतु (Reason) का भी स्पष्टीकरण वे आवश्यक समझते है। इसलिए वे कारण की अपनी अवधारणा मे उपादान तथा निमित्त कारणो के अलावा आकारिक तथा प्रयोजन कारणो को भी स्थान देते है। ऐसा करते हुए अरस्तू न तो कारण की वैज्ञानिक अवधारण की तुलना मे कोई अधिक समुन्नत और न कोई निम्नतर कोटि की अवधारणा प्रस्तुत करते है। यहॉ उच्च और निम्न का कोई प्रश्न ही नही है। कारण की दोनो ही अवधारणाऍ अपनी–अपनी जगह पर अपने–अपने क्षेत्रो के अनुरूप उचित हे। अरस्तू एक दार्शनिक की दृष्टि से कारणो की व्याख्या करते है और इसलिए कारण की वैज्ञानिक अवधारणा से उनकी भिन्नता होगी ही।[1]

---

1 तत्वमीमॉसा एव ज्ञानमीमॉसा, केदारनाथ तिवारी पृष्ठ–147

8 2 ह्यूम का मत

ह्यूम ने अपनी दोनो महत्वपूर्ण पुस्तको–**'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमैन नेचर'** तथा **'ऐन ऐन्क्वायरी कन्सरनिग ह्यूमन अन्डरस्टैडिग'**– मे कारण–कार्य सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन किया है। उनका मत है कि यह सम्बन्ध बुद्धि अथवा तर्कना पर आधारित न होकर मूलत हमारे अनुभव पर ही आधारित है। कारण–कार्य सम्बन्ध पर विचार करते हुए उन्होने सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया है कि हमे कारणता का प्रत्यय किस सस्कार से प्राप्त होता है। क्या हम उन वस्तुओ से कारणता का प्रत्यय प्राप्त कर सकते है जिन्हे हम कारण' कहते है ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हुए ह्यूम ने कहा हे कि ' कारण मानी जाने वाली वस्तुओ मे कोई ऐसा सामान्य गुण नही है जिसके आधार पर हम उनसे कारणता का प्रत्यय प्राप्त कर सके। दूसरे शब्दो मे, जिन वस्तुओ को हम कारण मानते है उनसे हम तर्क अथवा अनुभव द्वारा कारणता का प्रत्यय प्राप्त नही कर सकते। इस प्रकार ह्यूम के विचार मे कारणता का प्रत्यय 'वस्तुगत नही है। उनका कथन है कि "कारणता का प्रत्यय हमे वस्तुओ मे विद्यमान किसी सम्बन्ध से ही प्राप्त हो सकता है।"[1] यहा स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि वस्तुओ मे विद्यमान किस सम्बन्ध से हम कारणता का प्रत्यय प्राप्त कर सकते है। इस प्रश्न के उत्तर मे ह्यूम ने तीन सम्बन्धो का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित है–(1) दैशिक दृष्टि से वस्तुओ का सामीप्य, (2) कालिक दृष्टि से वस्तुओ मे विद्यमान पौर्वापर्य का क्रम तथा (3) अनिवार्यता का सम्बन्ध। अब हम कारणता के प्रत्यय को उत्पन्न करने वाले इन तीनो सम्बन्धो के विषय मे ह्यूम के मत पर विचार करेगे।

जब हम किन्ही दो वस्तुओ या घटनाओ मे से एक को कारण तथा दूसरी को कार्य मानते है तो वे सामान्यत एक दूसरे के समीप होती है, अत कारण और कार्य मे प्रथम सम्बन्ध सामीप्य का सम्बन्ध है। इसका अर्थ यह है कि दैशिक दृष्टि से कारण और कार्य सामान्यत समीपस्थ होते है। यह सामीप्य

1 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर, पृ0 75

प्रत्यक्ष अथवा व्यवधानरहित भी हो सकता है ओर परोक्ष या व्यवधानयुक्त भी। जब एक लुढकती हुई गेद दूसरी स्थिर गेद को आगे धकेल देती है तो इन दोनो गेदो मे व्यवधानरहित सामीप्य का सम्बन्ध स्पष्ट है। जब कोई घटना क किसी दूसरी घटना घ' को प्रत्यक्षत उत्पन्न न करके कुछ अन्य घटनाओ– ख ग' आदि– के माध्यम से उत्पन्न करती है तो प्रथम और अतिम घटना मे परोक्ष अथवा व्यवधानयुक्त सामीप्य होता है। इस प्रकार के सामीप्य क अतर्गत मध्यवर्ती घटनाओ की एक श्रृखला होती है जो प्रथम घटना और अतिम घटना को कारण–कार्य के रूप मे परस्पर सम्बद्ध करती हे। स्पष्ट हे कि ऐसी स्थिति मे कार्य कारण से प्रत्यक्षत सम्बद्ध न होते हुए भी उससे परोक्षत अवश्य सम्बद्ध होता है। परन्तु यहॉ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक हे कि ह्यूम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष दैशिक सामीप्य को कारण–कार्य के सम्बन्ध के लिए अनिवार्य नही मानते। उनका कथन है कि कोई दो वस्तुऍ एक–दूसरे के निकट हो सकती है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वे दोनो अनिवार्यत कारण–कार्य के रूप मे सम्बद्ध होगी। उदाहरणार्थ हमारे मनोवेगो तथा विचारो से कारण–कार्य का सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु उनमे किसी प्रकार का दैशिक सामीप्य नही हो सकता, क्योकि अभौतिक होने के कारण वे स्थान नही घेरते। अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "नैतिक विचार को मनोवेग के दाए अथवा बाए नही रखा जा सकता, न ही कोई गध अथवा ध्वनि गोल या चौकोर हो सकती है।[1] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार सामान्यत कारण–कार्य मे दैशिक सामीप्य का सम्बन्ध होते हुए भी उसके लिए यह सम्बन्ध अनिवार्य नही है।

कारण और कार्य मे दूसरा सम्बन्ध कालिक नियतक्रम अथवा पौर्वापर्य का सम्बन्ध है। जब कोई कारण किसी कार्य को उत्पन्न करता है तो वह सदैव और अनिवार्यत उस कार्य का पूर्ववर्ती होता है। ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि काल की दृष्टि से कारण का अपने कार्य से पहले आना अनिवार्य है। हमारा अनुभव इस बात की पुष्टि करता है कि कारण अपने कार्य का सहवर्ती न होकर सदा पूर्ववर्ती ही होता है। जब एक लुढकती हुई गेद दूसरी स्थिर गेद से टकराकर

---

1 वही पुस्तक, पृ0 236

उसमे गति उत्पन्न करती है तो हली गेद मे दूसरी गेद की अपेक्षा पहले गति उत्पन्न होती है। इस प्रकार कालिक नियत क्रम अथवा पौर्वापर्य का सम्बन्ध कारण–कार्य के सम्बन्ध के लिए आवश्यक है। परन्तु ह्यूम के विचार मे कारण–कार्य के सम्बन्ध को समझने के लिए पौर्वापर्य का यह सम्बन्ध ही पर्याप्त नही है। कोई दो घटनाए एक दूसरे के बाद घटित हो सकती है किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि वे दोनो अनिवार्यत कारण–कार्य के रूप मे सम्बद्ध होगी। उदाहरणार्थ स्टेशन पर पहुँचने वाली किन्ही दो गाडियो का समय इस प्रकार नियत किया जा सकता है कि एक गाडी सदैव दूसरी गाडी से पहले पहुचे। परन्तु ऐसी स्थिति मे सदैव पहले पहुचने वाली गाडी को दूसरी गाडी का कारण नही माना जा सकता। इस प्रकार यह सम्भव है कि कोई दो घटनाए सदैव एक दूसरे के पश्चात् घटित होते हुए भी कारण–कार्य के रूप मे सम्बद्ध न हो। इसी कारण ह्यूम नियत पौर्वापर्य के सम्बन्ध को भी कारण–कार्य के सम्बन्ध के लिए दैशिक सामीप्य के समान ही अनिवार्य नही मानते। उनके मतानुसार "यह सम्भव है कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के समीप तथा पूर्ववर्ती होते हुए भी उसका कारण न हो। इन दोनो मे एक अनिवार्य सम्बन्ध का होना आवश्यक है जो पूर्ववर्णित दोनो सम्बन्धो की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण है।[1] अब हम इस अनिवार्य सम्बन्ध के विषय मे ह्यूम के मत पर विचार करेगे।

ऊपर दिये गए उद्धरण से यह स्पष्ट है कि ह्यूम कारण और कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करते है–अर्थात् वे यह मानते है कि एक विशेष कारण एक विशेष कार्य को ही सदा एव अनिवार्यत उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति मे उनके समक्ष मुख्य प्रश्न यह है कि हमे कारण–कार्य के इस अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान किस प्रकार होता है। दूसरे शब्दो मे, कारण और कार्य मे हम जो अनिवार्यता देखते है उसका प्रत्यय हमे किस सस्कार से प्राप्त होता हे ? इस प्रश्न पर ह्यूम ने बहुत विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनका मत है कि अनिवार्यता का यह प्रत्यय हमे किसी सवेदन सम्बन्धी सस्कार से प्राप्त नही हो

---

1 वही पुस्तक, पृ0 77

सकता, क्योकि कारण और कार्य मानी जाने वाली वस्तुओ मे ऐसा कोई गुण नही है जिसके द्वारा हमे उनके अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान हो सके। हम कारण और कार्य के सामीप्य तथा पौर्वापर्य को ही प्रत्यक्षत जान सकते है किन्तु इस ज्ञान के आधार पर हम निश्चयपूर्वक यह नही कह सकते कि उन दोनो मे कोई अनिवार्य सम्बन्ध है। जब हम किन्ही दो वस्तुओ को प्रथम बार कारण और कार्य के रूप मे देखते है तो हमे इस इन्द्रिय–प्रत्यक्ष के आधार पर उन दोनो मे अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान नही होता, अर्थात् हम निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि उनमे से एक विशेष वस्तु दूसरी विशेष वस्तु को सदेव ओर अनिवार्यत उत्पन्न करेगी। इस प्रकार ह्यूम के अनुसार इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा हम कारण और कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान कभी प्राप्त नही कर सकते। क्या हम अनुचितन के किसी सस्कार से कारण और कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय प्राप्त कर सकते है ? इस प्रश्न का भी ह्यूम ने नकारात्मक उत्तर ही दिया है। उनका मत है कि अनिवार्य सम्बन्ध के प्रत्यय को उत्पन्न करने वाला अनुचितन का कोई सस्कार हमारे मन मे नही है। 'हम केवल अनुभव से ही अपनी इच्छाशक्ति के प्रभाव को जान सकते है और अनुभव हमे यह बताता है कि एक घटना के पश्चात् दूसरी घटना किस प्रकार निरतर घटित होती है। इन घटनाओ को अपृथकनीय बनाने वाले किसी अनिवार्य सम्बन्ध का हमे इस अनुभव द्वारा ज्ञान नही होता। इससे हम निश्चयपूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय हमारे मन मे विद्यमान किसी भावना अथवा चेतना की अनुकृति नही है।'[1] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार कारण तथा कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय न तो हमे किसी सवेदन सम्बन्धी सस्कार से प्राप्त हो सकता है और न अनुचितन सम्बन्धी सस्कार से।

अब स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि हमे कारण और कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध क्यो प्रतीत होता है। हम यह क्यो मानते है कि कोई विशेष कारण किसी विशेष कार्य को सदैव तथा अनिवार्यत उत्पन्न करता है और भविष्य मे भी

---

1 'ऐन ऐन्क्वायरी कन्सरनिग ह्यूमन अडरस्टैडिग चार्ल्स हैडेल द्वारा सम्पादित पुस्तक 'ह्यूम–सलैक्शन्ज' मे सकलित, पृ0 150, 151

करेगा ? इस प्रश्न के उत्तर मे ह्यूम का कथन है कि केवल प्रथा अथवा आदत के कारण ही हम कारण और कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध का अनुभव करते है। जब हम किन्ही दो घटनाओ को बार–बार एक दूसरे के पश्चात् घटित होते देखते है तो हमारा मन उन घटनाओ मे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और इसी कारण उनमे से किसी एक घटना को घटित होते देखकर हम तुरन्त उससे सम्बद्ध दूसरी घटना की प्रत्याशा करने लगते है। उदाहरणार्थ अग्नि को छूने के पश्चात् हमने सदैव उष्णता का अनुभव किया है और बर्फ को छूने के पश्चात् शीतलता का। इस पूर्वानुभव के फलस्वरूप हमारे मन मे अग्नि के साथ उष्णता का और बर्फ के साथ शीतलता का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। यही कारण है कि हम जब भी अग्नि अथवा बर्फ को देखते है तो हम तुरन्त उष्णता और शीतलता की आशा करने लगते है। वस्तुत पूर्वानुभव द्वारा उत्पन्न अपनी इस आदत के कारण ही हमे अग्नि और उष्णता मे तथा बर्फ और शीतलता मे अनिवार्य सम्बन्ध प्रतीत होता है। पूर्वानुभव के अभाव मे केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा हम इस अनिवार्य सम्बन्ध को कभी नही जान सकते और न हम इसे तर्क द्वारा प्रमाणित ही कर सकते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम कारण और कार्य के सम्बन्ध को वस्तुगत न मान कर, **अनुभवजन्य 'आदत' के परिणामस्वरूप उत्पन्न आत्मगत सम्बन्ध मात्र मानते है । यहॉ यह स्मरण रखना चाहिए कि अनिवार्य सम्बन्ध के प्रत्यय के विषय मे उनकी यह व्याख्या कारण–कार्य के रूप मे सम्बद्ध भौतिक वस्तुओ तथा मानसिक प्रवृत्तियो दोनो पर समान रूप से लागू होती है।** इसका अभिप्राय यह है कि इच्छा और उसके प्रभावो मे हमे जो अनिवार्य सम्बन्ध प्रतीत होता है वह भी वास्तव मे अनुभवजन्य 'आदत' का ही परिणाम है। इस अनुभवजन्य आदत से प्रेरित होकर ही हम यह मान लेते है कि बहुत–सी भौतिक वस्तुए तथा हमारी मानसिक प्रवृत्तियॉ कारण–कार्य के रूप मे समबन्धित है और कोई विशेष वस्तु किसी विशेष वस्तु का ही कारण या कार्य होती है। स्पष्ट है कि ह्यूम के विचार मे कारण–कार्य सम्बन्ध के लिए हमारी इस अनुभवजन्य आदत का विशेष महत्व है, क्योकि अन्तत यही हमारे मन मे कारण तथा कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध के प्रत्यय को उत्पन्न करती है। इसके महत्व का वर्णन करते हुए वे कहते है कि 'समस्त

अनुभवजन्य अनुमान आदत के ही परिणाम है, तर्कना के नही। आदत मानव–जीवन की महान् मार्गदर्शिका है। इसी के कारण हमारा अनुभव हमारे लिये उपयोगी सिद्ध होता है और हम भविष्य मे भी उसी प्रकार की घटनाओ की आशा करते है जैसी भूतकाल मे घटित हुई है। आदत के प्रभाव के बिना हम अपनी स्मृति तथा इन्द्रियो के प्रत्यक्षो तक ही सीमित रह जायेगे और भावी घटनाओ के विषय मे कभी कोई अनुमान नही लगा सकेगे। हमारे समस्त कर्मो तथा अधिकाशत चितन का भी तुरन्त अनन्त हो जायेगा।[1] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार अनुभवजन्य आदत कारण–कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध के प्रत्यय का ही नही अपितु हमारे समस्त कर्मो तथा वस्तु–तथ्य सम्बन्धी चितन का भी मूल आधार है।

प्रस्तुत खण्ड मे अभी तक हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि ह्यूम के विचार मे कारण तथा कार्य मे किस प्रकार का सम्बन्ध है और हमे ऐसा क्यो प्रतीत होता है कि कोई विशेष कारण ही सर्वदा एव अनिवार्यत किसी विशेष कार्य को उत्पन्न करता है। अब इस प्रश्न के सम्बन्ध मे उनके मत पर विचार करना आवश्यक है कि क्या प्रत्येक वस्तु का कोई कारण होना अनिवार्य है। सामान्यत इस सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है कि जिस वस्तु का प्रारम्भ हुआ है और जो अस्तित्व मे है उसका कोई न कोई कारण होना अनिवार्य है। परन्तु ह्यूम का कथन है कि इस सिद्धान्त को हम न तो अनुभव द्वारा प्रमाणित कर सकते है और न तर्क द्वारा। उन्होने इस सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए **क्लार्क, लॉक** आदि दार्शनिको द्वारा दिये गये तर्कों का खडन किया है। उपर्युक्त सिद्धान्त की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए क्लार्क तथा कुछ अन्य दार्शनिको ने यह तर्क दिया हे कि यदि बिना कारण के किसी वस्तु का अस्तित्व है तो यह स्वय अपना कारण होगी, किन्तु यह असम्भव है क्योकि इसका अर्थ यह है कि स्वय अपना कारण बनने के लिए यह वस्तु अस्तित्व मे आने से पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी। इसी प्रकार उक्त सिद्धान्त के समर्थन मे लॉक ने यह तर्क दिया है कि जो वस्तु बिना किसी कारण के उत्पन्न हुई है वह 'असत्' से उत्पन्न हुई होगी, किन्तु 'असत्' किसी वस्तु का कारण

---

1 वही पुस्तक, पृ0 135

नही हो सकता। उपर्युक्त दोनो तर्कों के विरूद्ध ह्यूम की मुख्य आपत्ति यह है कि जिस सिद्धात को प्रमाणित करने के लिए ये तर्क दिये गये है उसकी सत्यता को ये पहले से ही स्वीकार कर लेते है–अर्थात् ये पहले से ही मान लेते है कि प्रत्येक वस्तु का कोई कारण होना अनिवार्य है। स्पष्ट है कि इन दोनो युक्तियो द्वारा कारण की अनिवार्यता का सिद्धात वास्तव मे प्रमाणित नही होता। इससे ह्यूम यही निष्कर्ष निकालते है कि कारणता सम्बन्धी हमारा विश्वास किसी युक्ति अथवा तर्क पर आधारित न होकर वस्तुत हमारी अनुभवजन्य आदत पर ही आधारित है। ऐसी स्थिति मे इस विश्वास को तर्कों द्वारा प्रमाणित करने का प्रयास व्यर्थ है। यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ह्यूम का यह मत नही है कि कोई वस्तु अकारण ही उत्पन्न हो सकती है। उनका कथन केवल इतना ही है कि हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्क द्वारा कारण की अनिवार्यता को प्रमाणित नही कर सकते। वे स्वय यह मानते है कि प्रत्येक वस्तु का कोई कारण अवश्य होता है। इस सम्बन्ध मे उन्होने स्पष्ट कहा है–"**यह सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाता है कि बिना कारण के किसी वस्तु का अस्तित्व नही हो सकता।**[1] इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के लिए कारण की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए **ह्यूम ने अपने एक पत्र मे लिखा है कि "मैने यह मूर्खतापूर्ण बात कभी नही कही कि कोई वस्तु बिना किसी कारण के उत्पन्न हो सकती है।**[2]" इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से ह्यूम कारणता के सिद्धान्त मे पूर्णत विश्वास करते थे। परन्तु उनका यह निश्चित मत है कि सैद्धातिक दृष्टि से तर्क द्वारा किसी वस्तु के लिए कारण की अनिवार्यता को कभी प्रमाणित नही किया जा सकता।[3]

हम देख चुके है कि ह्यूम कारण–कार्य सम्बन्ध को 'दार्शनिक सम्बन्ध' भी मानते है और 'प्राकृतिक सम्बन्ध भी। यहॉ इन दोनो सम्बन्धो के अन्तर को कुछ और अधिक स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जब भिन्न–भिन्न वस्तुओ मे

---

1 ऐन ऐन्क्वायरी कन्सरनिग ह्यूमन अण्डरस्टैडिग पृ0 95

2 लैटर्ज, भाग–1, पत्र–सख्या 91

3 ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर, पृ0 79

कारण–कार्य सम्बन्ध होता है तो इसे ह्यूम **'दार्शनिक सम्बन्ध'** कहते है। परन्तु जब विभिन्न प्रत्ययो मे कारण–कार्य सम्बन्ध द्वारा साहचर्य स्थापित होता है तो इसे वे 'प्राकृतिक सम्बन्ध की सज्ञा देते है। 'दार्शनिक सम्बन्ध तथा 'प्राकृतिक सम्बन्ध' के रूप मे ह्यूम ने 'कारण' की दो भिन्न परिभाषाए दी है। 'दार्शनिक सम्बन्ध' के रूप मे 'कारण' की परिभाषा देते हुए उन्होने कहा हे कि "कारण अपने कार्य से पूर्ववर्ती तथा उसके समीप होता है और कारण के सदृश सभी वस्तुओ तथा कार्य के सदृश सभी वस्तुओ मे पौर्वापर्य एव सामीप्य ये दोनो सम्बन्ध पाये जाते है।"[1] प्राकृतिक सम्बन्ध के रूप मे कारण की परिभाषा देते हुए वे कहते है कि "कारण वह है जो अपने कार्य से पूर्ववर्ती तथा उसके समीप होता है और जो कार्य से इस प्रकार सम्बद्ध रहता है कि एक के फलस्वरूप हमारे मन मे दूसरे का प्रत्यय उत्पन्न होता है और एक का सस्कार दूसरे का सजीव प्रत्यय उत्पन्न करता है।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम के अनुसार दार्शनिक सम्बन्ध के रूप मे कारण–कार्य का पूर्ववर्ती, उसके समीप तथा उससे निरन्तर सम्बद्ध रहता है, परन्तु प्राकृतिक सम्बन्ध के रूप मे कारण–कार्य सम्बन्ध हमारे प्रत्ययो मे साहचर्य स्थापित करता है जिस पर हमारा कारण–कार्य सम्बन्धी सम्पूर्ण अनुमान आधारित है।[3]

यहॉ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ह्यूम को अरस्तू द्वारा किया गया 'कारण' का वर्गीकरण मान्य नही है। अरस्तू ने 'कारण' के चार भेद माने है–निमित्त कारण, उपादान कारण, आकारिक कारण तथा प्रयोजन–कारण। ह्यूम इनमे से केवल निमित्त कारण को ही स्वीकार करते है। उनका मत है कि अरस्तू ने 'कारण' के जो अन्य तीन भेद माने है वे वास्तव मे कारण' नही हैं। किसी कार्य को उत्पन्न करने वाला कारण केवल एक ही प्रकार का हो सकता है और वह है निमित्त कारण। 'कारण' के विषय मे अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "शक्ति अथवा उत्पादकता सम्बन्धी हमारा प्रत्यय किन्ही दो वस्तुओ के सतत सम्बन्ध के फलस्वरूप ही

1 वही पुस्तक, पृ0 170
2 वही पुस्तक, पृ0 170
3 देखिये, वही पुस्तक, पृ0 94

उत्पन्न होता है, अत जहाँ यह सतत सम्बन्ध पाया जाता है वहाँ केवल निमित्त कारण होता है और जहाँ यह सतत सम्बन्ध नही पाया जाता वहाँ किसी प्रकार का कारण नही हो सकता।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ह्यूम 'कारण के परम्परागत वर्गीकरण को स्वीकार नही करते।

कारण–कार्य सम्बन्ध के विषय मे उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि ह्यूम इस सम्बन्ध को वस्तुगत न मान कर केवल आत्मगत ही मानते है फिर भी वे इसे दार्शनिक दृष्टि से विशेष महत्व देते है। उनका मत है कि वस्तु–तथ्य सम्बन्धी हमारा सम्पूर्ण ज्ञान अतत इसी कारण–कार्य सम्बन्ध पर आधारित है। सभी विज्ञानो तथा मनुष्य के व्यवहारिक जीवन मे इस सम्बन्ध का अत्यधिक महत्व है। यही कारण है कि ह्यूम ने कारण–कार्य सम्बन्ध के सभी महत्वपूर्ण पक्षो पर बहुत विस्तारपूर्वक विचार किया है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कारण–कार्य सम्बन्ध के विषय मे उन्होने जो कुछ कहा है वह पूर्णत नवीन अथवा मौलिक नही है। इस विषय से सम्बन्धित उनके मुख्य सिद्धान्त का पूर्वाभास चौदहवी शताब्दी के एक **दार्शनिक निकोलस के दर्शन** मे प्राप्त होता है। वे यह मानते थे कि हम किसी वस्तु से किसी विशेष वस्तु के अस्तित्व का निश्चित रूप से अनुमान नही कर सकते, क्योकि सभी वस्तुएँ एक दूसरे से भिन्न है और इसी कारण तार्किक दृष्टि से कोई भी वस्तु किसी भी वस्तु को उत्पन्न कर सकती है। हमारे कारणता सम्बन्धी विश्वास की व्याख्या करते हुये निकोलस ने यह भी कहा है कि किन्ही दो घटनाओ को बार–बार एक दूसरे के पश्चात् घटित होते हुए देखते रहने के कारण ही हम अपने पूर्वानुभव के आधार पर एक को कारण तथा दूसरी को कार्य मान लेते है। इस प्रकार वे तर्कअथवा बुद्धि के स्थान पर हमारे पूर्वानुभव को ही कारण–कार्य सम्बन्ध का मूलआधार मानते है। हम देख चुके है कि ह्यूम ने भी कारण–कार्य सम्बन्ध की यही अनुभव मूलक व्याख्या की है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि ह्यूम ने निकोलस के दर्शन का अध्ययन करके उसी के आधार पर अपने कारण–कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हम निश्चयपूर्वक यह भी

---

1 वही पुस्तक, पृ0 171

नही कह सकते कि वे निकोलस के दर्शन से अवगत थे। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ह्यूम ने कारण–कार्य सम्बन्धी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसे निकोलस लगभग चार सो वर्ष पूर्व ही निरूपित कर चुके थे। परन्तु इससे दर्शन के इतिहास मे ह्यूम के सिद्धात का महत्व कम नही होता। जैसा कि हम पहले कह चुके है, आधुनिक अनुभववादी और तर्कीय प्रत्यक्षवादी ह्यूम के दर्शन को ही अपने दर्शन का मूल आधार मानते है, निकोलस के दर्शन को नही।

कारणता और आगमन की समस्या[1]–इस परिप्रेक्ष्य मे ह्यूम के द्वारा उठाई गई आगमन की समस्या भी विचारणीय है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि किस साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अग्नि कल भी जलायेगी, सूर्य भविष्य मे भी पूरब मे निकलेगा, कोई वस्तु ऊपर फेकने पर सदैव नीचे गिरेगी ? इत्यादि। परपरागत रूप से इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए **'प्रकृति की एकरूपता'** का सहारा लिया गया है । कारण–कार्य नियम और प्रकृति की एकरूपता मे क्या सबध है? यह प्रश्न विवादास्पद है। **जे0एस0मिल0 और बेन** जैसे तर्कशास्त्री कारण–कार्य नियम को 'प्रकृति की एकरूपता' (Uniformity of Nature) का एक अग मानते है, किन्तु **सिगबर्ट** और **बोसाके** कारण–कार्य नियम और प्रकृति की एकरूपता को भिन्न–भिन्न मानते है। इसमे से कौन–सा सिद्धात अधिक तर्कसगत है ? इस विवाद मे उलझना ह्यूम के द्वारा उठाई गई समस्या के लिए प्रासगिक नही है। वस्तुत प्रकृति की एकरूपता और कारण–कार्य नियम दोनो के परिप्रेक्ष्य मे समस्या का स्वरूप एक ही है। **'प्रकृति की एकरूपता'** का अर्थ यह है कि– 'प्रकृति समान परिस्थितियो मे समान कार्य करती है।' ऐसा अतीत (Past) या भूतकाल मे सदैव होता रहा है, इसलिए भविष्य मे भी ऐसा ही होगा। इस सदर्भ मे ह्यूम की समस्या यह है कि **"अतीतकाल मे प्रकृति की एकरूपता के आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि भविष्य भी अतीत के समान होगा ?"** प्रकृति की एकरूपता

---

1 पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास–डा0 एच एस उपाध्याय, पृ0 231–233

स्वय एक प्रकार के आगमनात्मक अनुमान पर आधारित है। अत आगमन के आधार पर इसको सिद्ध नही किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी सर्वव्यापी कथन या प्रतिज्ञप्ति (Universal Proposition) की सत्यता को उसके अतर्गत आने वाले प्रत्येक उदाहरण की सत्यता का बिना परीक्षण किये ही स्वीकार किया जा सकता है। हम उसमे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्वास कर सकते है। वास्तव मे, **ह्यूम आगमन की समस्या के मनोवैज्ञानिक समाधान को स्वीकार करता है। किन्तु समस्या का मनोवैज्ञानिक समाधान दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नही है। वस्तुत समस्या का स्वरूप तार्किक है,परन्तु ह्यूम आगमन की समस्या के तार्किक समाधान को सभव नही मानता है।**[1]

वस्तुत आगमन से प्राप्त ज्ञान सभाव्य सत्य, की कोटि मे आता है। उसके आधार पर किसी अनिवार्य सबध का प्रतिपादन नही किया जा सकता है। अत आगमनात्मक दृष्टि से भी कारण–कार्य मे किसी अनिवार्य एव सार्वभौमिक सबध की स्थापना नही की जा सकती है। दूसरे शब्दो मे, अनुभव के आधार पर कारण–कार्य सबध की अनिवार्यता एव सार्वभौमिकता को तर्कत सिद्ध नही किया जा सकता है। अनुभव के द्वारा केवल वर्तमान कालिक घटनाओ को एव स्मृति के आधार पर अतीतकाल की घटनाओ को जानने का दावा किया जा सकता है। किन्तु अनुभव के आधार पर यह नही जाना जा सकता है कि भविष्य मे घटित होने वाली घटनाएँ भी अनिवार्यत अतीतकाल की घटनाओ के समान ही होगी।[2] इस विवेचन से स्पष्ट है कि नियत सयोग और आगमनात्मक अनुमान के द्वारा हमारे मन मे अनिवार्यता की एक प्रत्याशा (Expectation) उत्पन्न हो जाती है। यह एक भावना मात्र है जिसकी पुष्टि परपरा के द्वारा होती है। यह बाद मे एक विश्वास (Belief) के रूप मे बदल जाती है। इसी से अनिवार्यता

---

1 Problem of Justifying Inductive Infeience, Essays in Analysis, (Ed) Elice Ambrose, p 182-185

2 ज्ञानमीमासा के मूल प्रश्न पृ0 183–186

के प्रत्यय को बल मिलता है। ह्यूम के अनुसार कारण और कार्य कही जाने वाली घटनाएँ बार–बार घटित होती हुई दिखाई पडती है। इसीलिए हम उनमे कारण–कार्य के अनिवार्य सबध की कल्पना कर लेते है।

ह्यूम के द्वारा कारण–कार्य सबध की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता को स्वीकार न करना अठारहवी शताब्दी के दर्शन की एक ऐसी क्राति है जिसका दूरगामी प्रभाव रहा है। प्रसिद्ध दार्शनिक **रसेल को बाध्य होकर यह कहना पडा कि ह्यूम का दर्शन अठारहवी शताब्दी के तार्किक औचित्य के दिवालिएपन का प्रतिनिधित्व करता है। अत इसकी खोज करना महत्त्वपूर्ण है कि अनुभववादी दर्शन के अतर्गत ह्यूम की समस्या का कोई समाधान हो सकता है अथवा नही ?** यदि ह्यूम के समान आगमनात्मक सिद्धान्त को न माना जाय तो विशेष तथ्यो के निरीक्षण के आधार पर सामान्य वैज्ञानिक नियमो को स्थापित करना दोषपूर्ण होगा। इस प्रकार ह्यूम के सशयवाद से कोई भी अनुभववादी बच नही सकता है।[1]

ह्यूम के कारण–कार्य सिद्धान्त को एक अनिवार्य सबध के रूप मे स्वीकार न करने का प्रभाव आगे चलकर जर्मन दार्शनिक काण्ट पर पडा। **काण्ट ने ह्यूम के द्वारा प्रतिपादित कारणता की अनुभव–सापेक्ष एव मनोवैज्ञानिक अवधारणा का खण्डन किया। उसके अनुसार कारण–कार्य नियम कोई अनुभवजन्य प्रत्यय नही, बल्कि एक बुद्धि–विकल्प है।** चूँकि कारणता एक बुद्धि–विकल्प है, इसलिए यह स्वरूपत प्रागनुभविक सप्रत्यय है। इसे मनोवैज्ञानिक विश्वास नही माना जा सकता है। यद्यपि काण्ट भी यह स्वीकार करता है कि कारण–कार्य सबध हमारे वस्तु–जगत् के ज्ञान के लिए महत्वपूर्ण है, तथापि वह कारणता को आनुभविक अथवा मनोवैज्ञानिक सबध नही मानता है। दूसरे शब्दो मे, ह्यूम कारणता को अनुभव–सापेक्ष और काण्ट उसे एक अनुभव–निरपेक्ष अवधारणा मानता है। इससे स्पष्ट है कि ह्यूम के द्वारा प्रतिपादित कारणता की अवधारणा अनुभववाद का तार्किक परिणाम है जो अनुभववादी मताग्रहो पर आधारित है। इसके विपरीत, काण्ट की कारणता–

1 A History of Philosophy, Russell, p 698

विषयक मान्यता बुद्धिवादी है। वह अनुभववाद के अन्तर्विरोधो को उद्घाटित करके उसका खण्डन करता है। वास्तव मे ह्यूम अनुभववादी ज्ञानमीमासा को उसके तार्किक निष्कर्ष सशयवाद तक पहुँचा देता है। ह्यूम कारण–कार्य नियम मे अविश्वास नही करता है, बल्कि वह केवल कारणता की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता के तार्किक औचित्य को चुनौती देता है। अत यह कहना कि ह्यूम कारणता को नही मानता है, एक भूल है। वस्तुत वह कारण–कार्य के नियम का एक नये तरीके से विश्लेषण करता है। उसके द्वारा कारण–कार्य नियम की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता के निषेध का निहितार्थ केवल यह है कि इसे अनुभववादी ज्ञानमीमासा के अतर्गत तर्कत सिद्ध नही किया जा सकता है।

८.३ मिल का मत

जैसा कि हम जानते है कि किसी भी घटना के लिए किसी पूर्ववर्ती को अनिवार्य शर्त तब माना जाता है जब उस पूर्ववर्ती के अभाव मे उस घटना की उत्पत्ति कभी नही हो सके। क' 'ख' के लिए अनिवार्य शर्त तब होगी जब स्थिति यह होगी कि 'नही–क' तो 'नही– ख'। **दूसरे शब्दो मे किसी घटना के बिना यदि किसी दूसरी घटना की उत्पत्ति नही हो सके तो पहली घटना को दूसरी की अनिवार्य शर्त कहते है। उदाहरण के लिए बादल वर्षा के लिए अनिवार्य शर्त है। किसी घटना के लिए पर्याप्त शर्त वह होती है जिसकी उपस्थिति मे वह घटना जरूर ही घटित हो।** दूसरे शब्दो मे, किसी घटना के नही घटित होने का अर्थ यह होता है कि उसके लिए पर्याप्त शर्त मोजूद नही थी। 'क' 'ख' के लिए पर्याप्त शर्त तब होगी जब 'क' की उपस्थिति से निरपवाद रूप मे 'ख' भी उपस्थित हो, अर्थात यो कहे कि यदि 'ख' नही है तो इसका अर्थ है कि 'क' नही (यदि 'नही–ख' तो 'नही–क') हे। वर्षा होना जमीन भीगाने की पर्याप्त शर्त है यद्यपि अनिवार्य नही। अब यदि कारणता को हम नियत साहचर्य मानते है तो हमे यह निश्चित करना होगा कि आखिर किस अर्थ मे। क्या इस अर्थ मे कि यदि कारण होगा तो निरपवाद रूप मे उसके साथ तुरन्त बाद कार्य भी होगा, या कि इस अर्थ मे कि यदि कारण नही होगा तो कार्य भी नही होगा या कि दोनो ही अर्थो मे ? इन प्रश्नो का कोई निश्चित उत्तर ह्यूम के नियत साहचर्य के सिद्वान्त मे नही मिलता है। शायद ह्यूम का यहॉ यह उत्तर हो कि कारण कार्य के लिए न तो अनिवार्य शर्त ही है और न पर्याप्त ही, चूँकि कारण–कार्य मे वस्तुत कोई आन्तरिक सम्बन्ध ही नही है ताकि एक के होने या न होने से दूसरे के होने या न होने के विषय मे निश्चित रूप से कुछ कहा जा राके। दोनो विलकुल दो अलग–अलग घटनाए है और यह एक बिलकुल आपातिक (**Contıngent**) बात है कि दोनो को हम बराबर एक साथ देखते है। यह विचार शुद्ध आनुभाविक विश्लेषण की दृष्टि से आकर्षण कही जा सकती है और दार्शनिक दृष्टि से इसका महत्व हो सकता है, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से कारण के सम्बन्ध मे यह

विचार बहुत सहायक नही है। वैज्ञानिक दृष्टि से शायद यह मत भी बहुत सहायक नही है कि कारण कार्य के लिए अनिवार्य तथा पर्याप्त शर्त दानो है अथवा यो कहे कि कारण उसे ही कहा जाएगा जो किसी घटना की उत्पत्ति के लिए अनिवार्य तथा पर्याप्त दोनो हो। यह मत कारण के सम्बन्ध मे उससे अधिक यथेष्ट मत प्रतीत होता है। चूँकि यह बात बिलकुल ठीक जॅचती है कि किसी घटना का कारण वही है जिसकी उपस्थिति मे वह घटना जरूर घटे (पर्याप्त शर्त) तथा जिसकी अनुपस्थिति मे घटना नही घटे (अनिवार्य शर्त)। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से कारण सम्बन्धी यह विचार भी बहुत सहायक नही हे क्योकि अनिवार्य शर्त की कोई सीमा ही नही है। मेरे विद्वान बनने के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि मै पढ़ूँ–लिखूँ, परन्तु उसके लिए ये भी अनिवार्य शर्ते है कि मे मनुष्य होऊँ, मेरी मानसिक स्थिति ठीक हो, या तो मेरे पास इतने साधन हो कि सभी जरूरी पुस्तके मै खरीद सकूँ या विभिन्न पुस्तकालयो मे मेरी पहुॅच हो सके, आदि। फिर अनिवार्य शर्त को कारण की अवधारणा के अन्तर्गत रखने से यह भी कठिनाई होगी कि आमतौर पर जिन अनेको घटनाओ को हम दूसरी घटनाओ का कारण मानते है, उन्हे ऐसा नही मान सकते। उदाहरण के लिए विष को मृत्यु का कारण माना जाता है, परन्तु वह मृत्यु की अनिवार्य शर्त नही है। इसी प्रकार अधिक खाने को पेट खराब होने का कारण माना जाता है, परन्तु वह भी पेट खराब होने के लिए अनिवार्य शर्त नही है। इन्ही सारी कठिनाइयो के चलते शायद मिल (Mill) ने वैज्ञानिक दृष्टि से सतोषजनक होने के लिए कारण की परिभाषा किसी घटना की पर्याप्त शर्त के रूप मे की।

मिल के अनुसार कारण कोई एक निश्चित घटना नही है, बल्कि अनेको घटनाऍ एक साथ मिलकर किसी घटना की उत्पत्ति का कारण बनती है। इन्हे मिल शर्त (Condition) कहते है। इसप्रकार उनके अनुसार कारण अनेको भावात्मक तथा निषेधात्मक शर्तो का योग है। कारण की यह धारणा वैज्ञानिक दृष्टि से बडा महत्वपूर्ण है, परन्तु ह्यूम के विचारो मे इसका सर्वथा अभाव मालूम पडता है। ह्यूम कारणता को दो घटनाओ के बीच का ही सम्बन्ध मानते हे जिनमे उनके अनुसार अनिवार्य सम्बन्ध नही है, बल्कि सिर्फ नियत साहचर्य है।

ध्यातव्य है कि मिल कारण को सर्वप्रथम एक नियत पूर्ववर्ती (Invariable antecedent) के रूप मे लेते है। प्रकृति मे मौजूद एकरूपता पर मिल बहुत जोर देते है और बतलाते है कि – यह एकरूपता दो प्रकार की है – 1 सहअस्तित्व की एकरूपता (Uniformity of Co-existence) तथा 2 पूर्वापर एकरूपता (Uniformity of succession) । जब हम कहते हे कि सभी कौवे काले है अथवा सभी अँग्रेज गोरे है, तो यहॉ कौवे तथा कालेपन अथवा अँग्रेज तथा गोरेपन के एक साथ रहने की जो एकरूपता है उसे सहअस्तित्व की एकरूपता कहते है। परन्तु जब हम कहते है कि पानी से प्यास बुझती है या घर्षण से गर्मी पैदा होती है तो यहॉ जो पानी तथा प्यास बुझने अथवा घर्षण तथा गर्मी पैदा होने मे एक इस तरह की एकरूपता है कि एक के तुरन्त बाद दूसरी हमेशा आता है, उसी एकरूपता को पूर्वापर एकरूपता कहते है। इसी दूसरी एकरूपता को मिल कारण–कार्य एकरूपता (Causal unifomity) भी कहते है और इसे ही कारण–कार्य नियम (Law of Causation) की भी सज्ञा देते है। वे कहते है कि "कारण–कार्य नियम, जो आगमनात्मक विज्ञान का मूल स्तम्भ है, और कुछ नही बल्कि यह चिरपरिचित सत्य है कि प्रकृति की उन दो घटनाओ मे जिनमे से एक पहले आती है ओर दूसरी बाद, मे एक नियत पूर्वापर सम्बन्ध पाया जाता है।[1]इसी सिलसिले मे वे फिर आगे कहते है"। कि "कुछ तथ्यो के बाद कुछ तथ्य हमेशा आते है और हम विश्वास करते है कि ये भविष्य मे भी उनके बाद आते रहेगे। इसी प्रकार का नियत पूर्ववर्ती कारण कहलाता है, तथा नियत अनुवर्ती कार्य। इसप्रकार

---

1 " The law of causation the recognition of which is the main pillar of Inductive science, is but the familiar truth that invariability of succession is found by observation to obtain between every fact in nature and some other fact that has precedence"

कारण मिल के अनुसार नियत पूर्ववर्ती है जो हमेशा ही उस घटना के पूर्व आता है जिसका उसे कारण कहा जाता है।"[1]

परन्तु कारण के सम्बन्ध मे दो और प्रमुख बाते है। एक तो यह है कि कारण सिर्फ नियत पूर्ववर्ती ही नही है, बल्कि अनौपाधिक (Unconditional) पूर्ववर्ती भी है, चूँकि ऐसा नही होने से तो दिन का कारण रात को और रात का कारण दिन को मान लिया जा सकता है– दिन रात का नियत पूर्ववर्ती है तथा रात दिन का। कोई भी नियत पूर्ववर्ती किसी घटना का कारण नही होता वही नियत पूर्ववर्ती कारण होता है जो अनौपाधिक भी होता है। किसी पूर्ववर्ती के अनौपाधिक होने का अर्थ यह है कि पूर्ववर्ती मे अपने–आप घटना को उत्पन्न करने वाली सारी आवश्यक शर्ते मौजूद हो, उसे खुद घटना को उत्पन्न करने के लिए किसी दूसरी वाह्य शर्त पर निर्भर नही करना पडे। दिन रात का कारण नही है चूँकि रात को उत्पन्न करने वाली सारी आवश्यक शर्ते दिन मे मौजूद है जिस पर ही खुद दिन का होना भी निर्भर है। और कारण के सम्बन्ध मे दूसरी प्रमुख बात यह है कि किसी घटना का कारण हमेशा कोई एक ही घटना नही होती, बल्कि अधिकाशत उसके पूर्ववर्ती कारण के रूप मे अनेको घटनाऍ मौजूद रहती है। कार्य अनेको घटनाओ का सयुक्त फल होता है। इन अनेको घटनाओ को मिल शर्त (**Condition**) कहते है। शर्त इसप्रकार सम्पूर्ण कारण का एक अश है और कारण अनेको शर्तो के समूह को कहते है। इसलिए कारण की परिभाषा उपस्थित करते हुए मिल कहते है कि किसी घटना का कारण या तो एक पूर्ववर्ती है या अनेको पूर्ववर्तियो का समूह है जिस पर या जिनपर घटना नियत और अनौंपाधिक रूप मे निर्भर करती है।[2]

किसी घटना की उत्पत्ति मे दो प्रकार की शर्ते सम्मिलित रहती है अथवा

1- To Certain fact always do and, as we belive will continue to succeed The invariable antecedent is called the cause the invariable consequent the effect

2- "We may define, therefore, the cause of phinomenon, to be the antecedent or the concurrence of antecendent, on which it is invariably and un conditionally consequent or if we adopt the convenient modification of the meaning of pastive conditions without the negative then instead of "unconditionally" we must say " subject to no other than negative conditions

---- A system of logic---jhan stuart mill book---III chapter V

यो कहे कि किसी कारण मे दो प्रकार की शर्ते सन्निहित रहती है –(1) भावात्मक (Positive) तथा (2) निषेधात्मक (Negative) । ये दोनो ही शर्ते मिलकर मिल के अनुसार किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त शर्ते उपस्थित करती है और कार्य पैदा होता है। इसीलिये इस सदर्भ मे कारण की एक परिभाषा फिर निम्नलिखित रूप मे मिल उपस्थित करते है ।

"जब किसी घटना की उपस्थिति के लिये सारी भावात्मक तथा निषेधात्मक शर्ते उपस्थित हो जाती है तो घटना निश्चित रूप से घटती है और भावात्मक तथा निषेधात्मक शर्तो के इसी समूह को कारण कहते है।"[1] कारण की जो शर्ते घटना के घटित होने मे भावात्मक रूप से मदद करती है उन्हे भावात्मक शर्तो की सज्ञा दी जाती है तथा जिन शर्तो के चलते भावात्मक शर्तो का प्रभाव अवरूद्व नही हो पाता उन्हे अभावात्मक या निषेधात्मक शर्तो की सज्ञा दी जाती है। उदाहरण के लिये किसी फोटो के नीचे गिर जाने के पीछे जो भावात्मक शर्ते है या हो सकती है वे है, हवा के तेज झोके का आना, रस्सी काकमजोर होना, फोटो का बहुत भारी होना आदि तथा इसके सम्बन्ध मे जो अभावात्मक शर्ते है वे है, काटी का ठीक से नही गडा होना, फोटो के नीचे उसे सॅभालने वाले किसी सहारे का नही होना आदि। उसी प्रकार किसी मनुष्य के किसी नदी मे डूब जाने की भावात्मक शर्ते है, नदी की धारा का तेज होना, हवा का तेज होना, नदी का बहुत अधिक गहरा होना आदि तथा उसकी अभावात्मक शर्ते है, उस मनुष्य का तैरना नही जानना, उस वक्त वहॉ किसी ऐसे आदमी का न होना जो उसे बचा सकता, आदि। 'अभावात्मक शर्त' से मिल खुद किसी अवरोधक कारण की अनुपस्थिति' (" Absence of a preventing cause") समझते है। किसी भी घटना की उत्पत्ति के पीछे इन दोनो ही प्रकार की शर्तो

1- "The cause ,then philosophicolly speaking, is the sum total of the conditions, positive and negative taken togethei, the whole of contingences of every description which being iealized the consequent invariably follows the negative condition, howevei of any phenomenon, aspecial eneemevation of which would generally be very prolix, may be all summed up under one head, namely the absence of preventing or countevaeting causes "---A system of logic ---jhan stuat mill, book---III chapter--V-, Artele--3 page 332

का हाथ रहता है, अर्थात (1) उन शर्तो का जो प्रत्यक्ष रूप से घटना को उत्पन्न करती है तथा (2) उन अवरोधक शर्तो की अनुपस्थिति का जिनकी उपस्थिति से घटना टल सकती थी। इसप्रकार कारण पर्याप्त शर्त है और पर्याप्त शर्त भावात्मक तथा निषेधात्मक शर्तो का योग है।

यहॉ एक बात स्पष्ट है कि चूँकि मिल के अनुसार निषेधात्मक शर्तो का अर्थ है घटना को रोकने वाली परिस्थितियो का अभाव, इसलिये ऐसी परिस्थितियो की सख्या अनन्त हो सकती है, जिन्हे गिनना सम्भव नही हे। किन–किन अवरोधक शक्तियो के नही होने से घटना घटी, यह बतलाना सभव नही है। इसीलिये मिल कहते है कि निषेधात्मक शर्तो को गिनने के बजाय उन्हे एक ही शीर्षक के अन्दर रख दिया जा सकता है, और वह है, अवरोधक शक्तियो या परिस्थितियो का अभाव'।

उल्लेखनीय है कि कारण–सम्बन्धी मिल के उपर्युक्त विश्लेषण से वैज्ञानिक महत्व की कई बात सामने आती है। एक तो यह कि कारण पर्याप्त शर्त है। जब तक भावात्मक तथा निषेधात्मक सारी शर्ते सयुक्त नही होती, कार्य उत्पन्न नही होता। दूसरी बात यह है कि कारण के सम्बन्ध मे यह धारणा कि वह हमेशा कोई एक ही घटना है जो किसी दूसरी एक घटना को उत्पन्न करती है, ठीक नही है। दूसरे शब्दो मे, 'एक कारण एक कार्य' का सिद्वान्त ठीक नही है। कारण रूप मे अनेको परिस्थितियॉ या घटनाऍ या शर्ते एक साथ मिलकर काम करती है। ऐसी भी बात नही है कि कारण कोई अलग चीज है जिसकी अनेक शर्ते होती है, बल्कि शर्तो के योग को ही कारण कहते है। यह बात वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। फिर तीसरी बात जो मिल ने बतलाई वह यह है कि कारण सिर्फ नियत पूर्ववर्ती नही है, बल्कि उसे अनौपाधिक भी होना चाहिये। दूसरे शब्दो मे कारणता (Causation) का विभेदक गुण मिल के अनुसार नियतता (Invariability) नही है, (जैसा ह्यूम मानते हुए प्रतीत होते है) बल्कि अनौपाधिकता (Unconditionality) है। हमने देखा है कि कारण के अनौपाधिक होने का अर्थ है कि कार्य को उत्पन्न करने वाली सारी आवश्यक शर्ते उसके अन्दर ही मौजूद हो इसी अर्थ मे दिनरात का कारण नही है।

परन्तु अनौपाधिकता के सम्बन्ध मे मिल की धारणा कुछ अस्पष्ट ओर अनिश्चित है। वे अनौपाधिकता' से अनिवार्यता' (Necessity), 'निश्चयात्मकता (Mustness or Certainty) आदि भी समझते है। वस्तुत उनका लक्ष्य था कारण–कार्य नियम की निश्चयात्मकता स्थापित करना ताकि वैज्ञानिक सामान्यीकरणो (Scientific generalisations) की सार्वभौमिकता एव निश्चयात्मकता सिद्व की जा सके। इसीलिये उन्होने कारण को अनौपाधिक कहने के पीछे ये भावना रखी कि कारण ऐसा नियत पूर्ववर्ती होता हे जिसके उपस्थित होने से कार्य अनिवार्यत उत्पन्न होता है, वह किसी भी स्थिति मे टल नही सकता है।[1] जैसा कि उनकी इन पक्तियो से स्पष्ट है– "If there be any meaning which confessedly belongs to the teim neccsity it is unconditionalness That which is necessaiy, that which must be, means that which will be, whatevei supposition we may make in regard to all other things " इसप्रकार मिल के अनुसार कारण–कार्य नियम इस अर्थ मे अनौपाधिक है कि इसका कोई अपवाद नही। क' ख' का कारण है'' का अर्थ है 'जब कभी भी, जहॉ कही भी 'क' होगा, तब और वहॉ 'ख' भी निरपवाद रूप मे होगा ''। अनौपाधिकता के इस अर्थ से ही कारण–कार्य सम्बन्ध की नियतता (Invariability) भी निकलती है। जब कारण–कार्य निरपवाद रूप से सम्बन्धित होते है तो निश्चित ही कार्य के पूर्व कारण नियत रूप से आयेगा। इसप्रकार नियतता भी अनौपाधिकता का ही परिणाम है।

'अनिवार्यता' या 'निश्चयात्मकता' के अर्थ मे अनौपाधिकता पर इतना अधिक जोर देने का परिणाम यह होता है कि मिल कारण–कार्य के बीच एक बहुत ही घनिष्ठ आन्तरिक सम्बन्ध मानते हुए प्रतीत होते है। यह स्पष्ट नही है कि कारण कार्य सम्बन्ध की इस अनिवार्यता को ये तार्किक अनिवार्यता के रूप मे लेते है जिसकी ह्यूम ने आलोचना की, परन्तु इतना तो निश्चित ही लगता है

---

1 तत्वमीमासा एव ज्ञानमीमासा – केदारनाथ तिवारी पृष्ठ – 156

कि ह्यूम की तरह वे कारण तथा कार्य को बिलकुल दो असम्बद्व घटनाओ के रूप मे नही देखते जिसमे कुछ आपातिक रूप मे नियत साहचर्य का सम्बन्ध पाया जाता है। कारण–कार्य सम्बन्ध को चूँकि मिल भविष्य के लिए भी निरपवाद तथा निस्सन्देह रूप मे सत्य मानते है, इसलिए इतना तो स्पष्ट है कि कारण–कार्य के बीच मात्र आपातिक नियत साहचर्य से कोई अधिक घनिष्ट सम्बन्ध वे मानते है जिसे तार्किक अर्थ मे नही भी तो किसी अन्य थोडा कमजोर अर्थ मे भी अनिवार्यता का सम्बन्ध मानना होगा। शायद इस अनिवार्यता को तार्किक अनिवार्यता (Logical necessity) से भिन्न करने के लिए हम कारण–अनिवार्यता (Causal necessity) ही कहे तो कोई हर्ज नही। मिल जैसे अनुभववादी शायद यह तो नही ही मानेगे कि कारण कार्य मे कुछ वैसी ही तार्किक अनिवार्यता का सम्बन्ध है जैसा यह लाल हे तथा यह रगीन हे' ग अथवा 'यह समकोण है' और यह कोण है' मे है, चूँकि ये सम्बन्ध किसी भी सम्भव ससार मे अनिवार्यत होगे, इनका नही होना सोचा ही नही जा सकता। परन्तु घर्षण मे तथा गर्मी पैदा होने मे अथवा किसी के आर्सेनिक खाने और उसकी मृत्यु मे इसप्रकार के तर्कत अनिवार्य सम्बन्ध तबतक नही सोचे जा सकते जब तक हम घर्षण तथा गर्मी पैदा होने अथवा आर्सेनिक खाने और मृत्यु होने को दो अलग–अलग कालिक घटनाएँ मानते है और यह नही मान लेते कि 'गर्मी पैदा होना' 'घर्षण' की परिभाषा ही है अथवा ' मृत्यु होना' 'आर्सेनिक खाने की परिभाषा ही है। इस हद तक कारणता सम्बन्धी ह्यूम की आलोचना ठीक है। फिर भी मिल कारण तथा कार्य मे एक अनिवार्य सम्बन्ध मानते है, जिसमे तार्किक दृष्टि से चाहे जितनी भी कठिनाइयॉ हो, वैज्ञानिक दृष्टि से वह महत्वपूर्ण है।

८.४ काण्ट का मत

मध्ययुगीन पाश्चात्य दर्शन जहाँ धर्म की जकडन मे था और दर्शन मे स्वतन्त्र चिन्तन का अभाव भी था, वही आधुनिक पाश्चात्य दर्शन मे देकार्त क उन्मेष के साथ ही दर्शन मे स्वत्रन्त्रत चिन्तन का प्रादुर्भाव हुआ। देकार्त बुद्धिवाद का प्रर्वतक था और इसकी परम्परा मे स्पिनोजा और लाइबनिट्ज दो महत्वपूर्ण दार्शनिक अवतरित हुए। तत्कालीन चिन्तन की परिस्थितियो के माग के फलस्वरूप अनुभववाद का लाक द्वारा श्रीगणेश हुआ। लाक जेसे अनुभववादी की परम्परा मे वर्कले और ह्यूम जैसे दार्शनिक आते है। जैसा कि हम जानते हे बुद्धिवाद की परिणति रूढिवाद मे और अनुभववाद की परिणति सशयवाद मे होती है। इन दोनो की मीमासा से काण्ट का आलोचनावाद मूर्तरूप लेता हे।

ह्यूम के कारणता के विश्लेषण से काण्ट की हठवादी नीद टूटी थी और यद्यपि आज भी यह निरन्तर बहस का विषय बना हुआ है कि क्या काण्ट ह्यूम द्वारा उठाये गये प्रश्नो का उत्तर दे सका है, काण्ट की कारणता की व्याख्या आलोचनात्मक–दर्शन की महत्वपूर्ण देन समझी जा सकती है।

ह्यूम के विस्थापक तर्कों ने कारण–कार्य सम्बन्ध को खडित कर डाला। खडन का तात्पर्य यह नही है कि ह्यूम यह मानता है कि कोई कार्य अकारण होता है। बल्कि कारणता के खडन का अर्थ उसके द्वारा कारणता की विशेष ढग से व्याख्या है या उसे एक विशेष अर्थ प्रदान करना है। जहाँ तक ह्यूम का यह कहना है कि कारण–कार्य के विशेष सम्बन्धो को प्रगनुभविक ढग से निर्धारित किया जा सकता है, काण्ट भी उससे सहमत ही दिखता है। कारणता के सप्रत्यय से यह नही बताया जा सकता कि किस कार्य का क्या कारण होगा, यह अनुभव के द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। किन्तु ह्यूम इतना ही नही कहता। वह कारणता के प्रत्यय को ही इन्द्रियानुभविक मानता है और चूँकि अनुभव मे हमे विशेष घटनाये ही दिखायी देती है, इसलिए कारणता का सम्बन्ध कभी भी असदिग्ध रूप से स्थापित नही किया जा सकता। वस्तुत ह्यूम के

अनुसार वैध ज्ञान के दो ही स्रोत है इन्द्रिय–प्रत्यक्ष तथा विश्लेषणात्मक तर्क। कारणता की अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता न तो इन्द्रियानुभविक सत्य है और न ही विश्लेषणात्मक। इसलिए कारणता की अनिवार्यता एक मिथक अथवा भ्रम है। इसका स्रोत हमारी कल्पना है, इसलिए इनकी सत्यता या वैधता वैयक्तिक है, वस्तुगत नही। कारणता मनोवैज्ञानिक सत्य है, तार्किक नही। अपने सामान्य अनुभव मे हम जब कतिपय घटनाओ को एक–दूसरे के साथ–साथ उपस्थित होते देखते है तो जब कभी हम एक घटना को देखते है तो तत्काल हमारे मन मे यह आशा जग जाती है कि अतीत मे उसकी सहचारी दूसरी घटना भी उपस्थित होगी। कारणता का सम्बन्ध इसी आशा मे जन्म लेता है। अतएव अधिक से अधिक वह एक सभाव्य सत्य होता हे। उसके निषेध मे किसी प्रकार का आत्म विरोध नही है। **तात्पर्य यह है कि ह्यूम कारणता के सम्बन्ध मे तार्किक अनिवार्यता नही मानता। उसकी प्रतीत होने वाली अनिवार्यता मनोवैज्ञानिक है।** 'गर्मी से मोम पिघलती है' या 'पानी से प्यास बुझती है'–ये कथन सबद्ध प्रत्ययो मे किसी अनिवार्य सम्बन्ध का सकेत नही करते। उसकी सत्यता सदिग्ध है। हो सकता है कि भविष्य मे गर्मी से मोम न पिघले अथवा पानी से प्यास न बुझे।

जहाँ तक कारण–कार्य के विशेष सम्बन्धो (गर्मी तथा मोम का पिघलना, पानी तथा प्यास का बुझना आदि) का प्रश्न है, काण्ट ह्यूम से कोई मतभेद नही रखता। लेकिन ह्यूम से उसका मतभेद कही अधिक गहरा है। ह्यूम कारण–कार्य के विशेष सबधो की सभावित असत्यता से यह अनुमान लगाता है कि कारण–कार्य के सबध का प्रत्यय ही औपाधिक अथवा सायोगिक है। काण्ट की समस्या दूसरी है। कारण–कार्य के विशेष सबधो की सत्यता या असत्यता का प्रमाण इन्द्रियानुभविक निरीक्षण है। किन्तु यदि कोई विशेष सम्बन्ध असत्य प्रमाणित हो जाता है, तो उस आधार पर कारणता के सामान्य सम्बन्ध को अप्रमाणित नही माना जा सकता। काण्ट के अनुसार ह्यूम सत्य आधारवाक्य से अनुचित निष्कर्ष निकालता है।[1] काण्ट यह प्रमाणित करना चाहता है कि जब

---

1 काण्ट का दर्शन, सभाजीत मिश्र, पृ0 103

हम इन्द्रियानुभविक कारण–कार्य सम्बन्धो की चर्चा करते है, तो उस चर्चा मे कारणता का सिद्धात पूर्वनिहित होता है। यह सिद्धात स्वय औपाधिक नही है। वह ऐसा सप्रत्यात्मक सत्य है, जिसके आधार पर ही विशेष कारण–कार्य सम्बन्धो का प्रतिपादन या उनकी खोज की जा सकती है। यह वह सप्रत्यात्मक सत्य है जो मनवीय अनुभव की सरचना मे प्रागनुभविक रूप से निहित है। स्पष्ट है कि अनुभव को व्याख्यायित करने वाले इस सिद्धात की अनुभव के भीतर तलाश नही की जा सकती। जो सत्य अनुभव को सभव बनाता है उसे अनुभव से निगमित करना एक विपर्यस्त प्रयास है।[1]

जब हम काण्ट द्वारा कारणता के पक्ष मे प्रस्तुत किये गये तर्को पर दृष्टि डालते है तो यह पाते है कि अपने उपर्युक्त प्रतिपादन के लिए उसने तर्को का एक उलझा हुआ जाल बुन रखा है। यद्यपि आगे चलकर वह स्वय अनुभव करता है कि प्रत्येक अनुभवातीत सिद्धात को प्रमाणित करने के लिए केवल एक ही तर्क अपेक्षित है। किन्तु द्वितीय सादृश्य मे हम काण्ट को कम से कम छ तर्को का प्रयोग करते हुए पाते है।[2] टीकाकारो ने इस स्थिति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। **प्रोफेसर पेटन** सभी तर्को को पर्याप्त महत्वपूर्ण मानते है और उनका विशद् विवेचन करते है। **एन0के0 स्मिथ** ने **क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन** के सक्षिप्त सस्करण मे केवल तीन का उल्लेख किया है। उन्होने पहली, चौथी तथा छठी युक्तियो को छोड दिया है। **ए0सी0 ईविग** का मत है कि पॉचवी युक्ति तो स्वतत्र है किन्तु शेष सभी को एकसाथ रखा जा सकता है। यहॉ पर हम काण्ट की सभी युक्तियो का सक्षेप मे निर्देश करते हुए अत मे उस युक्ति पर कुछ विस्तार से विचार करेगे जो स्वय काण्ट के अनुसार सभी युक्तियो के मूल मे है।

---

1 To the synthesis of cause and effect there belongs a dignity which cannot be empirically expressed . If we were to treat pure concepts of understanding as merely empirical products, we should be making complete change in (the manner of) their employment – काण्ट का दर्शन–सभाजीत मिश्र, पृष्ठ 104 पर उदधृत

2 वही, पृष्ठ 104

(1) हम यह देखते है कि आभास एक दूसरे का अनुगमन करते है। इसका अर्थ यह है कि काल के विभिन्न क्षणो मे हम एक या अधिक वस्तुओ की विभिन्न अवस्थाओ को देखते है। स्पष्ट है कि ऐसे इन्द्रिय–प्रत्यक्ष मे हम दो प्रत्यक्षो या आभासो को काल के अन्तर्गत सम्बद्ध करते है। यह सम्बन्ध इन्द्रिय या सवेदन द्वारा नही स्थापित किया जा सकता। यह कार्य कल्पना की सश्लेषणात्मक शक्ति ही कर सकती है। किन्तु विचार (प्रत्यय) से अनियन्त्रित कल्पना आभासो या प्रत्यक्षो को किसी भी यानी मनमाने रूप मे सम्बद्ध कर सकती है, वह यह निर्धारित करने मे सक्षम नही है कि प्रत्यक्षो का वह क्रम वस्तुओ मे होने वाला क्रम है। अन्य शब्दो मे, मात्र कल्पना द्वारा स्थापित सम्बन्ध क्रमिक आभासो के वस्तुगत अनिवार्य कालिक सम्बन्ध का निर्देश नही कर सकता। अतएव प्रत्यक्षो मे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कल्पना ही पर्याप्त नही है, वह सम्बन्ध सप्रत्यय द्वारा विचारित होना चाहिए। और ऐसे सप्रत्यय, जो सम्बन्ध के इस विचार मे अनिवार्यता उत्पन्न कर सके, का स्रोत तर्कबुद्धि ही होगी, न कि इद्रियानुभव। यहॉ पर जो सप्रत्यय अपेक्षित है वह कारण–कार्य का प्रत्यक्ष है जो यह निर्धारित करता है कि कार्य काल के अन्तर्गत कारण के परिणाम के रूप मे नियत्रित होता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि आभासो का इन्द्रियानुभविक ज्ञान इस शर्त की अपेक्षा रखता है कि आभासो का क्रम, बल्कि समस्त परिवर्तन, कारणता के नियम से नियत्रित हो। और, क्योकि अनुभव की सभावना की शर्ते ही आभास–जगत् की सभावना की भी शर्ते है इसलिए आभास–जगत् अनिवार्य रूप से कारण–कार्य के नियम के अधीन है।[1]

(1) इस युक्ति मे काण्ट वस्तुगत क्रम का विशेष दृष्टात लेकर कारणता की अनिवार्यता सिद्ध करना चाहता है। काण्ट का यह विशेष आग्रह है कि हम

---

1 Experience itself is thus possible only in so far as we subject the succession of appearances, and therefore all alteration, to the law of causality, and as likewise follows, the appearances, as object of experience, are themselves possible only in conformity to the law वही, पृष्ठ–105 पर उद्धृत।

किसी वस्तुगत घटना या परिवर्तन को उसके पूर्ववर्ती (घटना या परिवर्तन) को देखे बिना नही देख सकते। इसका कारण यह है कि हम रिक्त काल का प्रत्यक्ष नही कर सकते, इसलिए रिक्त काल के अनन्तर घटित किसी घटना को भी नही देख सकते। यदि हमे रिक्त काल का प्रत्यक्ष सभव होता तो उस रिक्त काल मे घटनाएँ पूर्वापर सम्बन्ध मे जुडे बिना उसके किसी क्षणविशेष मे अकित हो जाती और हम उन्हे उनके समस्त सम्बन्धो से काट कर अलग से देख सकते हाते। पर काण्ट के अनुसार ऐसा असभव है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वस्तुगत घटना या क्रम की क्या विशेषता है? उसे व्यापार की दशाओ[2] से कैसे भिन्न किया जाता है ? इसको स्पष्ट करने के लिए काण्ट मकान तथा जहाज के प्रत्यक्षो का दृष्टात प्रस्तुत करता है। मकान के प्रत्यक्ष मे हमारे प्रत्यक्ष का कोई निर्धारित क्रम नही है–उसे किसी कोण से देखा जा सकता है अर्थात् मकान को ऊपर से नीचे की ओर या नीचे से ऊपर की ओर, दाहिने से बाये अथवा बाये से दाहिने या अन्य किसी क्रम मे देखा जा सकता है। इस प्रत्यक्ष मे कोई अनिवार्य पूर्वापर सम्बन्ध नही है। इसका कारण यह है कि यहॉ कोई घटना नही घट रही है बल्कि केवल हमारी ऑखो के सचालन मे परिवर्तन हो रहा है। इसके विपरीत समुद्र मे आते हुए जहाज के प्रत्यक्ष मे हमारे प्रत्यक्ष का क्रम निश्चित है यथा सर्वप्रथम उसका ऊपरी भाग दिखायी देगा और उसके बाद क्रमश निचले भाग दिखायी देगे। ऐसा नही हो सकता कि हम इच्छानुसार किसी भाग को पहले और किसी को बाद गे देखे। प्रश्न उठता है कि इन दोनो प्रत्यक्षो मे इस भेद का कारण क्या है ? काण्ट के अनुसार यह भेद इस नाते है कि प्रथम प्रत्यक्ष व्यापार की दशा रो सम्बन्ध रखता है और दूसरा 'घटना' से। अन्य शब्दो मे, प्रथम मे प्रत्यक्षगत क्रम द्रष्टा के मन के क्रम का सूचक है जबकि दूसरे मे प्रत्यक्षगत क्रम वास्तविक घटना के क्रम का निर्देश करते है। प्रथम प्रत्यक्ष का क्रम उलटा जा सकता है जबकि

---

1 State of Affairs

दूसरे के साथ यह सभव नही है, प्रथम क्रम वैयक्तिक है दूसरा वस्तुगत है। वस्तुगत प्रत्यक्ष मे क्रम निर्धारित होते है वैयक्तिक क्रमो को इच्छानुसार परिवर्तित किया जा सकता है। काण्ट यहॉ पर इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर देता है कि हम वैयक्तिक क्रम तथा वस्तुगत क्रम के भेद को भलिभॉति समझते है। और यदि कोई क्रम वस्तुगत है तो इसका तात्पर्य यह है कि हमारे प्रत्यक्षो मे एक निश्चित व्यवस्था या क्रम है। हमारा वस्तुगत प्रत्यक्ष किसी नियम से नियत्रित है।

अतएव जब हम किसी वस्तुगत क्रम का प्रत्यक्ष करते होते है तो हमारे प्रत्यक्ष का वह क्रम प्रत्यक्षगत आभास (उदाहरण मे जहाज) के क्रम के अनुसार अथवा उससे निर्धारित होना चाहिए अन्यथा हमारे प्रत्यक्ष का क्रम सर्वथा स्वतन्त्र और यदृच्छ होगा तथा हम यह कहने की भी स्थिति मे न होगे कि काल के अन्तर्गत घटित होने वाली घटनाओ, जिनका कि हम प्रत्यक्ष कर रहे है, मे कोई वास्तविक कालगत भेद है अथवा नही। इस प्रकार हम यह देखते है कि आभासो के वस्तुगत क्रम का अर्थ आभासो के प्रदत्त विविधको के उस क्रम से है, जिसके अनुसार आगामी घटना का बोध पूर्वगामी घटना के अनन्तर किसी नियम के द्वारा प्राप्त होता है। यही नियम कारणता का नियम है। इस के आधार पर हम यह कह पाते है कि आभासो या वस्तुओ या घटनाओ मे क्रम है। इस क्रम का आशय यह है कि हम प्रत्यक्षो को पूर्वापर सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य क्रम मे व्यवस्थित या सम्बद्ध नही कर सकते।[1] इस पूर्वापर क्रम मे पूर्वगामी घटना या कारण परवर्ती अर्थात् कार्य को निर्धारित करती है।

---

1 we must derive the subjective succession of apprehension from the objective succession of appearances Otherwise the order of apprehension is entirely undermined and does not distinguish one appearance from another The objective succession will therefore consist in that order of the manifold of appearance according to which in conformity with a rule, the apprehension of that which happens follows upon the apprehension of that which precedes I cannot arrange the apprehension otherwise than in this very succession – वही पृष्ठ–106 पर उद्धृत।

(3) तीसरी युक्ति वस्तुत एक अप्रत्यक्ष युक्ति है तथा वह द्वितीय युक्ति को पुष्ट करती है। थोडी देर के लिए यह मान लिया जाय कि द्वितीय तर्क असत्य है, अर्थात् किसी घटना की कोई ऐसी पूर्ववर्ती शर्त नही है जिसका यह नियमत अनुगमन करती है। ऐसी दशा मे प्रत्यक्ष के सभी क्रम मात्र प्रत्यक्ष की ही क्रिया मे निहित होगे। अन्य शब्दो मे, वे क्रम वैयक्तिक होगे और तब हमारे प्रत्यक्षो का सारा क्रम केवल 'विचारो का खेल होगा, उसका वस्तु से कोई सम्बन्ध नही होगा।'[1] अन्य शब्दो मे, हम अपने प्रत्यक्षो के द्वारा दो वस्तुओ के कालगत सम्बन्धो मे कोई भेद नही कर सकेगे। हम अधिक से अधिक इतना ही कह सकेगे कि एक प्रत्यक्ष दूसरे का अनुगमन करता है किन्तु प्रत्यक्षो का अनुगमन सवादी घटनाओ के अनुगमन का निर्देश नही कर सकेगा। अतएव यदि हम यह मानते है कि हम किसी वस्तुगत घटना को देख रहे है तो हमे यह मानना पडेगा कि उस घटना की कोई पूर्ववर्ती शर्त या घटना है जिसका वह किसी निश्चित नियम के अनुसार अनुगमन करती है। इस मान्यता के बिना हम वस्तुगत जगत् के क्रम की कोई चर्चा नही कर सकते। क्रमो की सारी चर्चा हमारे प्रत्यक्षो या अनुभवो के क्रम की चर्चा होगी।[2] पूर्वचर्चित मकान के प्रत्यक्ष मे यह सर्वथा स्पष्ट है–हम यह नही कह सकते कि मकान का प्रत्यक्ष किसी घटना का प्रत्यक्ष है क्योकि यहॉ कुछ वस्तुगत रूप से घटित नही हो रहा है, बल्कि जो कुछ घट रहा है, वह हमारी दृष्टि सचालन की प्रक्रिया के रूप मे घट रहा है जो कि आत्मगत क्रिया है, वस्तुगत परिवर्तन नही।

---

1 वही, पृ0 107

2 If then, we experience that something happens, we in so doing always presuppose that something procedes it Otherwise I should not say of the object that it follows For mere succession in my apprehension does not justify me in assuming any succession in the object वही, पृ0 107

(4) चौथी युक्ति मे काण्ट कोई नवीन बात नही कहता। इसमे पहली युक्तियो का ही विस्तार और पुनरावृत्ति है। इसके अतिरिक्त, इसमे काण्ट अपने आलोचनात्मक दर्शन के इस केन्द्रीय सिद्धात को पुन दुहराता है कि हमारी बुद्धि के सप्रत्यय पदार्थों पर एक अनिवार्य व्यवस्था या क्रम आरोपित करते हुए उन्हे एक अनिवार्य नियम का विषय बना देते है। और पुन वह कहता है कि हमारे प्रत्यक्षो का क्रम अपने आप मे यह सिद्ध नही करता कि वह क्रम प्रत्यक्षगत वस्तु का क्रम है। किन्तु जब हम यह देखते हे कि हमारे प्रत्यक्ष मे विचार या स्थिति किसी नियम के अनुसार पूर्वगामी अवस्था का अनुसरण करते है तो हम कहते है कि हम किसी घटना या वस्तुपरक स्थिति का प्रत्यक्ष कर रहे है।

(5) पॉचवी युक्ति अन्य युक्तियो से किंचित् भिन्न है। यह कालप्रवाह की दिशा तथा काल के अन्तर्गत आभासो के प्रवाह की दिशा को दृष्टि मे रखकर प्रतिपादित की गयी है। पूर्ववर्ती काल परवर्ती को अनिवार्यत निर्धारित करता है क्योकि हम परवर्ती काल तक पूर्ववर्ती काल के ही माध्यम से पहुँच सकते है। काल के अन्तर्गत सम्बन्ध की यह निरन्तरता केवल आभासो के भीतर देखी जाती है। इसलिए पूर्ववर्ती घटना परवर्ती घटना को निर्धारित करती है। इस युक्ति से एक भ्रामक ध्वनि निकलती है जिससे बचना चाहिए। वह भ्राति 'निर्धारित' शब्द से होती है जिसे यो समझा जा सकता है हम 1997 के माध्यम से होकर ही 1998 तक पहुँच सकते है, इस अर्थ मे 1997 को 1998 से निर्धारित माना जा सकता है, किन्तु इससे यह अर्थ नही निकलता कि 1997 की घटनाये 1998 के द्वारा कार्य के रूप मे नियन्त्रित है। काण्ट वास्तव मे यहॉ पर काल की निरतरता को अपनी युक्ति का मुख्य आधार बना रहा है काल का अनुभव या प्रत्यक्ष तो हो नही सकता। इसलिए काल की निरतरता का बोध परिवर्तन की निरतरता के द्वारा ही होता है। हमारे प्रत्यक्षगत विचारो का क्रम अनिवार्य होता है और हमारे विचारो के क्रम की अनिवार्यता पदार्थ या घटना के अनिवार्य क्रम की भी सूचक है। यहॉ यह स्मरण रखना चाहिए कि वस्तु या घटना का अर्थ अपने–आप मे वस्तु नही है। अपने आप मे –वस्तु के सम्बन्ध मे

हम अपने प्रत्यक्ष के आधार पर कुछ कह नही सकते। सदर्भगत वस्तु हमारे ही सप्रत्ययो की व्यवस्था (सिस्टम) है, इसलिए हमारे सप्रत्ययो की क्रमिक अनिवार्यता निश्चय ही पदार्थ की भी क्रमिक अनिवार्यता का प्रमाण (काण्ट की कॉपरनिकसीय क्रान्ति–बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है) का यह महत्त्वपूर्ण परिणाम है।

कारणता के लिए प्रस्तुत उपर्युक्त तर्कों पर उनकी सपूर्णता मे विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि काण्ट की सारी समस्या मूलत एक प्रश्न के इर्द–गिर्द घूमती है भौतिक पदार्थों सम्बन्धी हमारे ज्ञान या निर्णय को मात्र कल्पना से कैसे भिन्न किया जा सकता है ? और यदि हम विज्ञान तथा स्वप्न मे भेद करना चाहते है तो इस प्रश्न का समुचित उत्तर देना अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। काण्ट के लिए तो यह प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण था क्योकि प्रत्ययवादी होने के साथ प्राकृतिक विज्ञानो के प्रति भी उसकी प्रतिबद्धता कोई कम न थी। प्रश्न का उत्तर देने के लिए काण्ट वस्तुओ या घटनाओ के कालगत क्रम पर विचार करते हुए प्रश्न उठाता है कि हम वस्तुगत क्रम तथा आत्मगत क्रम मे किस प्रकार भेद करते है ? इस प्रश्न पर पूर्वगामी विवेचन मे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। हम देख चुके है कि इस भेद का आधार यह है कि कतिपय प्रत्यक्षो के क्रम को हम इच्छानुसार उलट सकते है (मकान का प्रत्यक्ष) और किन्ही के क्रम परिवर्तनीय नही होते, उनमे एक अनिवार्यता होती है (जहाज का प्रत्यक्ष)। परिवर्तन की अवधारणा मे कारणता का सप्रत्यय निहित है। इसके अतिरिक्त, इद्रियानुभविक ज्ञान मे तर्कबुद्धि के योगदान की ओर भी काण्ट हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। तर्कबुद्धि ही ज्ञान को सम्भव बनाती है, उसके बिना हमे वस्तुओ का कोई ज्ञान नही हो सकता। कारणता मे निहित वस्तुगत क्रम भी इसी तर्कबुद्धि की ही देन है, क्योकि यही आभासो को काल–क्रम प्रदान करती है। ऐसा वह दो घटनाओ मे प्रागनुभाविक रूप से कालिक सम्बन्ध स्थापित करके करती है जिससे परवर्ती को पूर्ववर्ती के कार्य के रूप मे देखा जाता है। जैसा कि हम जानते है काण्ट अनुभवातीत निगमन मे कहता है कि जिसे हम 'पदार्थ' कहते है वह आभासो या प्रतिनिधानो (रिप्रेजेन्टेशस) के अनिवार्य सबध

की एकता है। स्पष्ट है कि क्रमिक घटनाओ की अनिवार्य सबद्धता मे कारणता का प्रत्यय निहित है।

(6) यह युक्ति वस्तुत द्वितीय सादृश्य की युक्तियो का साराश है, जिसमे काण्ट अपनी समूची युक्ति के विभिन्न कदमो (मोमेट्स) को अलग–अलग करके प्रस्तुत करता है। अत्यत सरल ढग से इन कदमो को निम्न रूप मे रखा जा सकता है[1]–

(क) समस्त इद्रियानुभविक ज्ञान मे कल्पना द्वारा विविधको का सश्लेषण निहित होता है और यह सश्लेषण क्रमिक होता है।

(ख) मात्र कल्पना मे विचारो के क्रम सर्वदा अनिर्धारित होते है, कोई विचार किसी भी विचार के पहले या बाद मे आ सकता हे।

(ग) किन्तु यदि सश्लेषण किसी प्रदत्त आभास के विविधको के अवग्रहण (अवबोध) का सश्लेषण है तो वह क्रम पदार्थ मे निर्धारित होता है, या यो कहा जाय कि वह ऐसा क्रमिक सश्लेषण है जो पदार्थ को निर्धारित करता है। तात्पर्य यह है कि जब हमारा सम्बन्ध वस्तुगत क्रम से होता है तो क्रम की यह अनिवार्यता कारणता के नियम से आविर्भूत होती है और, चूँकि विज्ञानो के अतर्गत हम वस्तुगत घटनाओ का अध्ययन करते है, (न कि अपनी कल्पनाजन्य स्थितियो का), इसलिए समस्त वैज्ञानिक ज्ञान की सरचना मे कारणता का सप्रत्यय प्रागनुभविक रूप से विद्यमान है। वस्तुगत घटना की कोई सार्थक चर्चा कारणता के प्रत्यय को स्वीकार किये बिना नही हो सकती और, क्योकि इद्रियानुभविक जगत् घटनाओ का जगत् है, इसलिए उसकी भी प्रागनुभविक सरचना मे कारणता का सिद्धात अनुस्यूत है।

उपर्युक्त कथन के काण्टीय महत्व को पूरी तरह सराहने के लिए हमे एक बार पुन ह्यूम की ओर लौटना होगा। काण्ट तथा ह्यूम के विवाद का मुख्य

---

1 Kant's Metaphysic of Expeııence, Vol II, pp 257-61

मुद्दा यह प्रश्न है कि क्या कारणता का ज्ञान इद्रियानुभविक विश्लेषण से ग्राह्य या सुलभ है ? हम जानते है कि ह्यूम इस प्रश्न का भावात्मक उत्तर देता है और काण्ट नकारात्मक। किन्तु काण्ट के समीक्षको के लिए यह अभी भी विवाद का विषय बना हुआ है कि क्या काण्ट ह्यूम द्वारा उठाये गये प्रश्न का समुचित उत्तर दे सका है ? उदाहरणार्थ, **जे0जी0 मर्फी का विश्वास है कि वस्तुत ह्यूम की ही कारणता की** व्याख्या उचित है तथा ह्यूम के तर्कों का खडन करने के लिए काण्ट स्वय ह्यूम के ही तर्कों का प्रयोग करता है।[1] मर्फी का तर्क यह है कि जब काण्ट क्रम की अपरिवर्तनीयता के आधार पर घटना और अघटना मे भेद करता है तो वह वस्तुत इस भेद को पूर्वस्वीकार कर लेता है और यही पूर्वस्वीकृति ह्यूम की भी है, क्योकि ह्यूम के अनुसार घटना हमे प्रत्यक्षत प्रदत्त होती है, उसका निर्देश करने के लिए किसी सप्रत्यय (काण्ट के अनुसार कारणता) की आवश्यकता नही होती। अतएव काण्ट कारणता के प्रतिपादन मे ह्यूम–विरोधी दृष्टि अपनाते हुए भी ह्यूम के ही तर्क का प्रयोग करता है। और जिस अनुभववादी मान्यता क उसे खण्डन करना चाहिए उसी का प्रयोग करके काण्ट स्वय ह्यूम के लिए बिछाये गये अपने ही जाल मे फॅस जाता है।

मर्फी के इस आरोप का उत्तर देते हुए **लेविस ह्वाइट बेक** का कहना है कि स्थिति ठीक विपरीत है, अर्थात् कारणता का खडन करने के लिए ह्यूम ही काण्टीय तर्कों का प्रयोग कर रहा था।[2] ह्यूम कारणता के प्रत्यय को एक ओर तो चुनौती देता है किन्तु दूसरी ओर वह उस प्रत्यय का प्रयोग करना भी जानता है। क_ख का कारण है–इसे समझने के लिए (भले ही उसका खडन करना हो) दो बाते आवश्यक है

(1) क का प्रत्यक्ष एक 'घटना' का प्रत्यक्ष है, न कि किसी व्यापार की दशा का (जैसे मकान का प्रत्यक्ष)।

---

1 Ratio, Vol XI, No 1, June 1969, pp 71-76

2 वही, पृष्ठ 82–87

(2) ख का प्रत्यक्ष, जो पुन एक अन्य घटना है तथा जो क का नियमित रूप से अनुगमन करता है। इसमे दूसरी बात आगमनात्मक विधि से जानी जाती है। ह्यूम तथा काण्ट इस पर सहमत है। किन्तु काण्ट कहता है, पहली बात इद्रियानुभविक विधि से नही जानी जा सकती। इसको जानने के लिए यह निश्चय होना नितात आवश्यक है कि अनेक प्रत्यक्षो मे से कौन घटना के प्रत्यक्ष है तथा कौन परिवर्तनीय व्यापारो के। ह्यूम इस प्रश्न पर विचार ही नही करता, वस्तुत काण्ट के पहले किसी ने भी इस पर विचार नही किया था। काण्ट का स्पष्ट प्रतिपाद्य है कि किसी प्रत्यक्ष को घटना के प्रत्यक्ष के रूप मे पहचानने के लिए इस नियम को स्वीकार करना आवश्यक है कि उन प्रत्यक्षो मे घटनाओ के द्वारा ही एक प्रागनुभविक क्रम निर्धारित किया गया है, तथा वे घटनाये स्वय एक निश्चित कालिक क्रम मे है। हॉ, यह सर्वथा अलग प्रश्न है कि किसका क्रम क्या है ? कौन पूर्ववर्ती है और कौन परवर्ती ? कारण–कार्य के ऐसे विशेष सम्बन्धो की तलाश इद्रियानुभव के भीतर ही सभव है–काण्ट इस ह्यूमवादी मान्यता को स्वीकार करने मे कोई सकोच नही करता। किन्तु कारण–कार्य के सप्रत्यय का इद्रियानुभविक निगमन नही हो सकता क्योकि जिसे हम इद्रियानुभव कहते है, उसकी सभावना और सार्थकता कारणता के सप्रत्यय के प्रागनुभविक प्रयोग पर अवलबित है। कारणता का यह सिद्धात मात्र नियामक सिद्धात है। यह हमे इद्रियानुभव की सरचना का ज्ञान कराता है। इससे आगे वह इद्रियानुभविक जगत् के बारे मे कोई तथ्यात्मक सूचना नही प्रदान करता। यह कार्य सम्बद्ध विज्ञानो या अध्ययनो का है।

ह्यूम तथा काण्ट की सहमति और असहमति को निम्न तर्कवाक्यीय रूप मे प्रस्तुत करके हम यह देखेगे कि किस प्रकार ह्यूम जिसका खडन करता है, उसी की अप्रत्यक्ष स्वीकृति उस खडन मे विद्यमान है। K अक्षर के द्वारा हम उस तर्कवाक्य को व्यक्त कर रहे है जिसे काण्ट स्वीकार करता है और जिसका ह्यूम खडन करता है। H अक्षर के द्वारा वह तर्कवाक्य प्रस्तुत किया जा रहा है, जो ह्यूम को (और सयोगवश काण्ट को भी) स्वीकार है, तथा P वह तर्कवाक्य है जो K को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त है। यदि हम यह देख सके कि H की सत्यता

P पर निर्भर करती है तो वही काण्ट का ह्यूम के लिए उत्तर सिद्ध हो जाएगा। इसे यो देखा जाय

K हर वस्तु जो कि घटती या प्रारम्भ होती हे, किसी ऐसी वस्तु को पूर्व स्वीकार करती है जिसका वह नियमानुसार अनुगमन करती है। (द्वितीय सादृश्य)

P घटनाओ को आत्मगत व्यापार की दशाओ से अलग किया जा सकता है, भले ही दोनो का बोध क्रमिक हो (कारणता की चर्चा करने के लिए इतना तो ह्यूम को भी मानना पडेगा)

H हम इद्रियानुभव मे घटनाओ के ऐसे जोडो को देखते है जिनकी पुनरावृत्ति होती है अर्थात् उन दोनो को उसी क्रम मे बार–बार देखा जाता है। इस पर हम यह आगमनात्मक निष्कर्ष निकालते है कि उनमे से प्रथम घटना दूसरे की कारण है (कारण–कार्य के विशेष सम्बन्धो को इसी प्रकार निर्धारित किया जाता है)।

हम देखते है कि P तर्कवाक्य K को आपादित करता है क्योकि द्वितीय सादृश्य के तर्क इसको स्पष्टत प्रतिपादित करते है, तथा HP को आपादित करता है, क्योकि यदि घटनाओ मे भेद नही किया जा सकता तो घटनाओ के जोडो का भी निर्धारण नही हो सकता, इस प्रकार PH की एक अनिवार्य शर्त है।

अब हम यह देखते है कि

$$H \supset P$$

$$P \supset K$$

$$H \supset K$$

स्पष्ट है कि काण्टीय कारणता के सिद्धात को स्वीकार किये बिना ह्यूम कारणता के सम्बन्ध मे कोई सार्थक बात नही कर सकता। उसकी कारणता की मीमासा के मूल मे काण्टीय मान्यता विद्यमान है।[1]

निष्कर्ष के रूप मे हम यह कह सकते है कि कारणता के सिद्धात द्वारा काण्ट मानवीय अनुभव, विशेष वस्तुगत क्रम का अनुभव, का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहा है। वस्तुगत क्रम की अनुभूति अनिवार्य क्रम की अनुभूति होती है, विपरीतत यदि अनुभूतिगत क्रम अनिवार्यता से नियत्रित नही है तो वह वस्तुगत क्रम की अनुभूति नही है। तब सब कुछ 'अधे विचारो का खेल' होगा, जिसे वास्तविक अर्थ मे अनुभव नही कहा जा सकता। जब हम किसी वस्तुगत क्रम को देखते है, जिसमे एक घटना ख अन्य घटना क का अनुगमन करती है तो इसका तात्पर्य यह है, कि हमारा प्रत्यक्ष ख निश्चित रूप से प्रत्यक्ष क के बाद आना चाहिए। काण्ट के आलोचनात्मक दर्शन के अनुसार प्रत्यक्षो का क्रम तथा घटनाओ का क्रम वस्तुत दो क्रम तो है नही, क्योकि प्रत्यक्षगत घटनाये आभास है, अपने–आपमे वस्तु नही, इसलिए जब भी हम वस्तुगत क्रम का अनुभव करते है तो घटना ख निश्चय ही घटना 'क' की परवर्ती या अनुगामी होगी।

इसी को समूचे द्वितीय सादृश्य की केन्द्रीय और एकमात्र युक्ति कहा जा सकता है। अन्य युक्तियॉ सहायक युक्तियॉ है तथा इसी की विस्तार है। स्वय काण्ट ने इसे स्वीकार किया है।[2]

---

1 Lewis White beck Once more onto the Beach, Ratio, Vol IX, June, 1967, No 1

2 We derive the principle that everything which happens has a cause from the condition under which alone, a concept of happening in general is objectively possible-namely, by showing that the determination of an event in time, and therefore the event as belonging to experience would be impossible save as standing under such a dynamical rule वही पृष्ठ 112 पर उद्धृत।

काण्ट का कारणता का विवरण अधूरा रह जायेगा यदि इस सदर्भ मे आधुनिक विज्ञान के अनिर्धारणवाद सिद्धात[1] की चर्चा न की जाय। अनिर्धारणवाद का सिद्धान्त एक बार पुन यह प्रतिपादित करता है कि कारणता के सम्बन्ध मे ह्यूम की ही दृष्टि सही थी न कि काण्ट की। अन्य शब्दो मे, कारणता का सम्बन्ध न तो वस्तु का लक्षण है और न ही वस्तुगत अनिवार्यता का, वह आत्मगत सिद्धान्त है तथा उसकी अनिवार्यता भी आत्मगत है। अनिर्धारणवादी सिद्धात के अनुसार प्रकृति के नियम अध्ययन अथवा गणना के लिये नियमो की पूर्ण सूची नही प्रदान करते। वे नियम केवल सभाव्यताओ तक ही सीमित रहते है। भौतिक विज्ञान बाह्य जगत् से प्राप्त होने वाले सवेदनो के आधार पर जगत् की एक सुनिश्चित तस्वीर प्रस्तुत करना चाहता है। किन्तु उन सवेदनो के ग्रहण तथा प्रयोग करने वाली हमारी इन्द्रियो की अपनी सीमा है। टेलिस्कोप, माइक्रोस्कोप आदि परिष्कृत साधनो से युक्त होते हुए भी वह बाह्य जगत् की अति सूक्ष्म सवेदनाओ को ग्रहण करने मे असमर्थ है और उसकी एक कमी तो कोई भी यन्त्र दूर नही कर सकता–**वे फोटोन से छोटी इकाई के द्वारा प्रेषित सदेश को ग्रहण ही नही कर सकते। क्योकि, फोटोन ऊर्जा के परिमित कण है, इसलिए हमारी इन्द्रियॉ जगत् का असीमित एव सूक्ष्मतम स्वरूप नही प्रस्तुत कर सकती**, वे जगत् की एक स्पष्ट, अधूरी और अनिश्चित तस्वीर ही प्रस्तुत कर सकती है। इसी सिद्धात का भौतिकवादी निष्कर्ष अनिर्धारणवादी सिद्धात है। तरग–यान्त्रिकी (वेव मेकेनिक्स) के अनुसार विभिन्न तरग पैकेट इलेक्ट्रॉन की विभिन्न स्थितियो का निर्देश करते है। मान ले कि किसी तरग पैकेट का दैर्ध्य (लेथ) अति सूक्ष्म यानी मात्र बिन्दु के बराबर है। ऐसा तरग पैकेट इलेक्ट्रॉन की सभी स्थितियो का निर्देश करने वाला तो होता है किन्तु बिन्दु प्रमाण वाले इस तरग पैकेट का किसी भी तरग–दैर्ध्य (वेब लेथ) से कोई सम्बन्ध नही हो सकता, अतएव उसमे तरग के कोई गुण उत्पन्न नही हो सकते और इसी नाते वह इलेक्ट्रॉन की गति के सम्बन्ध मे कुछ भी सकेत नही कर सकता। अब यदि तरग–पैकेट के दैर्ध्य को धीरे–धीरे बढा दिया जाय तो

---

1 Theory of Indeterminacy

उसमे तरग के निश्चित गुण उत्पन्न हो जायेगे और अन्त मे वह पैकेट तरगो की अनत श्रृखला का रूप ले लेगा। यह तरग श्रृखला जिस इलेक्ट्रॉन का निर्देश करेगी, उसकी गति तो पूर्ण निश्चितता के साथ बताई जा सकेगी, लेकिन उसी के साथ यह भी होगा कि उस श्रृखला के भीतर इलेक्ट्रॉन की स्थिति सर्वथा अनिश्चित हो जायेगी। वह तरग पैकेट तरगो की एक अन्तहीन तथा लक्षणहीन श्रृखला मे परिवर्तित हो जायेगा जिसमे इलेक्ट्रॉन को किसी विशेष स्थान पर निर्दिष्ट करने का कोई आधार नही होगा। इस प्रकार हम देखते है कि तरगो की कम दैर्ध्य वाली श्रृखला इलेक्ट्रॉन की देश मे स्थिति को बता सकती है किन्तु उसकी गति को निर्धारित नही कर सकती और उसी प्रकार अधिक दैर्ध्य वाली तरग श्रृखला गति का निर्धारण कर सकती है, किन्तु देश मे इलेक्ट्रॉन की स्थिति को कोई निर्देश नही कर सकती। हाइजेनवर्ग के इस सिद्धान्त को इस सूत्र द्वारा व्यक्त किया जाता है $(x)(p) \geqq \mu/2\pi$ । कोई ऐसा तरग पैकेट नही हो सकता जो पूर्ण निश्चितता के साथ इलेक्ट्रॉन की गति और स्थिति दोनो का निर्देश कर सके।[1] अन्य शब्दो मे, जिस अनुपात मे गति मे अनिश्चितता होगी उसी अनुपात मे स्थिति मे अनिश्चितता होगी। यही बात अन्य भौतिक सत्ताओ जैसे काल तथा ऊर्जा के सम्बन्ध मे भी लागू होती है। **अतएव प्रकृति मे कोई अनिवार्य नियम नही होते। प्रकृति के नियम मात्र समरूपताये है, जिनके पीछे ऐटम, इलेक्ट्रॉन तथा क्वाटा के अनिश्चित व्यवहार छिपे होते है।**

उपर्युक्त अनिर्धारणवाद के अति तकनीकी एव जटिल स्वरूप का अति सक्षिप्त तथा सरलीकृत विवरण है। कारणता की दृष्टि से इस सिद्धात का खतरनाक परिणाम स्पष्ट है। यदि इस सिद्धात का मात्र यही अर्थ होता कि काण्ट का कारणता का सिद्धात दोषयुक्त है तब तो बात उतनी गभीर न होती, क्योकि हम यह मानते है कि काण्ट का कारणता का प्रतिपादन सर्वथा पूर्ण एव दोषरहित नही है, उसमे परिष्कार करने की सभावना तथा आवश्यकता है और

1 अनिर्धारणवाद के प्रतिनिधि वैज्ञानिक हाइजेनवर्ग तथा श्रोडिगर है। James Jeans Physics and Philosophy, Cambridge University Press, 1948, p 142, 169

उसे नये सिरे से पुन प्रस्तुत भी किया जा सकता है।[1] काण्ट के तर्कों के विरूद्ध सभी सभव आलोचनाओ या आरोपो का निराकरण करना हमारा लक्ष्य भी नही है। किन्तु अनिर्धारणवाद का आक्रमण–बिन्दु स्वत कारणता का सिद्धात है अर्थात् वह यह सिद्ध करना चाहता है कि कारणता का सिद्धात कोई सिद्धात ही नही है तथा भौतिक जगत् की व्याख्या के लिए उसका कोई उपयोग नही है अनिवार्य उपयोग की बात तो दूर की है। यदि ऐसा है तब तो काण्ट की युक्तियो का मेरूदड ही टूट जाता है। पर प्रश्न यह उठता है कि क्या कारणता के सिद्धात को एक किनारे रखकर हम भौतिक जगत् का कोई बोधगम्य तथा सार्थक वर्णन कर सकते है ? इसी प्रश्न के उत्तर मे कारणता के सिद्धात की स्वीकृति या अस्वीकृति निहित है। जैसा कि द्वितीय सादृश्य तथा अनुभवातीत निगमन के तर्कों से सर्वथा स्पष्ट हो गया है, कारणता, एकता तथा द्रव्य आदि की कोटियॉ किसी भी इन्द्रियानुभव की सरचना के लिए अनिवार्य सप्रत्यय है। ऐसा नही है कि उनके अभाव मे एक अन्य प्रकार के जगत् या इद्रियानुभव की सरचना होगी, बल्कि वास्तविकता यह है कि उनके बिना किसी भी प्रकार की सरचना, जिसे पदार्थ इद्रियानुभव या जगत् की सज्ञा दी जा सके, असभव है। यही नही, इलेक्ट्रॉन, बेव अथवा क्वाटा के व्यवहार मे निहित अनिश्चितता को समझने के लिए भी कारणता के सप्रत्यय का सहारा लेना आवश्यक है। उनके व्यवहार मे जो भी अनिश्चितता हो, उस अनिश्चितता को इगित करने के लिए इलेक्ट्रॉन आदि की पहचान तथा उन्हे अन्य सत्ताओ से अलग करना तो आवश्यक ही होगा। उनके व्यवहार मे अनिश्चितता तथा परिवर्तनीयता के बावजूद उनके स्वरूप मे एक सवादी निश्चितता अवश्य होगी। तभी हम यह कह भी सकते है कि इलेक्ट्रॉन की गति अथवा स्थिति मे अनिश्चितता है। अन्य शब्दो मे, एकता तथा कारणता के सप्रत्यय उनकी अतरचना मे निहित है अन्यथा उसके सम्बन्ध मे कोई सार्थक चर्चा ही नही की जा सकती। यही बात

---

1 काण्ट की ही युक्तियो के आधार पर इस सिद्धात को पुन प्रस्तुत करने का एक ऐसा प्रयास पी0एफ0 स्ट्रासन के द्वारा किया गया है, देखिए उनका ग्रथ Bounds of sense, p 141ff

प्रोटोन आदि के सम्बन्ध मे भी सत्य है। पूर्णतया अनिर्धारित इकाइयो को लेकर जगत् की कोई सरचना सम्भ्व नही है। जगत् की सरचना इसी नाते सम्भव है क्योकि भौतिक सत्ताये यदि किन्ही दृष्टियो से अनिर्धारित होती है तो किसी अन्य पक्ष मे निर्धारित तथा निश्चित भी होती है। कारणता की स्थापना के लिए यही पर्याप्त है। कारणता के प्रत्यय के बिना भैतिक जगत् की सरचना करने का कोई भी दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक प्रयास प्रारम्भ से ही निष्फल है। किचित् भावुकता के साथ **प्रोफेसर ए0सी0 मुकर्जी** कारणता के इसी पक्ष की ओर सकेत करते है 'यदि अतत कारणता के सिद्धात के ही अवशेषो पर अनिर्धारणवाद का निर्माण होना था तो यह भाग्य की विडबना ही थी कि ह्यूम के द्वारा कारणता का खडन करने से काण्ट की हठवादी निद्रा टूटी थी'। किन्तु काण्ट के प्रयास व्यर्थ नही गये है। अनिर्धारणवाद कारणता का निषेध नही करता।[1] अनिर्धारणवाद की भी अपनी सीमा है। **सर एडिगटन जैसे वैज्ञानिक इस बात की आवश्यकता का अनुभव करते है कि वैज्ञानिको को भौतिक जगत् की ऐसी सरचना की ओर अग्रसर होना चाहिए। जिसमे कारणता का तथा क्वाटम सिद्धातो का सामजस्य हो। एडिगटन** का यह भी विश्वास है कि यद्यपि भौतिक जगत् किन्ही वस्तुगत, अनिवार्य नियमो द्वारा निर्धारित नही है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नही है कि भौतिक घटनाओ का व्यवहार सयोग द्वारा नियन्त्रित है। वस्तुत जगत् मे वस्तुगत नियमो का निषेध भौतिक विज्ञान की प्रतिज्ञा या प्राक्कल्पना न होकर उसके अध्ययन–विषय की सीमा है। जब उसमे ऐसी घटनाये घटती है जिन्हे सयोग के अन्तर्गत नही रखा जा सकता तो यह कह दिया जाता कि वे भौतिकी से बाहर किसी अन्य सत्ता की अभिव्यक्ति है। **इसका अर्थ यह है कि भौतिकी निर्णायक रूप से कारणता का न तो निषेध करती है और न कर ही सकती है, भले ही अभी वह अपना कार्य अनिर्धारणवाद से चला रही हो।**[2] उसका साक्षात्कार ऐसी घटनाओ से होता रहता है जो नियम, अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता के लक्षण से युक्त प्रतीत

---

1 काण्ट का दर्शन, सभाजीत मिश्र, पृ0 115

2 वही, पृष्ठ 115

होते है। वैज्ञानिक उनकी व्याख्या नही कर सकता क्योकि उसकी व्याख्या का प्रयास उसकी प्रयोगशाला की सीमाओ से बॅधा होता है। किन्तु वह अनुभव करता है कि वास्तविकता के ऐसे आयाम है जो अभौतिक है, किन्तु भौतिक को जानने तथा समझने मे जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।[1]

1 वही, पृष्ठ 116 पर

अध्याय –६

समकालीन मत

कारणता सिद्धान्त दर्शन जगत का बहुचर्चित व विवादास्पद सिद्धान्त रहा है। प्राचीन पाश्चात्य दर्शन मे इस सिद्धान्त पर व्यवस्थित चिन्तन अरस्तू करता है और उपादान, निमित्त, आकारिक व लक्ष्य कारण की विवेचना प्रस्तुत करता है। वस्तुत अरस्तू के समय मे तत्कालीन चिन्तन की यह मॉग थी कि किसी घटना या परिवर्तन मे कौन से कारको की भूमिका होती है। परन्तु आगे चलकर जब आधुनिक युग मे वैज्ञानिक चिन्तन का सूत्रपात हुआ तो ह्यूम द्वारा इस समस्या को एक नया आयाम मिला तदुपरान्त मिल और काष्ट ने इस क्षेत्र मे महती भूमिका अदा की।

किन्तु समकालीन पाश्चात्य दर्शन मे इस समस्या की पहली वैचारिक पृष्ठभूमि एफ एच ब्रेडले के दर्शन मे देखने को मिलती है। चूँकि ब्रेडले एक विज्ञानवादी व तत्वमीमासक था, फलत वह अपने दर्शन के केन्द्रीय दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य मे ही कारणता सिद्धान्त की विवेचना करता है। अन्तत ब्रेडले यह दिखाता है कि बुद्धि परिवर्तन या कारणता की समस्या का समाधान नही कर पाती है। वास्तव मे बुद्धि के पास इस बात का कोई सन्तोषजनक उत्तर नही है कि क्यो एक वस्तु अपने से भिन्न रूप मे परिवर्तित हो जाती है। साथ ही जो बुद्धि को सन्तोष न प्रदान कर सके वह ब्रेडले की भाषा मे **'आभास** ही हो सकता है। अत कारण–कार्य का सम्बन्ध आभासमात्र है, सत् नही। इसीप्रकार ए0ई0 टेलर ने अपनी तत्वमीमासा मे कारणता की विस्तृत विवेचना करता है। ए ई टेलर **ज्ञानातीत कारणता** व **अर्न्तव्याप्त कारणता** मे भेद करते हुये यह दिखाते है कि सारी कारणता अन्तिम रूप मे अयथार्थ अथवा अपूर्ण आभास रह जाती है।[1]

---

1 तत्वमीमासा पृष्ठ – 242

किन्तु समकालीन दर्शन मे इन तत्वमीमासको के अतिरिक्त रसेल, जेम्सवार्ड, स्टेबिग, एस एलेक्जेन्डर और ए सी ईविग सरीखे दार्शनिक ने इस सिद्धान्त का विस्तृत पर्यवेक्षण किया है। वास्तिव मे समकालीन दर्शन मे कारणता सिद्धान्त का उतना महत्व नही मिला, जितना कि आधुनिक पाश्चात्य दर्शन मे मिला। इसके पीछे मूल कारण यह है कि समकालीन दर्शन के भाषायी विश्लेषण दर्शन के कन्द्र मे आ गया और यह माना जाने लगा कि दार्शनिक समस्याए मूलत भाषा द्वारा जनित है। इसप्रकार समकालीन पाश्चातत्य दार्शनिको मे ए सी ईविग का मत अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योकि प्रो0 इविग अपने विश्लेषण मे कारणता सिद्धान्त की एक व्यापक रूपरेखा प्रस्तुत किये है। वस्तुत ये सम्पूर्ण कारणता विषयक मतो को तीन सिद्धान्तो मे विभाजित कर अपने विश्लेषण करे। एक व्यवस्थित रूप प्रदान करते है। इनको मानना है कि समस्त कारणता विषयक मतो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है, जो अधोलिखित है –

(1) नियमितता सिद्धान्त

(2) अनुलाग सिद्धान्त

(3) सक्रियता सिद्धान्त

इसप्रकार प्रस्तुत अध्याय मे हम मूलत ब्रेडले और ए सी ईविग के मतो का विस्तृत विवेचन करेगे।

9.1 ब्रेडले का मत –

कारणता बुद्धि की एक महत्वपूर्ण कोटि है। सामान्य जीवन और विज्ञान मे तो इस कोटि को आधारभूत मानकर निष्कर्षो को निष्कर्षित किया ही जाता है, दर्शन मे भी इसके आधार पर निष्कर्षो को प्राप्त किया जाता है। उदाहरणार्थ ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए इसका प्रयोग किया

जाता है। परन्तु जब हम तत्वमीमॉसीय दृष्टि से इसके स्वरूप को समझना चाहते है, तो हमे अनेक कठिनाईयो को सामना करना पडता है।

कारणता की कोटि वस्तुत परिवर्तन के तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए स्वीकार की जाती है। हम देखते है कि इकाई अ कालान्तर मे दूसरा रूप ग्रहण कर लेती है, अर्थात इकाई 'अ' 'ब' मे परिवर्तित हो जाती है। हम इस परिवर्तित इकाई 'ब' का कारण 'अ' को मान लेते है। इसप्रकार परिवर्तन के तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए ही हम 'कारणता ' को स्वीकार करते है।

ब्रैडले द्वारा प्रस्तुत सन्दर्भ मे दो निष्कर्षो को स्थापित करने की चेष्टा की गई है। **प्रथम** मे तो कार्य–कारण सम्बन्ध की मूल असगतियो को अनावृत किया गया है और **दूसरे** काल की सातत्यता से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है।

ब्रैडले कार्य–कारण सम्बन्ध का तार्किक परीक्षण करते हुए उससे सम्बन्धित अनेक कठिनाईयो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते है। सर्वप्रथम ब्रैडले, यह प्रश्न करते है कि क्या ये इकाइयॉ (कार्य और कारण) वस्तुत एक ही है अथवा ये एक दूसरे से भिन्न है ? प्रत्युत्तर मे वे कहते है कि ये दोनो इकाइयॉ अ (कारण) और 'ब' (कार्य), एक नही हो सकती क्योकि यदि ये एक होती तो हम इन्हे भिन्न–भिन्न नामो से व्यक्त न करके एक ही नाम से व्यक्त करते। अन्य शब्दो मे यदि ये एक ही होती तो इनके लिए हम 'कारण' और 'कार्य' जैसे दो शब्दो का प्रयोग न करते। 'ब' का कारण 'अ' है– इस कथन का तात्पर्य यह है कि कारण 'अ' कार्य 'ब' मे परिवर्तित हो गया है और यह परिवर्तन दोनो की स्थितियो की भिन्नता का द्योतक है और यदि ये भिन्न नही है तो फिर 'कारणता' का कोई अर्थ भी नही है। इस प्रश्न पर ब्रैडले अपने विचार यूँ प्रस्तुत करते है "यदि ये भिन्न नही है, तो कारण–कार्य सम्बन्ध का कोई अस्तित्व ही नही है और इसकी स्वीकृति एक तमाशा मात्र है।[1] पर यदि

कारण और कार्य को हम भिन्न मानते है तो फिर हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि कोई भी इकाई क्यो अपने से भिन्न किसी दूसरी इकाई मे परिवर्तित हो जाती है ? तथ्यो के आधार पर हम सिर्फ इतना ही कह सकते है कि परिवर्तन होता है, पर यह परिवर्तन क्यो होता है, इसका कोई सन्तोषप्रद उत्तर ढूँढना हमारे लिए सभव नही है।[2]

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि यदि परिवर्तन के तथ्य को हम अस्वीकार करते है तो कारणता का प्रश्न ही नही उठता है और यदि हम उसे स्वीकार करते है तो परिवर्तन क्यो होता है इसे समझ नही पाते। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि यदि कारण और कार्य वस्तुत एक ही है तो 'कारणता' का प्रश्न ही नही उठता और यदि ये भिन्न है तो इस भिन्नता का बौद्धिक स्तर पर स्पष्टीकरण हमारे लिए सभव नही है।

स्पष्टीकरण के प्रयास मे दो सभव विकल्पो की चर्चा

परिवर्तन विषयक उपर्युक्त निष्कर्ष को प्रस्तुत करने के पश्चात् ब्रैडले उस तथ्य के स्पष्टीकरण की कोशिश भी करते है और इस आशय से दो विकल्प प्रस्तुत करते है। **प्रथम के अनुसार** परिवर्तन का आधार स्वय 'अ' है और दूसरे के अनुसार 'अ' से पृथक कोई दूसरी इकाई है जो 'अ' से सयुक्त होकर 'ब' के आविर्भाव को सभव बनाती है।

---

1 If ıt ıs not dıfferent, then causatıon dose not exıst and ıts assertıon ıs a force

-Ibıd ,p 46

2 "Theıemust' ın other woıds, be a ıeason for the change but the endevour to find a satısfactory reason ıs fıuıtless "

Ibıd , Page 46

– यहाँ कारण शब्द हेतु के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

पहले विकल्प को प्रस्तुत करते हुए हम यह कह सकते है कि 'अ' स्वय परिवर्तन को ले आने मे सक्षम है। परन्तु इस विकल्प को स्वीकार कर लेने पर भी समस्या ज्यो की त्यो बनी रहती है, क्योकि हम यह नही समझ पाने कि क्यो कोई भी एक इकाई अपने भिन्न इकाई मे अन्तत परिवर्तित हो जाती है। अन्य शब्दो मे इस विकल्प के अन्तर्गत परिवर्तन की तथ्यता को केवल स्वीकार किया गया है – परिवर्तन को नियत्रित करने वाले कारण को परस्तुत करने की कोई भी कोशिश नही की गयी है।

पर **दूसरे विकल्प** को प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा सकता है कि यद्यपि 'अ' 'ब' मे परिवर्तित होने की सामर्थ्य नही रखता परन्तु जब वह किसी दूसरी इकाई, उदाहरणार्थ 'स' से सयुक्त होता है, तो वह 'ब' मे परिवर्तित हो जाता है। इसी को प्रस्तुत करते हुए हम यूँ कह सकते है कि अ'+'स' ही वस्तुत ब का सयुक्त कारण है। परन्तु ब्रैडले कहते है कि इस विकल्प को स्वीकार कर लेने से स्थिति मे कोई सुधार होने की आशा नही दिखाई देती बल्कि कठिनाइयॉ बढ जाती है।

दो भिन्न इकाइयॉ किस प्रकार सम्बन्धित हो सकती है ?

सयुक्त कारण के प्रश्न पर विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते है कि यदि 'अ' और 'स' वे दो इकाइयॉ है जो सयुक्त रूप से 'ब' का कारण है, तो फिर प्रश्न उठता है कि ये दोनो किस प्रकार सम्बद्ध है ? जैसा कि हम जानते है – कि दो नितात पृथक इकाइयो के बीच सम्बन्ध की युक्तियुक्तता को हम बुद्धि के स्तर पर स्पष्ट नही कर सकते। अत 'अ' और 'स' के सम्बन्ध की समस्या का भी कोई समाधान हमारे लिए सभव नही है।

पुन ब्रैडले कहते है यदि हम 'अ' और 'स' को 'ब' के आविर्भाव के सयुक्त कारण के रूप मे मान भी ले और यह भी मान ले कि 'अ' और 'स' के सम्बन्ध की समस्या का भी हल सभव है, तो भी इस सयुक्त कारण की

---

1 ब्रेडले का दर्शन – डा0 लक्ष्मी सक्सेना पृ0–79

कल्पना मे कठिनाइयॉ बनी रहेगी। इनकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए वे कहते है कि सयुक्त कारण की इस कल्पना के अन्तर्गत दो विकल्प सभव है। पहला विकल्प तो यह है कि 'स' 'अ' को ब' को समुचित कारण बनाने के लिए सचमुच मे प्रभावित करता है और दूसरा यह हे कि स अ' को वास्तव मे प्रभावित नही करता बल्कि दोनो का सह–अस्तित्व ही 'ब' के आविर्भाव के लिए पर्याप्त हो जाता है।

प्रथम विकल्प को स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि स जब अ' से सयुक्त होता है, तो उसे वास्तव मे प्रभावित करता है और इसके फलस्वरूप 'अ' 'अ' मे परिवर्तित होकर 'ब' को उत्पन्न करता है। परन्तु इसप्रकार के प्रभाव की सभावना को स्वीकार करके हम ठीक वही पहुच जाते है जहॉ से हमने इस चर्चा का आरम्भ किया थ। अन्य शब्दो मे इस स्वीकृति के साथ कि 'स' यथार्थ मे 'अ' को प्रभावित करता है, कारणता की समस्या अपने मूल रूप मे पुन हमारे समक्ष उपस्थित हो जाती है, क्योकि कारणता की मूल समस्या तो यही थी कि क्या सचमुच मे कोई भी इकाई अपने आप अपने से भिन्न किसी इकाई मे परिवर्तित हो सकती है ? यही नही, ब्रैडले कहते है कि 'अ' वास्तव मे 'स' की मध्यस्थता से 'अ' मे परिवर्तित हो सके। इसके लिए हमे अ और स के बीच किसी और इकाई उदाहरणार्थ 'द' की मध्यस्थता को स्वीकार करना पडेगा और इसप्रकार अनिवार्यत हमारे चिन्तन मे अनावस्था दोष आ जायेगा। इसी तथ्य को ब्रैडले अपने शब्दो मे इसप्रकार प्रस्तुत करते है "यदि एक कारण कारण होने के लिए अन्य कारण की अपेक्षा करता है तो यह क्रम अशेष रूप से चलता रहता है"।[1] अत हम इस बात को स्वीकार नही कर सकते कि 'स' 'अ' को सचमुच प्रभावित करता है।

पुन यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार हम यह माने कि 'स' अ' को

---

1 If the cause is to be cause, there is some reason for its being thus and so on indefinitely

Ibid, p 47

प्रभावित नही करता वरन् 'स' ओर 'अ' का सह–अस्तित्व ही ब' के आविर्भाव का कारण है तो इस स्वीकृति से सम्बन्धित भी इकाईयॉ है। प्रश्न स्वाभाविक है कि तब 'अ' और 'स' के सह अस्तित्व का क्या कारण है ? अ' और स' क्यो एक दूसरे के ससर्ग मे आते है ? ओर यह ससर्ग क्यो ब' के आविर्भाव का कारण बन जाता है ? इन प्रश्नो का कोई उचित उत्तर हमे मिलता दिखाई नही देता।

इसप्रकार हम देखते है कि 'ब' के आविर्भाव के लिये किसी बाह्य इकाई 'स' की कल्पना कठिनाईया ही उत्पन्न करती है और इससे हमे कोई तार्किक तथा सतोषजनक हल भी प्राप्त नही होता है।

इसी विकल्प से सम्बन्धित विचार प्रस्तुत करते हुये ब्रैडले कहते है इस 'सयोजन' के बारे मे हम दो सभावनाओ की कल्पना कर सकते है। पहली के अनुसार हम यह कह सकते है कि यह हमारे सोचने का ही एक तरीका है और तथ्यो से उसका कोई भी सम्बन्ध नही है या फिर हम यह भी कह सकते है कि यह एक ऐसा कामचलाऊ तरीका है, जिसका प्रयोग व्यावहारिक कारणो से ही किया जाता है।[1] जबकि दूसरी सभावना के अनुसार हम यह कह सकते है कि यह हमारे लिये सोचने के उस तरीके को प्रस्तुत करता है, जो तथ्यो की रचना से सम्बन्धित है। यदि ऐसा है, तो हमे उसके औचित्य को भी प्रस्तुत करना चाहिए। पर इस औचित्य को प्रस्तुत करते हुए हम केवल इतना ही कह सकते है कि वह सगतिपूर्ण है। पर क्योकि हम इसे अस्वीकार ही इसलिए करते है कि वह सगतिपूर्ण नही है इसलिए स्पष्ट है कि वह हमारे सोचने का तरीका नही है।

पुन ब्रैडले कहते है कि यदि कार्य की ओर से इसी प्रश्न पर विचार किया जाय तो स्पष्ट है कठिनाईया आयेगी ही। अतएव निष्कर्ष स्पष्ट है कि

---

1 Ibid , p 47

इतनी विसगतियो से युक्त विकल्प किस प्रकार बुद्धि को सतोष प्रदान करेगा ? अतएव यह आभास ही हो सकता है सत् नही।[1] ध्यातव्य है कि उपर्युक्त निष्कर्ष पर विचार करते हुए हम यह कह सकते है कि सम्भवत सारी कठिनाइयाँ इस कारण है कि हम किसी भी कार्य विशेषज्ञ के लिए किसी एक ही 'कारण' को स्वीकार करते है। फलस्वरूप जो कारण प्रस्तुत किया जाता है, वह कार्य को उत्पन्न करने मे सक्षम नही होता और अपने मे तथाकथित सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिए उसे किसी अन्य की अपेक्षा करनी पडती है। अन्य शब्दो मे हम यह देख चुके है कि 'ब' से आविर्भाव के लिये केवल अ' पर्याप्त नही है और यदि 'अ+स' को कारण मान लिया जाय तो फिर कारण के स्पष्टीकरण के लिए 'द' की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है और इसप्रकार हमारे चिन्तन मे अनिवार्यत अनावस्था दोष आ जाता है।

पर ब्रैडले कहते है इससे यह निष्कर्ष भी निकल सकता है कि किसी भी घटना को कार्य रूप मे समझने के लिए हमे पूर्ववर्ती घटनाओ को पृथक्–पृथक् नही अपितु उन्हे उनके समन्वित रूप मे ही लेना चाहिए। अतएव पूर्ववर्ती घटनाओ की सम्पूर्ण श्रृख्ला को यदि हम कारण मान ले तो शायद ये कठिनाईया दूर हो जाये और समस्या का निवारण हो जाय। अन्य शब्दो मे यदि हम 'अ' को सम्पूर्ण सदर्भ मे स्वीकार कर ले भले ही, यह व्यावहारिक दृष्टि से अनावश्यक हो,[2] तो सभव है कि कारण रूप मे 'ब' के साथ उसकी सहज सम्बद्धता सिद्ध हो सके।[3]

1 "A make shift and merely appearance "

Ibid , P 48

2 "The entire background has to be taken in, although it may be irrelevent practically"

3 इसी सदर्भ मे एकाकी कारण एव स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते है कि ये अपनी जगह समुचित अपकर्षण है।

4 "Legitimate abstractions and they contain enough truth to be partically admissible But it will be added that, if we require truth in any strict sense, we must contain ourselves to one entire state of the world This whole will be the csuse and the next entire state

परन्तु ब्रैडले कहते है कि इस विकल्प के अन्तर्गत जिस समग्र कारण को स्वीकार किया गया है उसको व्यावहारिक स्तर पर प्राप्त करना बडा कठिन है क्योकि किसी भी सभव बिन्दु पर तथाकथित सपूर्णता को ग्रहण करना असभव है। प्रत्येक इसप्रकार की सम्पूर्ण इकाई, जो पूर्ववर्ती घटनाओ को उनकी समग्रता मे प्रस्तुत करती है, स्वय एक अपर्याप्त इकाई ही है और अपनी अपर्याप्तता को दूर करने के लिए अन्य किसी पूर्ववर्ती कडी की अपेक्षा करती है।[1] अन्य शब्दो मे, इसप्रकार की कल्पित सभी इकाइया –उन्हे कितना भी व्यापक हम क्यो न कर ले, सीमित और अपर्याप्त ही रहेगी और इनके आधार पर कार्य का स्पष्टीकरण किसी प्रकार सभव नही होगा और यदि हम यह मान ले कि समग्र कारण को प्राप्त करना हमारे लिए सभव है तो भी कारण कारण है और कार्य कार्य है। कारण और कार्य दो भिन्न इकाईया है जैसा कि पूर्व पृष्ठो मे स्पष्ट किया जा चुका है उनकी अन्तर्सम्बद्धता को प्रज्ञा के स्तर पर स्पष्ट करना हमारे लिए सभव नही होगा।[2]

काल की सातत्यता से सम्बन्धित विचार

अन्त मे एक और तरह से ब्रैडले इस समस्या पर विचार करते है। वे कहते है कि किसी भी इकाई के दूसरी इकाई मे परिवर्तित होने के लिए यह आवश्यक है कि परिवर्तन की निरन्तरता यानी उसकी सातत्यता बनी रहे।[3] यदि कारण 'अ' कार्य 'ब' मे परिवर्तित हो रहा है तो यह परिवर्तन लगातार होना चाहिए। ऐसा नही हो सकता कि कोई वस्तु कुछ काल तक अपरिवर्तित बनी

---

1 For each such state has tendency to tranccnd itself "backsuch wards 10n regress without limit पुन वे कहते है "The relation and qualities of which it is composed will refer themselves, even if you keep to the moment for ever away from themselves into endless disspation "

Ibid ,pp, 48-49

2 "The sequence of a difference still remains entirely irrational "

Ibid , Page 47

3 Change must be continuous

रहे और फिर सहसा परिवर्तित होकर कार्य का रूप धारण कर ले। ब्रैडले का यहॉ पर परोक्ष रूप से स्वीकृत तर्क यह है कि यदि कोई वस्तु कुछ क्षण तक भी अपरिवर्तित रह सकी है, तो वह आगे भी अपवर्तित रह सकती है। अतएव कारण को कार्यरूप मे परिवर्तित होने के लिए निरन्तर परिवर्तित होना चाहिए, पर ऐसा सभव नही है।

हम देखते है कि कारण बिन्दु के रूप मे 'अ' और कार्य बिन्दु रूप मे 'ब' के बीच अनगिनत बिन्दु है। 'अ' को 'ब' तक पहुँचने के लिए 'य' 'र' 'ल' क' 'ख' 'ग' आदि अनन्त बिन्दुओ से गुजरना पडेगा। परन्तु ये बिन्दु तो गति के ठहराव का द्योतक है और इन स्थिर बिन्दुओ के माध्यम से गति का स्पष्टीकरण कैसे सभव है ? प्रश्न उठता है कि जो गतिहीन है वे सहसा गतिशील कैसे हो सकते है ? अन्य शब्दो मे, ये गतिहीन बिन्दु क्यो और कैसे अपने स्वरूप का परित्याग करके गतिशील हो जाते है ये हमारी समझ मे नही आता और फिर प्रश्न उठता है कि ये मध्यस्थ बिन्दु यदि एक क्षण के लिए भी गतिहीन रह सकते है तो वे सदा के लिए गतिहीन क्यो नही रह सकते ?

इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कठिनाईयो के कारण बुद्धि परिवर्तन यानी कारणता की समस्या का समाधान नही कर पाती। बुद्धि के पासे इसका कोई सतोषजनक उत्तर नही है कि क्यो एक इकाई अपने से भिन्न रूप मे परिवर्तित हो जाती है, और जो बुद्धि को सन्तोष न प्रदान कर सके वह ब्रैडले की शब्दावली मे **'आभास'** हो सकता है। अतएव कारण–कार्य का सम्बन्ध आभास मात्र है, सत् नही।[1] इसप्रकार स्पष्ट है कि

---

1 "We have merely a fresh instance of compromise without principle, another case of pure makeshift "

Ibid , P 46

कारणता को हम जिस रूप मे प्रस्तुत करते है, वह भले ही व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण एव उपयुक्त हो परन्तु तत्व मीमासीय दृष्टि से अनुपयुक्त ही है।[1]

92 ए०सी० इविग का मत

समकालीन दार्शनिक ए0सी0 इविग सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन मे कारणता सिद्धान्त का व्यवस्थित व वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते है। ये कारणता सम्बन्धी विभिन्न विचारो को तीन मुख्य सिद्धान्तो के अन्दर रखकर विवेचित करते है, जो अधोलिखित है –[1]

1 नियमितता सिद्धान्त (Regularıty theoıy)

2 अनुलाग सिद्धान्त (Entaılment theoıy)

3 सक्रियता सिद्धान्त (Actıvıty theory)

नियमितता सिद्धान्त – साधारणतया यह माना जाता है कि कारण, कार्य को उत्पन्न करता है, किन्तु उत्पन्न करने का ठीक–2 अर्थ क्या है ? वस्तुत उत्पन्न करने का एकअर्थ यह भी लिया जाता है कि कारण एव कार्य मे एक प्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध है। किन्तु हम देख चुके है कि ह्यूम सरीखे दार्शनिक इसप्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध वस्तुओ मे निहित नही मानते है। इनके अनुसार यह मानव मन की कल्पना मात्र है। प्राय हम अपने इन्द्रिय–अनुभव मे एक घटना को दूसरी घटना से अनुसरित होते देखते है। यह और बात है कि कभी यह अनियमित तथा कभी नियमित होता है। एक प्रकार की घटना को नियमित रूप से देखने पर हम यह सामान्यीकरण करने लगते है कि पूर्ववर्ती घटना, परवर्ती घटना को उत्पन्न करती है। रोटी खाने पर नियमित रूप से भूख मिटते देखकर यह निष्कर्ष निकालते है कि रोटी खाना भूख मिटाने का कारण है। इसीप्रकार आग पर हाथ रखना और अगुली का

---

1 A C Ewıng " The fundamental questıon oı Phılosophy Page 160-172

जलना, पानी पीना तथा प्यास बुझना इत्यादि भी कारण–कार्य सम्बन्ध से अनुबन्धित है। किन्तु इसप्रकार के उदाहरणो मे हम नियमित तारतम्य[1] के अतिरिक्त अन्य किसी तथ्य को नही देखते है। इसलिये कोई भी अनुभववादी दार्शनिक कारणता का अर्थ मात्र नियमित तारतम्य ही लगायेगा, क्योकि नियमित तारतम्य ही एक ऐसा तथ्य है जिसका निरीक्षण अनुभवात्मक ढग से प्राप्त किया जा सकता है। इसे कारणता का नियमितता का सिद्धान्त कहते है।

उल्लेखनीय है कि समकालीन पाश्चात्य दर्शन मे इस सिद्धान्त का मुख्य विचारक **बर्ट्रेन्ड रसेल** है।[2] रसेल के तर्क अधोलिखित दो अवधारणाओ पर आधारित है – सर्वप्रथम वे यह मानते है कि कारण कार्य नियम का रूप इसप्रकार का है कि – "अ, ब का कारण है"। जैसे आर्सेनिक मृत्यु का कारण है। किन्तु रसेल का यह भी कहना है कि इसप्रकार के नियम अपवादो को स्वीकार करते है। फलत इन्हे सार्वभौमिक व अनिवार्य नही कहा जा सकता है।[3] साथ ही रसेल यह मानते है कि कारण–कार्य नियम ऐसे नियम है जो अपेक्षाकृत नियत है। किन्तु यह नियम कि – 'आर्सेनिक मृत्यु का कारण है' अपवादग्रस्त हो सकता है क्योकि जिस आदमी ने 'आर्सेनिक का पान किया है उसके सिर मे आर्सेनिक पान के तुरन्त बाद गोली मारी जा सकती है। वस्तुत ऐसी स्थिति मे आर्सेनिक मृत्यु का कारण नही हो सकता है। इसलिये रसेल का कहना है कि घटना ब, घटना अ की सदैव अनुवर्ती नही कही जा सकती, जब तक कि इन दोनो घटनाओ को नितान्त सीमित करके बिना किसी व्यवधान के क्रम मे रखा न जा सके। परन्तु व्यवहार मे ऐसा करना सम्भव नही

1 "Regular sequence "

2 Bertrand Russel I he Analysis of Mind, chapter -V

3 The law that we actually know empirically have the form of traditional causal laws, except that they are not to be regarded as universal or necessary "Taking arsenic is followed by death" is a good empirically generalization, it may have exceptions, but they will be rare

Bertrand Russel - Analysis of mind, chapter V, Page - 95

दिखता है[1]। अतएव कारण–कार्य नियम सार्वभौमिक नही है।

इसीप्रकार दूसरी अवधारणा जिस पर कारणता का नियम आधारित है, वह इस कठिनाई से युक्त है कि एक घटना को किस प्रकार किसी प्रदत्त घटना का कारण माना जाय। रसेल के अनुसार व्यवहार मे कारण–कार्य के नियम को जिस अर्थ मे लिया जाता है वह यह है कि "कारण अपेक्षाकृत एक नियत पूर्ववर्ती है।[2] किन्तु व्यवहार मे हम किसी घटना के निरपेक्ष नियतपूर्ववर्ती

---

1 It is difficult to believe, at any rate where physical laws are concerned, that the earlier part of the process which is the cause can make any difference to the effect, so long as the later part of the process which is the cause remains unchanged Suppose for example that a man dies of arsenic poisoning we say that his taking arsenic was the cause of death But clearly the process by which he acquired the arsenic is irrelevant Everything that happened before he swallowed it may be ignored, since it can not alter the effect except inso for as it alters his condition at the moment of taking the dose But we may go further swallowing arsenic is not really the proximate cause of death, since a man might be shot through the head immediately after taking the dose and then it would not be of arsenic that he would die -

Bertrand Russel - The Analysis of mind , chapter V, Page - 94

2- "Nearly invariable antecedent"

Bertrand Russel - The Analysis of mind , chapter V, Page 96

को नही खोज सकते है, क्योकि ऐसा करने के लिये हमे सम्पूर्ण विश्व को दृष्टिकोण मे रखकर विचार करना पडेगा।[1] इसके पीछे की सच्चाई यह है कि किसी भी घटना के बहुत से अपेक्षाकृत नियतपूर्ववर्ती सम्भव है किन्तु इनमे से निरपेक्ष नियतपूर्ववर्ती (कारण) और उसके सहवर्ती (Concomitants) के बीच भेद करना सम्भव नही है।[2]

ध्यातव्य है कि, कारणता के सभी उदाहरण नियमित तारतम्य के उदाहरण है, परन्तु नियमित तारतम्य के सभी उदाहरणो को कारणता का उदाहरण नही कहा जा सकता है। जैसे – दिन और रात के नियमित तारतम्य के उदाहरण को कारणता का उदाहरण नही कहा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि इसप्रकार के विचार का समर्थन एल0एस0 स्टेविग और सी0डी0 ब्राड भी करते है।[1] ज्ञातव्य है कि नियमितता सिद्धान्त की एक और कठिनाई जिसकी ओर ए0सी0 इविग ने सकेत किया है वह यह है कि – "इसका प्रयोग

1- We can not in practice obtain an antecedent which is quite invariable, for this would require us to take account of the whole universe, since something not taken account of may prevent the expected effect

Bertrand Russel - The Analysis of mind , chapter V, Page 96

2- We can not distingush, among nearly invariable antecedents, one as the cause, and the other as merely its concomitants But in fact we can not find any anticedent that we know to be quite invariable and we can find many that are nearly so

Bertrand Russel - The Analysis of mind , chapter V, Page 96-97

आर्थिक अवसाद जैसी घटनाओ के सम्बन्ध मे नही किया जा सकता है।'[2] फलत हम कह सकते है कि **ह्यूम, रसेल** और **अन्य अनुभववादीयो** द्वारा प्रस्तुत नियमितता का सिद्धान्त पूर्णतया सन्तोष जनक नही है।

अनुलाग सिद्धान्त

अनुलाग तर्कशास्त्र का पद है जो किसी तर्क के आधारवाक्यो और निष्कर्ष के पारस्परिक सम्बन्ध के लिये प्रयुक्त होता है, जहॉ निष्कर्ष अनिवार्यत आधार वाक्यो से अनुसरित होता है। कभी–कभी यह आधारवाक्यो और निष्कर्ष द्वारा प्रकट वस्तुगत तथ्यो के पारस्परिक सम्बन्ध के लिये प्रयुक्त होता है। वस्तुत इसमे तार्किक अनिवार्यता निहित होती है। इसी तार्किक अनिवार्यता के कारण इसका प्रयोग कारणता के सिद्धान्त के लिये किया जाता है जहॉ कारण व कार्य के बीच एक प्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध माना जाता है और इसी कारण हम यह कह पाते है कि प्रदत्त कारण से यह कार्य अनुसरित होगा। जहॉ कारणता के नियमितता सिद्धान्त के अन्तर्गत कारण एव कार्य दो पृथक असम्बद्ध तथ्य है, और एक दूसरे की अनिवार्यत अपेक्षा नही रखते है। किन्तु

---

1 L S Stebbing - A modern introduction to Logic, Page - 283 and also see

C D Broad - The mind and its place in nature Page- 453-456

2- But what about events the caustion of which is much more copmlex Such as wars and economic depressions ? No body has suceeded in discovering a really satisfactory formulation of statements abot the causes of these intermy of the regularity view The theory seems particularly inapplicable in the case of Psychology

-A C Ewing - The fundamental questions of Philosophy, R K Paul Ltd London Page 161-162

कारणता के अनुलाग सिद्धान्त के अनुसार कारण अपने कार्य से आन्तरिक रूप से सम्बन्धित होता हे और इसीलिये कारण, कार्य की अनिवार्य रूप से अपेक्षा रखता है। इसप्रकार स्पष्ट है कि कारणता का अनुलाग सिद्धान्त नियमितता सिद्धान्ता की अपेक्षा, कारणता के सामान्य अवधारणा के अधिक सन्निकट है। **उल्लेखनीय है कि कारणता के सामान्य अवधारणा के अनुसार हम केवल यह नही मानते है कि कार्य कारण का अनुसरण करता है, अपितु हम यह भी मानते है कि कारण व कार्य मे परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध होता है जिसके फलस्वरूप कार्य अनिवार्यत कारण का अनुसरण करता है।**

ध्यातव्य है कि कारणता का अनुलाग सिद्धान्त उन्नीसवी शती तक दार्शनिको मे प्राय सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया जाता था, यद्यपि इसका नाम उस समय यह नही था। किन्तु ह्यूम वह पहला दार्शनिक था जिन्होने सर्वप्रथम इस विचार का खण्डन किया और इसके स्थान पर नियमितता सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। यह और बात है कि ह्यूम भी अपने सिद्धान्त को नियमितता सिद्धान्त नाम नही दिया किन्तु विचार वही थे। **उल्लेखनीय है कि नियमितता सिद्धान्त को ह्यूम के समय मे उतनी मान्यता नही मिली जितनी इसे समकालीन पाश्चात्य दर्शन मे रसेल इत्यादि के प्रयासो के फलस्वरूप मिली।** किन्तु समकालीन पाश्चात्म्य दर्शन मे ए0सी0 इविग जैसे विद्वानो ने नियमितता सिद्धान्त को न मानकर, कारणता के अनुलाग सिद्धान्त को ही समर्थन प्रदान किया है।

किन्तु कुछ समालोचक कारणता के अनुलाग सिद्धान्त के विरूद्ध आपत्तियॉ उठाते है, जो इसप्रकार है –

(1) इन आलोचको का कहना है कि सामान्यता हम लोग कारण तथा कार्य के बीच कोई तार्किक सम्बन्ध नही देखते है। अर्थात कहने का

आशय यह है कि हम किसी तार्किक अनिवार्यता को नही जानते जिसके फलस्वरूप यह कह सके कि कार्य अनिवार्यत कारण का अनुसरण करता है। यह कल्पना करना कोई विरोधग्रस्त बात नही होगी कि – कार्य कारण का अनुसरण नही करता है। वस्तुत हम यह भी कल्पना सरलता से कर सकते है कि पानी गरम करने पर ठोस बनता है, न कि भाप। नि सन्देह यह हमारे अनुभव के विपरीत होगा, किन्तु तार्किक दृष्टिकोण से यह कल्पना विप्रतिषेधक नही है।

(11) अनिवार्य सम्बन्ध, दो सहवर्ती वस्तुओ मे ही पाया जाता है, जबकि कारण व कार्य सामान्यतया सहवर्ती न होकर काल के दृष्टिकोण से एक दूसरे के आगे–पीछे होते है।

(111) इसीप्रकार आलोचको का कहना है कि अनुलाग के उदाहरण प्रागनुभविक तर्क के उदाहरण है, जिससे उनमे अनिवार्यता मिलती है। किन्तु कारणात्मक तर्क मे हमे केवल प्रसभाव्यता ही मिलती है। यद्यपि ए सी इविग इन आपत्तियो का उत्तर देने का प्रयास किया है।[1]

सक्रियता सिद्धान्त

कारणता का सक्रियता सिद्धान्त का मानना है कि किसी घटना के लिये कोई अभिकर्ता ही उत्तरदायी हो सकता है। इस अवधारणा के अनुसार कारण वह है जिसके फलस्वरूप घटनाये घटती है। ज्ञातव्य है कि लॉक द्वारा दी गयी कारण की परिभाषा से यह बात स्पष्ट होती है। लाक के अनुसार कारण वह है जो दूसरी चीजो को सम्भव बनाता है और कार्य वह है जिसका कारण कोई अन्य वस्तु होती है।[2] कारणता का सक्रियता सिद्धान्त मूलत यही

---

1 -A C Ewing - The fundamental questions of Philosophy, R K Paul Ltd London Page 164-1660

2 A cause is that which makes any other thing begain to be, and an effect is that which had its beginning fiom some other thing

- Jhon Locke - Essay on the human understanding,

है। वस्तुत इस सिद्धान्त के अनुसार कारण की दार्शनिक अवधारणा की कुँजी **'सकल्पशक्ति'** के सम्प्रत्यय मे निहित है। आगे लाक कहता है कि चूँकि कारणता मे अन्तत सकल्पशक्ति निहित होती है, इसी लिये अन्तिमकारण मन या आत्मा ही होगा। इनके अनुसार भौतिक वस्तुएँ एक बार गतिशील होने के बाद दूसरी भौतिक वस्तुओ को भी गतिशील तो बना सकती है किन्तु ये स्वय गति को उत्पन्न नही कर सकती है। गति इसे मन या आत्मा, से ही प्रदत्त होगी। **उल्लेखनीय है कि बर्कले भी इस सिद्धान्त का समर्थन करता है जब वह कहता है कि– कारण को किसी चीज को उत्पन्न करने के लिये अनिवार्यत सक्रिय होना चाहिये।** इसप्रकार भी सक्रियता निश्चित रूप से सकल्प शक्ति की अपेक्षा रखती है, फलस्वरूप एक मात्र सभवकारण वही है जिसमे सकल्प शक्ति निहित है। यही कारण है कि बर्कले ने सभी वस्तुओ के साक्षात कारण के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धी हेतु इस तर्क का आश्रय लिया है।

ज्ञातव्य है कि सक्रियता सिद्धान्त का अर्थग्रहण एक भिन्न प्रकार से भी किया जा सकता है जिसमे ईश्वर की अवधारणा वाछनीय नही है। इस व्याख्या का मूल आशय यह है कि कारणता मे अपेक्षित सक्रियता का मूल कारण **'बौद्धिक सकल्पशक्ति'** न होकर के एक प्रकार की **अर्द्धचेतन शक्ति'** भी हो सकती है जो कि निम्न श्रेणी के पशुओ मे परिलक्षित होती है। यह अर्द्धचेतन शक्ति और भी निम्न स्तर पर पहुँच कर निर्जीव वस्तुओ तक सोची जा सकती है जो कि इस सक्रियता की व्याख्या करने मे किसी सीमा तक सक्षम हो सकती है। इसप्रकार की कारणता की अवधारणा अन्तत **'सर्वचित्तवाद'** की ओर ले जाती है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण प्रकृति ही मानसिक केन्द्रो से निर्मित हुयी है। वस्तुत इसकी तुलना मानवीय मन से की

जा सकती है और इसप्रकार प्रकृति की सक्रियता के लिए किसी ईश्वरवाद की अपेक्षा नही है।

उल्लेखनीय है कि कारणता का सक्रियता सिद्धान्त यद्यपि नियमितता और अनुलाग सिद्धान्तो के विकल्प के रूप मे प्रतिपादित किया गया, किन्तु बहुत से समकालीन दार्शनिक इसकी कटु आलोचना करते है। एल० एस० स्टेबिग का कहना है कि यह एक अपरिष्कृत व्यक्ति का विचार है[1] और कारणता को किसी अभिकर्ता की उस शक्ति से जोडना, जो कार्य को अनिवार्यत उत्पन्न होने के लिये प्रेरित या बाध्य करती है, – आजकल बहुत गम्भीरता से नही लिया जाता है। यह मनुष्यो के अनुभवो पर आधारित कारणता की एक ऐसी अवधारणा है जो एक प्रकार के **मानवीयकरण के दोष** से ग्रसित है।[2] ए०सी० इविग ने भी कारणता की इस अवधारणा को दोषपूर्ण बताया है। इनके अनुसार "सकल्प शक्ति" की क्रिया हमारे शरीर के किसी एक अग को प्रेरित करती है और फिर उसके द्वारा नाडी तन्त्र मे निहित बहुत सी क्रियाए होती है। ऐसी स्थिति मे सकल्पशक्ति की क्रिया अकेले या सीधे रूप से कारणता के लिये उत्तरदायी नही है।[3] फलत यह एक सन्तोषजनक सिद्धान्त नही है।

---

1 " It is undoubtedly the view of unsophisticated person"
- L S Stebbing - A modern introduction to Logic, Page 261

2 "The fallacy of Anthropomorphicism" itmay be cofidently asserted that the notion of cause as exeiting compulsion as an agent forcing something to act insameway longer merits serious consideration
- L S Stebbing - A modren intioduction to Logic, Page 261

3 The chief objection to this is constituted by the circumstance that an act of will never moves a part of the body by direct causation, But only by means of a number of intermediate links in the nervous system Now it is difficult to hold that we can see directaly C to cause E whrer C dose not cause E directaly, but only causes an intermediate term D (a set of vibrations in the nervous system), which then produces E without our being aware of D in the least, for we have only learnt of D not through the experience of willing in ourselves but through the reports of Physiologists
A.C Ewing - The fundamental questions of Philosophy, chapter - 8, Page-172

खण्ड (स)

तुलनात्मक मत

अध्याय – १०

प्राच्य और पाश्चात्य मतो की तुलना

कोई भी चिन्तन अपने देश, काल व परिस्थिति के सापेक्ष मूर्तरूप लेता है, फिर भी दो भिन्न–देश, काल, परिस्थितियो मे उत्पन्न चिन्तन आपस मे साम्य रख सकता है। कहने का आशय यह है कि भिन्न–परिवेश के वाबजूद दो अलग–अलग स्थानो के चिन्तन मे वैषम्य के साथ–साथ साम्य भी देखा जा सकता है। वस्तुत ऐसा करने से दोनो चिन्तन व चिन्तन पद्धति – पर व्यापक प्रकाश पडता है और अन्तत उनका स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हम प्राच्य (भारतीय मत) और पाश्चात्य मतो का तुलनात्मक विवेचन करेगे। जैसा कि हम जानते है कि पाश्चात्य दर्शन का प्रारम्भ थेलीज के जलदर्शन से होता है और कारणता का बीजरूप इसके दर्शन मे देखा जा सकता है। थेलीज का मानना था कि समस्त जगत 'जल' से बना है और यही 'जल मूल तत्व' ठडा होने पर ठोस और गर्म होने पर गैस बनता है। वस्तुत थेलीज के इस जल–दर्शन मे इस जल–दर्शन मे सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो "कारणता का उपादानात्मक पक्ष" की एक स्पष्ट झलक मिलती है। कहने का मूल आशय यह है कि जगत (कार्य) का उपादान (मूल सामग्री) जल नामक तत्व है।

किन्तु थेलीज से लेकर ग्रीक दार्शनिक सुकरात तक इसका उपादानत्मक पक्ष ही महत्वपूर्ण रहा। तदुपरान्त अरस्तू पहला दार्शनिक है जो पाश्चात्य दर्शन जगत मे कारणता–सिद्धान्त की व्यापक रूपरेखा प्रस्तुत करता है। यह उपादान के साथ–साथ, निमित्त कारण, लक्ष्य कारण और आकारिक कारणो की बात करता है और यह दिखाने का प्रयास करता है कि किसी भी परिवर्तन मे इन चारो कारणो की सयुक्त भूमिका होती है। लेकिन अपने विवेचना के अन्तिम सोपान पर अरस्तू यह दिखाता है कि उपादान कारण को

हम द्रव्य (Matter) कह सकते है और निमित्तकारण, लक्ष्यकारण, व आकारिक कारण को आकार (Form) कह सकते है। इसप्रकार इसके दर्शन मे जब वस्तु A,B मे परिवर्तित होती है (A→B), तो (B) का द्रव्य A मे सत् रहता है। जैसे लकडी का टुकडा (A) जब मेज (B) मे परिवर्तित होता है तो हम कह सकते है कि B का द्रव्य A मे सत् (उपस्थित) था।

वस्तुत उपर्युक्त विवेचना का सार यह है कि यदि हम भारतीय दृष्टि से अरस्तू के कारणता सिद्धान्त का मूल्याकन करे तो कह सकते हे कि अरस्तू भी सत्कार्यवादी है। क्योकि अरस्तू भी यह मानता है कि कार्य पूर्णतया नवीन सृष्टि नही है बल्कि कारण का उपादान ही कार्यरूप मे अभिव्यक्त होता है। उल्लेखनीय है कि जब हम भारतीय दृष्टि से पाश्चात्य विचारो का मूल्याकन करे तो यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दोनो स्थानो की अपनी विशिष्टता के चलते इनके बीच न तो पूरी तरह साम्य और न ही वैषम्य दिखाया जा सकता है। इसलिये एक दृष्टि विशेष से अरस्तू भी सत्कार्यवाद के परिणामवादी विचारधारा का प्रतिनिधि दार्शनिक है।

ज्ञातव्य है कि 'चार्वाक' और 'बौद्धो' को छोडकर अन्य समस्त भारतीय दार्शनिक अरस्तू की परम्परा वाली विचारधारा यानि जो घटना के उपादानात्मक पक्ष पर बल देती है, को स्वीकार करते है। जबकि चार्वाक और बौद्ध कारण व कार्य के बीच सम्बन्धपरक व्याख्या करते है। अर्थात् इनका मानना है कि कारणता सिद्धान्त के अन्तर्गत इसबिन्दु पर विचार होना चाहिये कि कारण व कार्य के बीच कैसा सम्बन्ध है ? जैसा कि बौद्ध दार्शनिक अपने प्रतीत्य समुत्पाद की विवेचना मे यह दिखाते है कि "इसके होने पर, यह होता है"। अर्थात कारण के होने पर कार्य होता है। वास्तव मे ध्यान से देखने पर यहॉ एक प्रकार का आनन्तर्य का बोध होता है और इसप्रकार बौद्धदार्शनिक

पाश्चात्य अनुभववादियो के (ह्यूम सरीखे) करीब पहुँच जाते है। इस प्रकार बौद्धो व अनुभववादियो के कारणता विषयक मतो मे आशिक साम्य दिखता है।

अरस्तू के बाद काफी समय तक कारणता सिद्धान्त पर कोई मौलिक कार्य पाश्चात्य दर्शन मे नही हुआ। ह्यूम वह आधुनिक दार्शनिक है जो कारणता सिद्धान्त को पुन विवेचना के केन्द्र मे ले आया। ह्यूम और मिल दोनो कारणतावाद की अनुभववादी व्याख्या करते है, किन्तु इनके दृष्टिकोण की आलोचना करते हुये काण्ट कहता है कि कारणता, बुद्धि की एक कोटि है और इसलिये कारण व कार्य के बीच का सम्बन्ध अनिवार्य व सार्वभौमिक हे। कहने का आशय यह है कि काण्ट कारणता की प्रागनुभविक व्याख्या प्रस्तुत करता है। यहॉ ध्यान देना महत्वपूर्ण होगा कि कारण व कार्य के बीच एक अयुतसिद्ध सम्बन्ध की चर्चा नैयायिक भी करते है, जिन्हे समवाय कहा जाता है। यह और बात है कि प्रागनुभविक व्याख्याकारो से भिन्न नैयायिक समवाय को कारण व कार्य से पृथक एक तीसरी सत्ता के रूप मे स्वीकार करते है।

ध्यातव्य है कि समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक ब्रेडले और टेलर कारण–कार्य सम्बन्ध को आभासमात्र कहा है। वस्तुत ये दोनो तत्वमीमासक व प्रत्ययवादी दार्शनिक है और अपने दर्शन के केन्द्रीय दृष्टिकोण के आलोक मे ही कारणता की मीमासा करते है। कुछ ऐसी ही बात शून्यवादी भी करते है जब वह व्यवहार एव परमार्थ दोनो स्तरो पर कारण–कार्य सम्बन्ध की अनिवार्यता को अस्वीकार कर देते है। स्पष्ट है ब्रेडले, टेलर और शून्यवादियो मे आशिक साम्य अवश्य दिखता है।

समकालीन दार्शनिक ए0सी0 ईविग ने समस्त कारणता विषयक मतो का विभाजन तीन सिद्धान्तो नियमितता का सिद्धान्त, अनुलाग का सिद्धान्त और सक्रियता का सिद्धान्त मे किया है। नियमितता का सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक बर्ट्रेन्ड रसेल है और इनके दृष्टिकोण तथा बौद्धो के प्रतीत्य समुत्पाद मे कुछ

समानता दृष्टिगोचर होती है।'' दूसरे शब्दो मे, बौद्धो के प्रतीत्य समुत्पाद की झलक अशत नियमितता सिद्धान्त मे मिलती है। जैसे – इस सिद्धान्त का कहना है कि एक प्रकार की घटना को नियमित रूप से देखने पर हम यह सामान्यीकरण करने लगते है कि पूर्ववर्ती घटना, परवर्ती घटना को उत्पन्न करती है। रोटी खाने पर नियमित रूप से भूख मिटते देखकर हम यह निष्कर्ष निकालते है कि रोटी खाना, भूख मिटने का कारण है। इसी प्रकार आग पर हाथ रखना और अगुली का जलना, पानी पीना और प्यास बुझना आदि। स्पष्ट है आग पर हाथ रखने और अगुली के जलने मे – पहला कारण और दूसरा कार्य है। नियमितता सिद्धान्त यह कहता है कि लगातार अवलोकन के कारण ही हम यह मानने लगते है कि ''यदि पहला होगा तो दूसरा भी अवश्य होगा। यानि दूसरे शब्दो, मे पहले के होने पर दूसरा होगा''। स्पष्ट है इससे यह ध्वनित होता है कि – ''इसके होने पर (पहला), यह होगा (दूसरा)'' और प्रतीत्यसमुत्पाद का यही व्युत्पत्तिगत अर्थ है। मेरे कहने का मुख्य आशय यह है कि दोनो सिद्धान्तो को विश्लेषित करने पर इनमे एक साम्य देखा जा सकता है।

जहॉ तक अनुलाग सिद्धान्त की बात है, तो यह नियमितता से मूलत भिन्न है। जहॉ कारणता के नियमितता सिद्धान्त के अन्तर्गत कारण एव कार्य – दो पृथक असम्बद्ध तथ्य है और एक दूसरे की अनिवार्यत अपेक्षा नही रखते है। वही कारणता के अनुलाग सिद्धान्त के अनुसार कारण अपने कार्य से आन्तरिक रूप से सम्बन्धित होता है और इसलिए ये एक दूसरे की अपेक्षा रखते है। स्पष्ट है सम्पूर्ण प्राच्य चिन्तन मे नियमितता सिद्धान्त की अपेक्षा, अनुलाग सिद्धान्त की स्वीकार्यता व्यापक रूप से देखी जा सकती है।

उल्लेखनीय है कि सक्रियता सिद्धान्त का बीजरूप हमारे वेदो व उपनिषदो मे देखा जा सकता है। जैसा कि हम जानते है कि सक्रियता सिद्धान्त यह मानता है कि – ''किसी घटना के लिये कोई अभिकर्ता ही

उत्तरदायी हो सकता है। वस्तुत इस सिद्धान्त के अनुसार कारण की दार्शनिक अवधारणा की कुन्जी **'संकल्पशक्ति'** के सम्प्रत्यय मे निहित है। इसीकारण लाक कहता है कि चूँकि कारणता मे अन्तत सकल्पशक्ति निहित होती है, इसीलिये अन्तिमकारण आत्मा या मन ही होगा। साथ ही हम यह भी जानते है कि कारणता की यह सकल्पना अन्तत हमे **सर्वचित्तवाद** की ओर ले जाती है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण प्रकृति ही मानसिक केन्द्रो से निर्मित हुयी है। स्पष्ट है, सक्रियता सिद्धान्त के इन दृष्टान्तो से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वेदो व हमारे श्रुतिग्रन्थो मे इसप्रकार के विचारो का दृष्टान्त विद्यमान है।

वास्तव मे समग्र पाश्चात्य मतो एव भारतीय मतो का तुलनात्मक विवेचन करने पर कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष उभरकर सामने आते है। **पहला**—भारतीय चिन्तनधारा मे कारणता सम्बन्धी सभी मतो का व्यवस्थित या बीज रूप खोजा जा सकता है। चाहे अरस्तू के उपादानात्मक दृष्टिकोण हो अथवा ह्यूम, मिल, काण्ट, रसेल व ए0सी0 इविग के सम्बन्धपरक दृष्टिकोण हो – इसका अशत या पूर्णत स्वरूप दर्शन भारतीय चिन्तन मे देखा जा सकता है। इसीप्रकार प्रत्ययवादी दार्शनिक ब्रेडले के आभास—कारणता का भी दिग्दर्शन शून्यवादी बौद्धो मे स्पष्ट दृष्टिगत होता है। **दूसरा** —पाश्चात्य चिन्तन मे कारण व कार्य के बीच (द्रव्य) के स्तर पर विवेचन मुख्यत प्राचीन दार्शनिक अरस्तू मे देखा जाता है, और तदुपरान्त बाद के पाश्चात्य चिन्तन मे कारणता का स्वरूप मुख्यत इस बात पर केन्द्रित था कि – "कारण व कार्य के बीच का सम्बन्ध सम्भाव्य है या अनिवार्य"। किन्तु भारतीय दर्शन की अपनी खास शैली यह रही है कि यहॉ कारणता सम्बन्धी चिन्तन के दोनो पक्षो (1 कार्य कारण मे सत् है अथवा नही 11 कार्य कारण के बीच कैसा सम्बन्ध है) का बडा ही सशलिष्ट विवेचन मिलता है।

तृतीय – यदि कारणता का तत्वमीमासीय ढग से चिन्तन करे तो यह अनुपयोगी और आभासमात्र सिद्ध होगा – यह बात प्राच्य एव पाश्चात्य दोनो दर्शनो के विवेचनो से स्पष्ट है। जैसे पाश्चात्य दर्शन मे ब्रेडले और टेलर के तत्वमीमासीय विश्लेषण से कारणता अयथार्थ सिद्ध होती है। उसीप्रकार प्राच्य दर्शन मे शकर एव माध्यमिक के विवेचन से स्पष्ट है कि पारमार्थिक दृष्टि से कारणता सिद्धान्त अयथार्थ है, आभास है।

चतुर्थ – यदि हम सत्कार्यवाद का पाश्चात्य दृष्टिकोण से विश्लेषण करे तो कुछ रोचक तथ्य सामने आते है। जब सत्कार्यवाद यह कहता है कि कार्य, उत्पत्ति पूर्व अपने कारण मे सत् (उपस्थित) था – तो इससे साफ ध्वनित होता है कि कारण व कार्य के बीच मात्र सम्भावना का सम्बन्ध नही है, बल्कि अनिवार्य सम्बन्ध है। क्योकि इसी अनिवार्यता के सम्बन्ध के कारण ही सदैव तिल से तेल निकलता है। यह और बात है कि सत्कार्यवाद इस बात पर विचार नही करता है कि – कार्य कारण मे क्यो सत् है या विशिष्ट कारण, विशिष्ट कार्य मे ही क्यो अभिव्यक्त हुआ। कहने का आशय यह है कि सत्कार्यवाद की विवेचना से यह तो ध्वनित होता है कि कारण व कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध है, किन्तु यह अनिवार्य सम्बन्ध क्यो है – इस बात का उत्तर नही मिलता है।

पचम – जब चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानता है तो उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि अनुमान शब्द, उपमान आदि का खण्डन करे। चूँकि अनुमान के खण्डन के लिये व्याप्ति का खण्डन आवश्यक है और साथ ही कारण–कार्य सम्बन्ध, व्याप्ति का ही एक प्रकार है, अत वह कारणता का खण्डन करता है। यहॉ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिन तर्को व उदाहरणो की सहायता से चार्वाक व्याप्ति का खण्डन करता है, लगभग उन्ही तर्को व उदाहरणो का प्रयोग ह्यूम भी अपनी विवेचना मे प्रस्तुत करता है। स्पष्ट है, यहॉ पर दोनो मे साम्य है। साथ ही, परिवर्तन की प्रक्रिया को स्पष्ट

करने मे चार्वाक जहॉ स्वभाववाद का सहारा लेता है, वही ह्यूम नियत साहचार्य का सहारा लेता है। इस व्याख्या के स्तर पर दोनो मे वैभिन्यता देखी जा सकती है।

इसप्रकार निष्कर्षत हम कह सकते है कि प्राच्य व पाश्चात्य दर्शनो मे कारणता का विवेचन अपने–अपने परिवेश के आलोक मे ही मूर्तरूप प्राप्त करता है, फिर भी दोनो दर्शनो मे कुछ बिन्दुओ पर साम्य–वैषम्य देखा जा सकता है। साथ ही इस तुलनात्मक विश्लेषण से इन दोनो दर्शनो के कारणता विषयक मतो का स्वरूप और अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाता है। यहॉ ध्यान देने योग्य बात यह है कि दोनो दर्शनो मे कारणता सिद्धान्त की विवेचना मे मूलभूत अन्तर दो कारणो से था – (1) पाश्चात्य मे कारण–कार्य सिद्धान्त का केन्द्र व्यवहारिक जगत की व्यष्टिपरक घटनाये थी, जबकि भारतीय सन्दर्भ मे कारणता सिद्धान्त का केन्द्र सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या करना था (यानि यहॉ कारणता सिद्धान्त का केन्द्र समष्टिपरक विवेचना थी), यह अलग बात है कि इसको समझाने के लिये व्यवहारिक जगत की घटनाओ को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया गया।

(11) भारतीय दर्शन मे तत्वमीमासा ही केन्द्र मे रही और यही कारण था कि यहॉ कारणता सिद्धान्त का स्वरूप, पाश्चात्य दृष्टिकोण से भिन्न था।

अध्याय–११

उपसंहार

जगत मे जो भी परिवर्तन होता है या कोई घटना धटती है, तो सामान्य व्यक्ति इसे सहजरूप मे स्वीकार करता है और सामान्यत यह कहते हुये पाया जाता है कि इस घटना के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य है। अर्थात् कहने का आशय यह है कि सामान्य व्यक्ति भी यह नही स्वीकार करते कि कोई घटना अ–कारण घटी। परन्तु जब इस नित्य–नये होने वाले परिवर्तनो एव घटनाओ का सूक्ष्म अवलोकन व चिन्तन किया जाता है तो दार्शनिक महत्व की बाते उभरकर सामने आती है। 'परिवर्तनो एव घटनाओ पर व्यापक चिन्तन व अनुशीलन से कारणता की अवधारणा' हमारे सम्मुख उपसिथत होती है। जैसा कि हम जानते है कि कोई भी चिन्तन अपने परिवेश के आलोक मे ही मूर्तरूप लेता है और यही कारण रहा कि प्राच्य (भारतीय सन्दर्भ) एव पाश्चात्य–दोनो जगहो के कारणता–सम्बन्धी चिन्तन मे भिन्नता दृष्टिगत होती है।

प्राच्य दर्शन मे कारणता सम्बन्धी विवेचना मे यह देखा गया कि चार्वाक एव अन्य भौतिकवादी जो प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानते है और अनुमान, व्याप्ति व कारण कार्य सम्बन्ध का खण्डन करते है–के मत को हम अकारणवाद कहते है। यहॉ यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि अकारणवाद नामकरण की क्या सार्थकता है ? मेरा मानना है कि चार्वाकी द्वारा कारण–कार्य सम्बन्ध का खण्डन करने के बावजूद हेतुवादी इसलिये कहा जाता है कि ये हेतु की प्रत्यक्षमूलता पर बल देते है और प्रत्यक्षमूलक हेतुओ के अतिरिक्त अन्य हेतुओ को नही मानते है। चूँकि ये ससार मे घटने वाली घटनाओ की व्याख्या का प्रयास करते है, इसलिए इनके मत को अकारणवाद नाम दिया गया है। इस अकारणवाद के तीनो रूपो कालवाद, स्वभाववाद व आकस्मिकवाद–मे स्वभाववाद ज्यादा सतोषजनक है।

यदि चार्वाको और बौद्धो को छोडकर भातरीय दर्शन मे कारणता सिद्धान्त पर विचार करे तो एक प्रश्न केन्द्रीय रूप से हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है, वह यह है कि "क्या कार्य, उत्पत्ति–पूर्व कारण मे सत् (उपस्थित) रहता हे

अथवा असत् ?' इसी प्रश्न के समाधान मे समस्त कारणता विषयक मतो के नामकरण सम्बन्धी अर्थ छिपा हुआ है। जैसे–जो यह मानते है कि कार्य उत्पत्ति पूर्व कारण मे सत् रहता है उन्हे सत्कार्यवादी और जो यह मानते है कि रात् नही वरन् असत् रहता है, उन्हे असत्कार्यवादी कहा जाता है। यानि यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण मे किसी न किसी रूप मे उपस्थित रहता है तो सत्कार्यवादी और अनुपस्थित रहता है तो असत्कार्यवादी कहा जायेगा। स्पष्ट है, यही से **सत्कार्यवाद** और **असत्कार्यवाद** नामकरण सार्थक रूप से प्रस्तुत होता है।

जैसा कि हम जानते है न्यायदर्शन मे कार्य का स्वरूप व परिभाषा, कारण का स्वरूप परिभाषा व प्रकार, कारण व कार्य के बीच भेद का सिद्धान्त (आरम्भवाद), तथा कारण व कार्य के बीच का सम्बन्ध (समवाय)—– की प्रस्तुतीकरण सुसगतिपूर्ण दार्शनिक विश्लेषण का स्पष्ट दृष्टान्त है। वस्तुत यहॉ कारण व कार्य की विवेचना से ही 'भेद का सिद्धान्त' तर्कत परिलक्षित होने लगता है। इसीप्रकार असत्कार्यवाद की तार्किक मॉग पर समवाय सम्बन्ध की प्रस्तुति इनकी वैज्ञानिक दृष्टि का स्पष्ट परिचायक है। यह और बात है कि इनकी विचार प्रक्रिया मे कुछ कठिनाईयॉ दिखती है। फिर भी अपनी तत्वमीमासा व ज्ञानमीमासा के बीच सगति बैठाने की ये भरपूर कोशिश किये है और इसी कोशिश के निमित्त असमवायिकारण जैसी अनूठी अवधारणा को स्वीकार करते है। वास्तव मे ये अपनी चिन्तन प्रक्रिया मे वस्तुवाद को सम्बल तो प्रदान करते है, परन्तु एक निर्दोष कारणता सिद्धान्त प्रस्तुत नही कर पाते है।

किन्तु जब प्रश्न इस प्रकार किया जाय कि कुछ बातो मे कार्य अपने कारण मे उत्पत्तिपूर्व सत् (उपस्थित) रहता है और कुछ बातो मे असत् (अनुपस्थित) रहता है–तो निश्चय ही इन दोनो स्थितियो के समन्वय से यह मत सदसत्कार्यवाद कहा जायेगा। इसीप्रकार जब यह माना जाय कि कार्य के क्षण मे कारण अनुपस्थित रहता है और साथ ही यह स्वीकार भी किया जाय कि कुछ कारण था जो कार्य के लिये उत्तरदायी है– तो ऐसी स्थिति मे कारणता विषयक इस मत को असत्कारणवाद कहा जा सकता है।

जैसा कि हम जानते है सत्कार्यवाद का जोर अभिन्नता की ओर है (कारण कार्य की अभिन्नता) वही असत्कार्यवाद का जोर भिन्नता व नवीनता की ओर है किन्तु सद्सत्कार्यवाद कुछ बातो मे अभिन्नता एव कुछ बातो मे भिन्नता को स्वीकार करते है। जबकि असत्कारणवाद मे भिन्नता, अभिन्नता या नवीनता की बात सम्भव ही नही है क्योकि ऐसा कोई भी निष्कर्ष निकालने के लिये यह आवश्यक है कि–कारण व कार्य दोनो की सत्ता एक साथ एव दो क्षण से अधिक होनी चाहिये, किन्तु ऐसा स्वीकारना इस सिद्धान्त के मतावलम्बियो के लिये सम्भव नही है।

ध्यातव्य है कि सत्कार्यवाद के दो रूप परिणामवाद और विवर्तवाद है। किन्तु परिणामवाद पुन दो रूपो मे विभक्त किया जाता है जिन्हे प्रकृतिपरिणामवाद और ब्रह्मपरिणामवाद कहते है। जैसा कि हम जानते है कि परिणामवाद मे कारण व कार्य की सत्ता मे तात्विक अन्तर नही होता है, वही विवर्तवाद मे कारण व कार्य की सत्ता मे तात्विक अन्तर पाया जाता है। इन्ही बातो को ध्यान मे रखकर हमने प्रकृतिपरिणामवाद मे साख्य, योग व मध्वाचार्य को रखा तथा ब्रह्मपरिणामवाद मे रामानुज, निम्बार्क, बल्लभ और चैतन्य को रखा गया। लेकिन मेरा मानना है कि मध्वाचार्य की दार्शनिक मान्यताये (अवधारणाये) कुछ ऐसी है कि ये न तो ब्रह्मपरिणामवाद मे और न ही प्रकृतिपरिणामवाद के ढाचे मे फिट बैठते है। यह और बात है कि मै अपनी पूर्व विवेचना[1] मे मध्वाचार्य को सम्भव प्रचलित मतो मे प्रकृतिपरिणामवाद के ही अन्तर्गत रखना उचित समझा। लेकिन मेरा मानना है कि इनका दर्शन एक तरफ ब्रह्म को निमित्त कारण मानकर साख्य से भिन्न एव अन्य वैष्णव वेदान्तियो के करीब आ जाता है, किन्तु जैसे ही ये प्रकृति को उपादान कारण रूप स्वीकार करते है वैसे ही साख्य के समीप एव अन्य वैष्णव वेदान्तियो से दूर चले जाते है। साथ ही यह परिणाम के दो प्रकार को स्वीकार करता है। इनके दर्शन की

---

1 देखे सत्कार्यवाद नामक अध्याय।

इस विशिष्ट स्थिति को देखकर एक अलग मत के नामकरण की आवश्यकता महसूस होती है।

प्रश्न उठता है कि भारतीय दर्शन मे प्रचलित विभिन्न मतो मे से कौन मत व्यवहारिक जगत् की घटनाओ और परिवर्तनो की उपयुक्त व्याख्या कर पाता है ? इस प्रश्न के सदर्भ मे मेरा विचार है कि जैनी एव कुमारिल मीमासा द्वारा प्रस्तुत सदसत्कार्यवाद एक ऐसा मत है जो व्यवहारिक जगत् मे घटने वाली घटनाओ व परिवर्तनो की उपयुक्त व्याख्या दे पाता है। प्रो0 एसी0 मुखर्जी का यह कहना कि काण्ट अनुभववाद की समीक्षा बुद्धिवादी दृष्टि से और बुद्धिवाद की समीक्षा अनुभववादी दृष्टिकोण से करके मध्यम मार्गी आलोचनावाद की प्रतिष्ठा करता है, ठीक उसी प्रकार जैनी सत्कार्यवाद की आलोचना असत्कार्यवादी दृष्टिकोण से और असत्कार्यवाद की आलोचना सत्कार्यवादी दृष्टिकोण से करके मध्यममार्गी सदसत्कार्यवाद की प्रतिष्ठा करता है। इसप्रकार दोनो मतो की कमियो का जहा निराकरण होता है वही इनकी विशेषताओ का एकीकरण हो जाता है। सामान्य व्यक्ति भी सदसत्कार्यवाद जैसा ही सोचता है। कहने का आशय यह है कि जब कोई वस्तु A, वस्तु B मे परिवर्तित होती है तो A व B मे कुछ धर्म अपरिवर्तित रहते है और कुछ मे परिवर्तन हो जाता है। इसलिए सदसत्कार्यवाद व्यवहारिक दृष्टि से उचित है।

लेकिन तत्वमीमासीय ढग से चिन्तन किया जाय और जीवन व जगत् की विभिन्न दार्शनिक समस्याओ को सम्पूर्णता मे लेते हुए, कारणता की अवधारणा पर विचार किया जाय तो निश्चय ही शकर का विवर्तवाद सबसे अधिक उपयुक्त व तार्किक सिद्धान्त दिखता है। इसीप्रकार पाश्चात्य तत्वमीमासको मे ब्रेडले व टेलर का आभासवाद भी जगत् की सम्यक् व्याख्या करने मे समर्थ दिखता है।

इसी प्रकार यदि पाश्चात्य दर्शन के कारणता विषयक मतो का मूल्याकन किया जाय तो यह बात उभरकर सामने आती है कि यहॉ पर विवेचना का केन्द्र कारण व कार्य के बीच निहित सम्बन्ध ही है। कोई मत इस सम्बन्ध को सम्भाव्य मानता है और कोई अनिवार्य। वस्तुत प्राचीन दर्शन मे अरस्तू की

विवेचना कारणता को हेतु के अर्थ मे होती है, जो तत्कालीन परिवेश की उत्कृष्ट चिन्तन था। वही आधुनिक युग मे ह्यूम ने इस समस्या को लोकप्रिय बनाया और इसकी परिणति इस बात मे हुयी कि हमारे ज्ञान का एकमात्र स्रोत अनुभव नही हो सकता (काण्ट के शब्दो मे)। ह्यूम के कारणता विषयक मत पर मिल का सुधार भी उल्लेखनीय है। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य दर्शन मे काण्ट द्वारा कारणता की बुद्धि की कोटि बताना और कारण व कार्य के बीच अनिवार्य सम्बन्ध मानना एक उत्कृष्ट विवेचना है। यही कारण था कि आज भी इस प्रागनुभविक विचारधारा के समर्थक सबसे ज्यादा हे।

किन्तु समकालीन दर्शन मे प्रस्तुत आभास–सिद्धान्त (ब्रेडले, टेलर) नियमितता सिद्धान्त (बर्ट्रेन्ड रसेल), अनुलाग सिद्धान्त (ए0सी0 ईविग) और सक्रियता सिद्धान्त (लाक, बर्कले) का मूल्याकन करे तो अनुलाग सिद्धान्त ही सबसे अधिक उपयुक्त दिखता है। वास्तव मे **प्रागनुभविक दृष्टिकोण** कारणता के सन्दर्भ मे एक अच्छा व स्वीकार्य सिद्धान्त दिखता है, भले ही यह आज के समकालीन वैज्ञानिक सिद्धान्त अनिर्धारणवाद से वैषम्य व्यक्त करता हो। किन्तु ए0सी0 मुखर्जी का यह कहना ठीक ही है कि काण्ट के प्रयास व्यर्थ नही गये है और वास्तव मे अनिर्धारणवाद कारणता का निषेध नही करता है।

ध्यातव्य है कि कुछ समकालीन भाषा विश्लेषको का कहना है कि कारण सिद्धान्त न अनुभवाश्रित (एक इन्द्रियानुभविक कथन) है और न प्रागनुभवविक है, क्योकि वह एक प्रतिज्ञप्ति है ही नही, और प्रतिज्ञप्ति न होने से वह न सत्य है और न असत्य। वास्तव मे कारण सिद्धान्त की जो भी व्याख्या हमे स्वीकार्य हो, महत्व इस बात का है कि हम उसे लागू करने मे सगति बनाये रखे। साथ ही वैज्ञानिक व दार्शनिक **सर एडिगटन** के शब्दो मे "आज आवश्यकता इस बात की है कि वैज्ञानिको को भौतिक जगत की ऐसी सरचना की ओर अग्रसर होना चाहिये जिसमे कारणता का तथा क्वाटम सिद्धान्तो का सामन्जस्य हो सके।"

☆☆☆

परिशिष्ट

सन्दर्भग्रन्थ सूची

- **अंगुत्तर निकाय** (6) वाल्यूम पाली टेक्स्ट सोसायटी प्रथम सस्करण 1885–1900
- **अनुमान चिन्तामणि** गगेश उपाध्याय विरचित तत्वचिन्तामणि, रघुनाथ शिरोमणि विरचित दीधिति गर्भित, चौखम्बा सस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी – 1927
- **अथर्ववेद** · वेदसहिता सम्पा० सन्तवालेकर शर्मा 1938
- **अभिधर्म कोश** आचार्य वसुबन्धु, अनु० आचार्य नरेन्द्र देव, हिन्दुस्तान एकेडमी, उ०प्र० 1958
- **अभिधर्म भाष्य** वसुबन्धु, यशोमित्र की अभिधर्म व्याख्या, सम्पा० डी०डी० शास्त्री बौद्ध भारती, वाराणसी 1970–1973
- **अभिधम्मत्थ सगहो** - अनिरूद्ध सम्पा० बी० रेवत धम्म तथा आर०एस० त्रिपाठी, सस्कृतयुनिवर्सिटी वाराणसी, सन् 1967 (2) वाल्यूम
- **अर्थ सग्रह** श्री लौगाक्षिभास्कर, सम्पा० कामेश्वर नाथ मिश्र, चौखम्बा सुर भारती प्रकाशन वाराणसी–1983
- **आत्मतत्व विवेक** श्री उदयनाचार्य, नारायणी व्याख्या सहित, सम्पा० प० ढुण्ढीराज शास्त्री, चौखम्बा सस्कृत सस्थान, बनारस–1940
- **आप्तमीमासा** श्री समन्तभद्र मुनि, अनन्त कीर्ति ग्रन्थ माला, कलबा देवी रोड, बम्बई
- **आत्ममीमासा** दलसुख भाई, श्री जैन सस्कृति सशोध न मण्डल, बनारस – 1853
- **आलम्बन परीक्षा** दिङ नाग, अडयार लाइब्रेरी – 1942

- **आधुनिक चिन्तन में वेदान्त** डा0 महेन्द्र शेखावत, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल–1971
- **अद्वैतवेदान्त इतिहास और सिद्धान्त** प्रो0 राममूर्ति शर्मा इस्टर्न बुक लिकर्स, नई दिल्ली – 1987
- **अद्वैतवेदान्त** · डा0 अर्जुन मिश्र एव डा0 एच0एन0 मिश्र, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल – 1990
- **इष्टसिद्धि** विमुक्तात्मा सपा0 प्रो0 एम हिरियन्ना बडौदा – 1933
- **ईशावासोपनिश्रद्** गीता प्रेस, गोरखपुर
- **उपनिषदो की भूमिका** डा0 राधाकृष्णन, अनु0 रमानाथ शास्त्री राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली–1981
- **उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण** रामचन्द्र दत्तात्रेय रनाडे, अनु0 रामानन्द राजस्थान, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर – 1971
- **उद्योतकर का न्यायवार्तिक** एक अध्ययन दयाशकर शास्त्री, भारतीय प्रकाशन, चौक, कानपुर–1974
- **ऋग्वेद सहिता** · सायणाचार्य कृतभाष्य सवलित, अनु0 प0 राम गोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बा–विद्याभवन, वाराणसी–1991
- **ऐतरेयोपनिषद्** गीता प्रेस, गोरखपुर
- **कठोपनिषद्** · गीता प्रेस, गोरखपुर
- **कौषितकीय उपनिषद** गीता प्रेस, गोरखपुर
- **किरणावली** श्रीमद् उदयनाचार्य, सम्पा0 एन0सी0 वेदान्त तीर्थ, दि ऐशियाटिक सोसायटी कलकत्ता – 1956
- **खण्डनखण्डखाद्य** श्री हर्ष, अनु0 चण्डिका प्रसाद, अच्युत ग्रन्थमाला, कार्यालय–काशी सवत्–2018

- **चतु सूत्री · {ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य (चतु सूत्री)}** व्याख्या डा0 रमाकान्त त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ प्रथम स0 1975
- **चतु शतक** आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति वृति सहित, सम्पा0 बिदुशेखर भट्टाचार्य, विश्वभारती बुकशाप, कलकत्ता – 1931
- **छान्दोग्य उपनिषद** गीता प्रेस, गोरखपुर
- **जैन ज्ञानमीमासा** डा0 दरबारी लाल कोठिया, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन – 1983
- **जैन धर्म दर्शन** डा0 मोहन लाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी–1973
- **तर्कभाषा** केशव मिश्र, अनु0 आचार्य विश्वेश्वर, चौखम्बा सस्कृत सिरीज, वाराणसी – 1967
- **तर्कसग्रह** अन्नभट्ट, तर्क सग्रह दीपिका – समुपवृहित टिप्पणी – पट्टाभिराम शास्त्री चौखम्बा सस्कृत सिरीज, वाराणसी – 1969
- **तर्करहस्य दीपिका** **गुणरत्न हरिभद्र कृत षडदर्शन**, समुच्चय सहित, कलकत्ता – 1914
- **तत्वप्रदीपिका** चित्सुखमुनि – अनु0 योगीन्द्रानन्द, उदासीन सस्कृत विद्यालय, काशी – 1956
- **तत्वसग्रह** शान्तरक्षित, कमलशीलकृत पजिका सहित, बौद्ध भारती ग्रन्थमाला – 1968
- **तत्वार्थसूत्र** उमास्वाति, विवेचन कर्त्ता, सुखलाल जी सघवी, भारत जैन महामण्डल वर्धा सवत् 2041
- **तैतिरीय उपनिषद्** गीता प्रेस, गोरखपुर
- **तैतिरीय उपनिषद शाकरभाष्य** गीता प्रेस, गोरखपुर
- **तर्कशास्त्र** · विमल प्रसाद जैन, नन्द किशोर एण्ड सन्स, वाराणसी – 1964

- **दीर्घनिकाय** 3 वाल्यूम पाली टेक्स्ट सोसायटी 1890–1911
- **दर्शन और चिन्तन** प0 सुखलाल जी, प0 सुखलाल सन्मान समिति गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद 1957
- **दर्शन की मूलधाराए** डा0 अर्जुन मिश्र, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल – 1989
- **धर्म और दर्शन** देवेन्द्रमुनि शास्त्री, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा – 1967
- **धर्म शास्त्र का इतिहास** 5 वाल्यूम डा0 पाण्डुराम वामन काणे, अनु0 अर्जुन चौबे उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान, लखनऊ – 1973
- **न्याय कुसुमाजली** उदयनाचार्य बरदराज कृत बोधिनि सहित, चोखम्बा सस्कृत सिरीज, वाराणसी सवत् – 2013
- **न्याय कुसुमाजली टीका** उदयाचार्य, व्याख्या हरिदास भट्टाचार्य, अनु0 आचार्य विश्वेश्वर चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी – 1962
- **न्याय मंजरी** जयन्तभट्ट व्या0 श्री सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्बा सस्कृत सिरीज, वाराणसी – 1969
- **न्यायसूत्र** गौतम मुनि, वात्सायन भाष्य सहित, व्या0 एुढीराज शास्त्री, चौखम्बा सस्कृत सिरीज, वाराणसी 1970
- **न्यायवार्तिक** उद्योतकर – हिन्दी व्या0 एव सम्पा0 डा0 श्री निवास शास्त्री, इण्डोविजन प्राइवेट लि0 गाजियाबाद – 1987
- **न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका** वाचस्पति मिश्र, सम्पा0 प0 राजेश्वर शास्त्री द्रविड, चौखम्बा सस्कृत सस्थान, वाराणसी सवत् – 2046
- **न्यायबिन्दु** धर्मकीर्ति, सम्पा0 चन्द्रशेखर शास्त्री, चौखम्बा सस्कृत सस्थान, वाराणसी – 1954
- **नियमसा** कुन्दकुन्दाचार्य चौखम्बा सस्कृत सस्थान, वाराणसी

- **न्याय परिचय** फणिभूषण, अनु0 किशोर नाथ झा, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी – 1968
- **पातजल योग दर्शनम् – व्यास भाष्य** अनु0 स्वामी हरिहरानन्द आरण्य सम्पा0 रमा0 शकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी – 1980
- **प्रशस्तपादभाष्य** प्रशस्तपाद, श्रीधर विरचित, न्याय कन्दली सहित, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय – 1963
- **प्रश्नोपनिषद** गीता प्रेस, गोरखपुर
- **प्रमाणवार्तिक** धर्मकीर्ति, मनोरथनन्दिनी टीका सहित, बौद्ध भारतीय ग्रन्थमाला, वाराणसी – 1968
- **प्रमेय कमलमार्तण्ड** श्री प्रभाचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई – 1941
- **प्रकरण पचिका** शालिकनाथ, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी – 1961
- **पचपादिका** · पद्म पादाचार्य, सम्पा0 रामशास्त्री, विजयानगरम् सिरीज, बनारस – 1891
- **पंचपादिका विवरण** प्रकाशात्मा सम्पा0 रामशास्त्री, विजया नगरम् सिरीज, बनारस–1892
- **पचदशी** विद्यारण्य स्वामी, बुद्धि सेवाश्रम, बिजनौर सवत् 2011
- **पचास्तिकाय समयसार** कुन्दकुन्दाचार्य, चौखम्बा सस्कृत सस्थान, वाराणसी
- **प्रवचनसार** कुन्दकुन्दाचार्य, चौखम्बा सस्कृत सस्थान, वाराणसी
- **प्रतीत्यसमुत्पाद** (सम्यग्वाक्–1) सम्पा0 राधेश्यामधर द्विवेदी, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा सस्थान, सारनाथ वाराणसी – 1986
- **बृहदारण्यक् उपनिषद** गीताप्रेस, गोरखपुर
- **ब्रह्मसूत्र** बादरायण, गीताप्रेस, गोरखपुर

- **ब्रह्मसूत्र भाष्कर भाष्य** भास्कराचार्य सपा0 प0 विन्धेश्वरी प्रसाद द्विवेदी चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी – 1991
- **ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य (शारीरक भाष्य)** शकराचार्य व्या0 हनुमान दास जी, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी – 1967
- **ब्रह्मसिद्धि** सम्पा0 डा0 कुप्पु स्वामी शास्त्री, मद्रास – 1937
- **बोधिचर्यावतार** शान्तिदेव अनु0 शान्ति भिक्षुरक्षित, बुद्धिविहार, लखनऊ–1955
- **बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन** भरत सिह उपाध्याय, बगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता सवत् – 2011
- **बौद्धदर्शन मीमांसा** – बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–1947
- **बौद्ध धर्म दर्शन** . आचार्य नरेन्द्र देव, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना–1956
- **बौद्ध धर्म दर्शन के विकास का इतिहास** डा0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ0प्र0 1976
- **बौद्ध विज्ञानवाद** – चिन्तन एव योगदान सम्पा0 भिक्षु समदोड रिनपोछे, केन्द्रीय उच्च तिब्बती सस्थान सारनाथ, वाराणसी – 1983
- **बौद्ध न्याय** शेरेबात्सकी, अनु0 डा0 रामकुमार राय, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी – 1969
- **भाषापरिच्छेद** विश्वनाथ पचानन, कारिकावली सिद्धान्त मुक्तावली, दिनकरी एव रामरूद्री सहित, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, बनारस – 1951
- **भामति** वाचस्पति मिश्र, कल्पतरू सहित, निर्णय सागर प्रेस – 1938
- **भाट्ट चिन्तामणि (तर्कपाद)** महामहोपाध्याय श्री गागाभट्ट सम्पा0 प0 सूर्य नारायण शुक्ल, चौखम्बा सस्कृत सस्थान, बनारस – 1933

- **भारतीय तत्व विद्या** प0 सुखलाल सघवी, अनु0 शान्तिलाल, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद – 1960
- **भारतीय तर्क शास्त्र** शान्ति प्रसाद आत्रेय, तारा पब्लिकेशन कमच्छा, वाराणसी – 1961
- **भारतीय न्याय शास्त्र** ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, रूपनगर, दिल्ली
- **भारतीय दर्शन** डा0 राधाकृष्णन अनु0 नन्दकिशोर गोभिल, विद्यालकार, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली – 1969
- **भारतीय दर्शन** नन्दकिशोर देवराज, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ – 1992
- **भारतीय दर्शन शास्त्र, न्याय वैशेषिक** डा0 धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास बनारस–1953
- **भारतीय दर्शन की रूपरेखा** प्रो0 एम0 हिरियन्ना अनु0 डा0 गोवर्धन भट्ट, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 1973
- **भारतीय दर्शन का इतिहास** प्रो0 एस0एन0 दास गुप्ता अनु0 कलानाथ, सुधीर कुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–1989
- **भारतीय दर्शन** बलदेव उपाध्याय
- **भारतीय दर्शन की समस्याएं** डा0 नन्द किशोर शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर – 1984
- **भारतीय दार्शनिक निबन्ध** सम्पा0 डा0 डी0डी0 बदिस्टे एव डा0 रमाशकर भट्टाचार्य, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल – 1991
- **भारतीय दर्शन मे क्या जीवत है क्या मृत ?** डा0 देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय अनु0 कन्हैया, पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली – 1984

- **मज्झिम निकाय** पाली टेक्स्ट सोसायटी – 1960–64 एव हिन्दी अनुवाद सम्पा0 राहुल सासकृत्यायन एव भिक्षु धर्म रक्षित महाबोधि सभा राराय, वाराणसी – बुद्धाब्ध – 2508
- **माण्डुक्यकारिका** गौडपाद, शाकर भाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर
- **मुण्डकोपनिषद** गीताप्रेस, गोरखपुर
- **मध्यमक शास्त्रम्** नागार्जुन – आचार्य नरेन्द्र देव कृत हिन्दी भावानुवाद सहित सम्पा0 स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी – 1989
- **मानविकी परिभाषा कोष** पी0 अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, 1968
- **मानमेयोदय** नारायणद्वयीप्रणीत, व्या0 स्वामी योगीन्द्रानन्द षडदर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी – 1978
- **मीमांसा दर्शन** मडन मिश्र, अनुसन्धान विभाग, श्री भारतीय विद्यालय जयपुर – 1954
- **मनुस्मृति** चौखम्बा सस्कृत सस्थान, सवत् – 2049
- **याज्ञवल्क्य स्मृति** हिन्दी व्या उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्ब सस्कृत सस्थान, वाराणसी स0 2029
- **योगवार्तिक** विज्ञानभिक्षु, सम्पा0 श्री नारायण मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी – 1971
- **लकावतार सूत्र** सम्पा0 बी0 नानजियो बिब्लिओथिका ओरिएन्सिस – 1923
- **लोकायत** – प्राचीन भौतिकवाद का अध्ययन देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, अनु0 बृजशर्मा, मैक्मिलन कम्पनी, दिल्ली – 1982
- **विशेषावश्यक भाष्यम्** डा0 नाथमल तेतिया, रिसर्च इन्स्टीट्यूट आफ प्रकृति, जैनोलाजी, वैशाली, बिहार – 1972
- **वेदान्त पारिजात सौरभ** काशी 1932

- **विशुद्धिमग्ग** बुद्धघोस, सम्पा० धर्मानन्द कौशाम्बी, भारतीय विद्याग्रन्थावली, बम्बई
- **वैदिक देव शास्त्र – (वैदिक माइथोलॉजी)** मैक्डोनल, अनु० रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी – 1961
- **वैशेषिक सूत्र** महर्षि कणाद्, आचार्य ढुण्ढी राजशास्त्री एव श्रीनारायण मिश्र व्याख्या – चौखम्बा सस्कृत सीरीज – 1966
- **वेदान्त सार** श्री सदानन्द योगिन्द्र विवृत्ति सहित डा० कृष्णकान्त त्रिपाठी एव प्रो० किरणलता क्षत्री साहित्य भण्डार, शिक्षा साहित्य प्रकाशन – 1986
- **वेदान्त परिभाषा** धर्मराजाध्वरीन्द्र अनु० विद्यानन्दजिज्ञासु सम्पा० ब्र० लोकेशानन्द एव ब्र० उमेशानन्द ज्ञानसूत्र प्रकाशन मन्दिर नर्मदापुरम् – 1967
- **वेदान्त दर्शन** डा० पॉल डायसन अनु० सगमलाल पाण्डेय उ०प्र० हिन्दीग्रन्थ अकादमी लखनऊ–1971
- **विवेकचूडामणि** - शकराचार्य, गीताप्रेस गोरखपुर सवत् 2014
- **विवरण प्रमेय सग्रह** - विद्यारण्य स्वामी, अच्युतग्रन्थमाला, काशी सवत् 1996
- **विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि** सम्पा० तथा अनु० महेश तिवारी चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी – 1967
- **वेदार्थ संग्रह** रामानुज ग्रन्थ सग्रह, प्रकाशक अण्णङ्गाचार्य
- **श्वेताश्वेतरोपनिषद्** गीताप्रेस, गोरखपुर
- **शब्दार्थ दर्शन** वर्मा – 1968
- **शास्त्रवार्ता समुच्चय** हरिभद्रसूरि चौखम्बा ओरियटालिया, वाराणसी–1977
- **शकराचार्य** उनके मायावाद एव अन्य सिद्धान्तो का आलोचनात्मक अध्ययन, डा० राममूर्ति शर्मा, इस्टर्न बुक लिकर्य, नई दिल्ली – 1989

- **श्लोकवार्तिक** कुमारिल भट्ट, सम्पा0 द्वारका प्रसाद शास्त्री तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी – 1978
- **शास्त्रदीपिका** पार्थसारथी मिश्र व्या0 सोमनाथ कृत मयूखमलिका, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी – 1913
- **षड्दर्शन समुच्चय** · हरिभद्र सूरि – 1920
- **श्री भाष्य** · रामानुज अनु0 आचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी, श्री निम्बार्क पी0 12, प्रयाग – 2030
- **श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्** श्रीमद्वल्लभचार्य, श्रीनाथ द्वारटेपल बोर्ड, नाथद्वार, राजस्थान, सवत् 2038
- **सप्तपदार्थी** · शिवादित्य व्या0 जिनभद्र सूरि भारतीय सस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद – 1963
- **सर्वदर्शन सग्रह** श्री मन्माहवाचार्य अनु0 डा0 उमाशकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–1984
- **सन्मति प्रकरण** प0 सुखलाल जी अनु0 शान्तिलाल जैन, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद – 1963
- **सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ** - सम्पा0 द्वारका प्रसाद शर्मा, इलाहाबाद –' 21
- **साख्य कारिका** ईश्वर कृष्ण व्या0 बृज मोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिग हाऊस दिल्ली – 1985
- **साख्य दर्शनम** श्री विज्ञानभिक्षु विरचित साख्य प्रवचन भाषस्य प्रदीप" हिन्दी व्याख्योपेतम् डा0 गजानन शास्त्री, मुसलगॉवकर, चौखम्बा सस्कृत सस्थान, वाराणसी स0 2044
- **साख्य तत्व कौमुदी** - वाचस्पति मिश्र, व्याख्या, डा0 गजानन शास्त्री मुसलगॉवकर, चौखम्बा सस्कृत सस्थान, वाराणसी स0 2041

- **सांख्य सूत्र :** विज्ञान भिक्षु भाष्यान्वित सरीक तत्वसमाज सूत्र, साख्यसार समेतम् सम्पा0 रामशकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, सवत् 2022
- **संक्षेप शारीरिक – (तत्वबोधिनी टीका के साथ)** सर्व ज्ञात्ममुनि, रायल प्रिटिग वर्क्स, बनारस–1936
- **सिद्धान्त लेश सग्रह** श्रीमत् अप्पयदीक्षित अनु0 श्रीमूलशकर ब्यास, अच्युत ग्रन्थमाला काशी सवत् 2011
- **साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा** डा0 आद्या प्रसाद मिश्र, सत्यप्रकाशन बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद – 1960
- **सांख्य सिद्धान्त** . प0 उदयवीर शास्त्री, विरजानन्द वैदिक सस्थान, गाजियाबाद सवत् – 2019
- **साख्य दर्शन और विज्ञान भिक्षु** · डा0 उर्मिला चतुर्वेदी, कला प्रकाशन वाराणसी – 1981
- **साख्य दर्शन का द्वन्दात्मक भौतिकवादी विश्लेषण** डा0 सत्यवती, लोकालोक प्रकाशन, गाजियाबाद – 1986
- **साख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार** हरिशकर जोशी, चौखम्बा विद्याभवन
- **न्यायशास्त्र –** डा0 विजल्चान
- **पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास** डा0 एच0एस0 उपाध्याय
- **पाश्चात्य दर्शन का इतिहास** देवराज
- **काण्ट का दर्शन** – प्रो0 सगमलाल पाण्डेय, दर्शनपीठ, इलाहाबाद।
- **भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण** – प्रो0 सगमलाल पाण्डेय
- **भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन** – प्रो0 सी0 डी0 शर्मा
- **समकालीन भारतीय भौतिकवाद** – डा0 मृदुला आर0 प्रकाश
- **दार्शनिक चिन्तन प्रवाह** – डा0 मृदुला आर0 प्रकाश

- **काण्ट का दर्शन** – डा0 सभाजीत मिश्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान, लखनऊ
- **ग्रीक दर्शन** – डा0 सी0एल0 त्रिपाठी
- **तत्वमीमांसा एव ज्ञानमीमासा** – केदारनाथ तिवारी, मोतीलाल बनारसीदास
- **Self thought and Realıty - Prof A C. Mukharjee**
- **A Source Book ın Indıan Phılosophy** Ed Radhakııshnan and C A Moore Pııncetıon New Jeıseıy, Fıfth Ed 1973
- **A Crıtıcal Study of Samkhya Phılosophy :** V V Savanı, Patna Oııental Book Agency, 1935
- **An Introduction to Sankar's Theory of Knowledge ·** N K Devaraja Motılal Banarası Dass, Delhı, 1972
- **A History of Pre Buddhıst Indıan Phılosophy** B M Baıua, Calcutta, 1921
- **Buddhıst Phılosophy ın Indıa and ceylon ·** A B Keıth, Oxfoıd, 1923
- **Buddhıst Thought ın Indıa .** Edward canze, George Allen and Unwın Ltt London, 1962
- **The Buddhıst Phılosophy of Unıversal Fluex** S Mukheıjee, Unıversıty of Calcutta, 1935
- **The Cultural Herıtage of Indıa .** Vol I, Ed Haııdass Bhattacharya, The Ramkrıshna Mıssıon Instıtutc ol Cultuıe, Calcutta, 1969
- **The Central Conceptıon of Buddhısm and the Meaning of the Word Dharm :** Th Stcherbatsky, Royal Asıatıc Socıety,

➢ **The Central Philosophy of Buddhism** T R V Murti, George Allen and Union Ltd , London, 1960

➢ **Critique of Indian Realism** D N Shastri, Agra University, Agra, 1964

➢ **The Encyclopedia of Philosophy** Chief Editor Paul Edwards The MacMillon Company and the Free Press, New York, 1965

➢ **The Encyclopedia of Indian Philosophy** . Bibliography - Moti Lal Banarasi Dass, 1970

➢ **Encyclopedia Britannica, Micropiedia** 15th Edi Chicago - Encyclopedia Biitannica Inc , 1984

➢ **Encyclopedia of Religion and Ethics** · Ed James Hastings, New York, 1962

➢ **Future Life :** Hudson

➢ **Indian Thought** : Ed by Thibout and Ganganath Jha, 1901 Publishing House, 1965, Fifth Edi , 1982

➢ **Indian Philosophy in Modern Times** . V Brodov, Progress Publishers, Moscow, 1984

➢ **Jainism in Buddhist Literature** · Bhaskar B Jain, Alska Prakashan, Nagpur, First Edi , 1972

➢ **The Karm**-mimansa A B Keith, Association Press, 15 Russell Street, Calcutta

➢ **Karm, Causation and Retriative Morality** . Rajendra Prasad, Indian Counsil of Philosophical Research, 1989

➢ **Main Problem of Philosophy An advaita Approach** · Sushil Kumar Maitra, Calcutta Progressive Publishers, 1962

- **Mandukya Upanishad** with the Karika of Gaudpada and the Commentary of Shankar, Tr Swami Gambhiranand Advaita Ashrama, Calcutta, 1979
- **Origin and Development of Samkhya System of Thought** · Pulinbihari Chakravarty, Metropolitan Printing and Publishing House Ltd , Calcutta, 1957
- **Outlines of Jainism** · S Gopalan, Willey Eastern Private Ltd , New Delhi, 1973
- **Positive Science of Ancient Hindus .** B N Seal, Motilal Banarasi Dass, 1958
- **Philosophy of Advait :** T M P Mahadevan, Privata Limited, Madras, 1957
- **The Philosophy of Puja** · Amima Sen Gupta, Chaukhambha, Sanskrit Series Office, Varanasi, 1967
- **Shankara's Brahmavad :** Dr R S Nulakha, Ktab Ghar, Kanpur, 1974
- **The Soul Theory of the Buddhists :** Stceherbatsky, Bhartiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1976
- **Studies in Jain Philosophy** Jain Cultural Research Society Banaras
- **Studies in Ramanuja. Philosophy** S R Bhatt, Heritage Pubishers, New Delhi, 1975
- **Sacred Book of the East Series :** Ed P Maxmuller, Motilal Banarasi Dass, 1962
- **Three Lectures on the Vedant Philosophy .** Maxmuller, Chaukhamba, Sanskrit Series, Varanasi, 1967

- **The Wonder that was in Philosophy** A L Basham, Fontuna Books in Association with Rapa & Co , Calcutta, 1975
- **What is Adivaita : P** Shankara Naiayan, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1970
- **Yoga as Philosophy and Religion** S N Dasgupta, Motilal Banarasi Dass, Calcutta, Ed I, 1924, 1979
- **Yogachara Idialism** : A Chatteiji, Banaias Hindu Univeisity, 1961
- **Fundamental Questions of Philosophy** : A C Ewing, Routhledge & Kegan Paul Ltd , London
- **Kant's Metaphysic of Experience** · H J Paton, George Allen & Unwin Ltd , London
- **A Modern Introduction to Logic** L S Stebbing, Methuen & Co Ltd , London
- **Space, Time and Deity** : S Alexandei, Doui Publications, Inc , New York
- **Analysis of Mind** . Bertrand Russel, George Allen and Unwin Ltd , London
- **Causation in the Law** : Hait and Honoie, At the Clarendan Piess, Oxford, 1985
- **A System of Logic** : John Stuart Mill
- **Introduction to Philosophical Analysis** . John Haspeise
- **Berkley's Philosophical Writings** . David Aimstiong, Colliei Books, New York, 1965
- **The Problem of Knowledge** A J Ayei, London
- **The Mind and its place in Nature** · C D Broad, London, 1947

- **An Essay on Metaphysics** R G Colleng Wood, Oxfoid, 1940
- **A Treatise of Human Nature :** David Hume, Oxford
- **An Essay Concerning Human Understanding** Jhon lock, Antoni Flew, Callier book, New Yoik
- **Aristotle .** W D Ross, Methuen & Co Ltd , London
- **'Causality' :** M Bunge, Cambridge, Mars, 1959
- **"Causation and the Types of Necessity" ·** C J Ducass, Seattle, 1924
- **The Perception of Causality :** A Michotte, New Yoik, 1963
- **The Problem of Causality :** J Anderson, Austialasian Jouinal oi Philosophy, 1938
- **Caused Analysis in History :** M Mandelbaum, Journal of the Histoiy of Ideas, 1942
- **Causality in Contemporary Physics ·** M Schliek, Philosophical Studies, 1962
- **The Rise of Scientific Philosophy :** Hans, Richenbook
- **Physics and Philosophy :** Jeans James, Cambridge University Press, 1948
- **Once more on to the Beach :** Lewis White Beek
- **Metaphysics ·** A E Teyloi
- **Appearence and Reality ·** F H Biedaley